वैदिक धर्म की निरंतरता

Continuity of Vedic Religion

सम्पादक

डॉ० झिनकू यादव

प्रकाशक

राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी

वैदिक धर्म की निरंतरता

Continuity of Vedic Religion

सम्पादक

डॉ० झिनकू यादव

प्रकाशक

राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी

प्रकाशक :
राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान,
५३, महामनापुरी कालोनी,
आई०टी०आई० रोड, करौंदी,
पोस्ट - बी०एच०यू०, वाराणसी

प्रकाशन वर्ष : २००८

Price

Library	Rs. 500/-
Individual	Rs. 400/-

अक्षर संयोजन :
एड विज़न, करौंदी, वाराणसी

मुद्रक :
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

सर्वे भवन्तु सुखिनः

सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वेभद्राणि पश्यन्तु

मा कश्चित् दुखभागभ्भवेत्।।

अनया भावनया

श्रीरामचरितमानस कथाम्मर्मज्ञ

सनातनाचार्य पण्डित (डॉ०)

श्रीनाथ जी मिश्र 'व्यास'

महाभागानां करारविन्दयोः

समर्पितं एतत्पुस्तकम्।



डा० श्री नाथ मिश्र

जन्म तिथि : भाद्रपद शुक्ला १४, शनिवार, वि० संवत् १९८४

जन्म स्थान : काशी

शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से चिकित्सा शास्त्र में स्नातक एवं साहित्य में शास्त्री

पिता : स्व० पं० सरयू प्रसाद मिश्र

मंत्र दीक्षा गुरु : *अनन्त श्री विभूषित धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज*

मानस गुरु : *मानस-राजहंस, पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी*

वौशिष्ट्य *- श्रीरामचरितमानस कथा के अद्वितीय व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध। भक्तिकालीन संत कवियों एवं प्राचीन व अर्वाचीन कवियों के उद्धरणों से गुंफित कथा-शैली के प्रणेता, तुलसी-साहित्य के गहन अध्ययन और उसकी तार्किक अभिव्यक्ति में निपुण, श्रोताओं को सम्मोहित कर देनेवाली सहज-सरल भाषा, सौम्य, विनम्र, परहितकारी और आकर्षक व्यक्तित्व, श्रीराम-चरणों में अटूट निष्ठा, संत-समागम एवं तीर्थाटन में अभिरुचि तथा जनमानस में चरित्र निर्माण हेतु श्रीरामकथा के प्रचार के लिये आत्मीय समर्पण।*

सम्पादकीय

राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी, का प्रस्तुत प्रकाशन संस्था द्वारा मार्च ९ से ११, २००७ ई० में सम्पन्न हुए 'वैदिक धर्म की निरन्तरता' विषयक तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये शोध निबन्धों का संकलन है। इन प्रस्तुत किये गये शोध पत्रों में से वैदिक, औपनिषदिक, महाकाव्यों, गीता, पौराणिक एवं वैदिक धर्म की निरन्तरता से सम्बन्धित यज्ञ, हवन, देवपूजा, दर्शन, कला, आयुर्वेद, योग, शिक्षा, साहित्य, ज्योतिष, राजनीति, वैदिक परम्परा के आचार्यों आदि विविध विषयों को समाहित कर उसे आधुनिक परिवेश से जोड़ने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रकाशन में वैदिक धर्म की निरन्तरता को सनातन परम्परा से समीकृत कर उसे विश्वव्यापी बनाने का एक अल्प प्रयास है।

हमारी वैदिक परम्परा सनातनी है जिसकी देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार नित्य नूतन व्याख्या होतीं चली आ रही है। इस सनातन परम्परा का मूल बिन्दु 'ऋत' (वि०(ऋ)+क्त) अर्थात् सही, सत्य, उचित, ईमानदार, दिव्य नियम, दिव्य सच्चाई, स्थिर तथा निश्चित नियम आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-इंगलिश कोश में ऋत का अर्थ विशिष्ट गुण से लगाया है जो शाश्वत है अर्थात् निरन्तर चला आ रहा शाश्वत सत्य है। इस सम्बन्ध में हम ऋग्वेद (२/२५/७८) में उल्लिखित ऋत को ही शाश्वत सत्य के रूप में ले सकते हैं जहां आया है कि यह सारा संसार ऋत से ही उत्पन्न होता है और उसी के द्वारा नियंत्रित होता है। वैदिक परम्परा में सदाचरण से ही स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव मानी गयी है; क्योंकि सत्य ही चरित्र का श्रेष्ठतम् गुण है जिसकी स्वीकारोक्ति ताण्ड्य ब्राह्मण (१८/१२/१९- ऋतेन स्वर्गलोकं गमयति) से होती है। यहां ऋत को ही स्वर्ग प्राप्ति का साधन बताया गया है। इसीलिए ऋग्वेद में सूर्य एवं चन्द्र को सत्य का आदर्श मानकर कल्याणकारी सतपथ पर चलने की कामना की गयी है। मन में शुद्ध संकल्प तथा सत्य भावनाओं के उदय के लिए कहा गया है कि निपुण सारथी जिस प्रकार लगाम द्वारा घोड़ों को बार-बार चलने के लिए प्रेरित करता है तथा उसे नियंत्रित करता है, उसी प्रकार मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त तथा नियंत्रित करने वाला, जरारहित, अत्यन्त गतिमान मेरा मन शुद्ध संकल्प वाला हो (शुक्ल यजुर्वेद ३४/१-६ - तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु)। ऋग्वेद में भी आया है कि भगवान् हमें ऐसी प्रेरणा दो, जिससे हमारा मन कल्याण मार्ग का अनुगमन करें। मन के नियंत्रण से ही जीवन में संयम, नियम एवं मर्यादित गुणों का विकास सम्भव है। ऋग्वेद में सात प्रकार के अमर्यादित आचरणों से दूर रहने का निर्देश दिया गया है, यथा हिंसा, चोरी, व्यभिचार, जुआ, मद्यपान, असत्य भाषण, एवं पापियों का साथ। ये सभी पापमूलक प्रवृत्तियां हैं। अत: इनका परिहार अहिंसा, सत्य, आस्तेय, सदाचरण आदि सात मर्यादित आचरणों के अनुपालन से ही सम्भव माना गया

है जो इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख-समृद्धि के मूल साधन हैं। वैदिक काल के बाद छठीं शताब्दी ई० पूर्व में भगवान गौतम बुद्ध एवं भगवान महावीर ने भी अपनी शिक्षाओं में क्रमश: चार आर्य सत्य एवं अष्टांगिक मार्ग तथा पंचमहाव्रत का मूलमंत्र दिया है जो ऋग्वैदिक परम्परा के सात मर्यादिक आचरण विधि हैं। स्मृतियों में भी धर्म के जो दस लक्षण (धृति : क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिनिन्द्रिय निग्रह:। धर्विद्या सत्यमक्रोधो दसकं धर्म लक्षणम् ।) बताये गये हैं वे भी ऋग्वैदिक सात मर्यादित आचारण विधि के विस्तार हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में व्यवहार में लाये गये गुण ही धर्म माने गये हैं और वे धर्म ही ऋग्वैदिक ऋत हैं। चूंकी ऋत प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक शाश्वत सत्य है, अत: धर्म का लक्षण भी ऋत ही है और उसकी अभिव्यक्ति भी वही है। व्यवहार तथा सिद्धांत दोनों का मूल मुख्यतया ऋत में ही निहित है। इस प्रकार ऋत (शाश्वत सात्विक नियम) जो शाश्वत धर्म है, उसकी स्थापना ही वैदिक ऋषियों, महर्षियों का परम् उद्देश्य है। जब सदाचरण अथवा सत्वगुणयुक्त ऋतात्मक प्रवृत्तियों पर रज एवं तम गुण छा जाते हैं तो उसी के साथ ऋत भी तिरोहित हो जाता है। अत: तिरोहित आवरण को हटाना ही महापुरुषों का युग धर्म माना गया है, जिसका समाधान गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की पुनर्स्थापना के सन्दर्भ में किया है (यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवतिभारत, अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्)। यहां धर्म की स्थापना का तात्पर्य ऋत की स्थापना है और वह ऋत प्राकृतिक नियम अथवा शाश्वत सात्विक व्यवस्था है जो स्वयं सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड को नियंत्रित करती है। भगवान बुद्ध ने भी इसी शाश्वत सत्व को स्वयं संचालित धर्म माना है जो सभी प्रमाणों से परे अपने स्वरूप मे स्थिर स्थिति अर्थात् 'प्रत्यात्मधर्म स्थितता' है। अत: विचारक, दार्शनिक, ऋषि, महर्षि आदि इसकी स्थापना न करके उस तक पहुंचने का मार्ग बताते हैं जिसे अत्रिस्मृति में हितार्थसर्वलोकानां तथा हारीतस्मृति में 'धर्मान्वक्ष्यामिशाश्वतानि' कहकर शाश्वत धर्म के अनुपालन के लिए प्रेरित किया गया है।

ऋग्वैदिक ऋत एक निश्चित किन्तु शाश्वत् गतिशील कालचक्र है जिससे अभिप्रेरित होकर सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी ग्रह पिण्ड अपनी धुरी पर चक्रमण करते रहते हैं और इस चक्रमण की परिणति से ही वर्ष, ऋतु, मास, दिन एवं रात्रि की प्रत्यक्ष अनुभूतियां होती रहती हैं। अत: यह ऋत आकाश से पृथ्वी तक सर्वत्र व्याप्त है जिसके प्रभाव से बाहर कुछ भी नहीं है। ऋत को ही सत्य एवं ज्ञान की व्यवस्था का प्रेरक तत्व भी माना गया है जिसकी पुष्टि ऋग्वेद के दो मंत्रों से होती है, जिसमें एक स्थान पर आया है कि सूर्य भी ऋत में ही स्थित है तथा दूसरे स्थान पर आया है कि इन्द्र तथा मरुत भी ऋत की सीमा में अवस्थित हैं। इस ऋत को पाश्चात्य विद्यानों ने प्राकृतिक नियम से भी जोड़ा है। अत: प्राकृतिक तत्वों की भांति ऋत को मानव जीवन को प्रभावित करने वाली मौलिक प्रवृत्तियों का प्रेरक तत्व भी माना जा सकता है। वैदिक मान्यतानुसार जिस प्रकार ऋत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आवृत्त किए रहता है, ठीक उसी प्रकार व्रत, यज्ञ, याज्ञिक कर्म आदि सभी कार्यवृत्तियां भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आवृत्त किये रहती हैं। वेदों के पश्चात् भारतीय शास्त्रकारों ने ऋत के शाश्वत प्रेरक तत्वों (सत्य स्वरूप) के धारणा के कारण उसके प्रचलित शब्दार्थ रूप धर्म का ही प्रयोग किया है। इसी कारण परवर्ती काल में ऋत को धर्म नाम देकर उसकी व्यापक गूढ़ रहस्यात्मक शक्ति के मूल की अलग-अलग

व्याख्या की गयी है। धर्म 'धृञ्' धातु से बना व्यापक धारण अर्थ में व्यक्त अभिव्यक्ति है। अत: 'ऋत'लोकधारक साधन तथा शाश्वत शक्ति दोनों रूपों में अभिव्यक्त की गयी अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार वेदोत्तरकालीन भारतीय परम्परा में वैदिक ऋत को ही धर्म का पर्याय मान लिया गया और यही ऋत ही सम्पूर्ण मानव प्रवृत्तियों तथा अनुभूतियों का मूल कारण है। यही ऋत ही प्रकृति है, प्राकृतिक नियमों का नियमन है तथा लोक में व्याप्त लौकिक सम्बन्धों की प्रेरक शक्ति भी है। यह सर्वव्यापक, नैसर्गिक तथा दैवी शक्तियों के नियंत्रण का प्रतीक भी है। अत: ऋत ही धर्म है, वही कर्म रूप यज्ञ है तथा प्राकृति नियम एवं उन नियमों का नियमन अर्थात् अभिप्रेरक तत्व भी है। इतना ही नहीं ऋत ही नि:श्रेयश है, ब्रह्मरूप ब्रह्माण्ड है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के चराचर में व्याप्त शाश्वत तत्व भी है। यही गीता का क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ (अधिष्ठान एवं अधिष्ठाता) भी है और आत्मा एवं परमात्मा भी है जो शाश्वत सत्य रूप प्रकृति के चराचर सहित सम्पूर्ण संसार में विभिन्न रूप, रंगों में व्याप्त होकर ब्रह्माण्ड में चक्रमण कर रहा है अर्थात् सारा संसारचक्र घूम रहा है। यही ऋत की सनातनता है जिसकी नित्य नूतन व्याख्या विभिन्न रूपों में सभी वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, गीता, पुराण, धर्मसूत्र, स्मृतियों के साथ-साथ वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग, आयुर्वेद एवं श्रमण परम्परा के बौद्ध एवं जैन धर्म ग्रन्थों में निरन्तर चली आ रही है। निरन्तर नित्य नई-नई व्याख्याओं के कारण ही इसे सनातन (स नूतन: इति सनातन:) कहा गया है जो शाश्वत कालचक्र रूप सत्य था, सत्य है और आगे भी निरन्तर चक्रमण करता हुआ विद्यमान रहेगा। यही ऋत ही ज्ञान रूप प्रकाश पुंज भी है जो कभी भी समाप्त न होने वाले वाह्य एवं आभ्यन्तर तत्व के रूप में व्याप्त व्यापकता है। यही ब्रह्म है, ब्रह्माण्ड है और ब्रह्म सर्वव्यापकता है। अत: यही ऋत ही वैदिक धर्म की निरंतरता है।

प्रस्तुत प्रकाशन में सहयोग के लिए हम अपनी संस्था के सभी सदस्यों, शोध निबन्ध के लेखकों, परामर्शदात्री समिति के सदस्यों तथा अन्य सभी सहयोगियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

झिनकू यादव

विषयानुक्रमणिका
(Content)

निरन्तर प्रवाहित
वैदिक संस्कृति की अविरल गङ्गा-धारा

ठाकुर प्रसाद वर्मा*

भारतीय इतिहास के प्राचीन पृष्ठों को ऋग्वैदिक । उत्तरभवैदिक । उपनिषद् आदि कालखण्डों में विभाजित करके यह बतलाने की चेष्टा की गई कि एक के बाद दूसरे का प्रादुर्भाव हुआ और एक की संस्कृति दूसरे से पृथक थी। आज भी हमारे बड़े-बड़े संस्कृत के विद्वान तक इस अवधारणा के वशीभूत होकर जब अपनी बात कहने लगते हैं तो अचरज होता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो हिन्दू समाज में विभिन्न सामाजिक संस्कारों में आज भी वैदिक मन्त्रों का पाठ किया जाता है तथा प्रायः प्रत्येक परिवार की यही इच्छा रहती है कि सभी अनुष्ठान यथासम्भव वैदिक विधि से ही हों। ऐसे में वैदिक संस्कृति की निरंतरता का प्रश्न उठाना अवाञ्छनीय लगता है। सच तो यह है कि विगत दो सौ वर्षों में हमारे इतिहास के बारे में हमें जो कुछ भी स्कूलों में पढाया गया यह उसी का परिणाम है कि हम इस प्रकार सोचने लगे हैं। यह भी एक सच है कि वेदों के बारे में इतिहासात्मक जिज्ञासा उपनिवेशवादी तथा मिशनरी उद्देश्यों की पूर्त्ति का ही परिणाम था। जो कुछ भी हो आज हम घाटे में नहीं हैं तथां इस विषय में खुल कर चर्चा कर सकने की स्थिति में हैं। आज हमारे श्रम का एक बड़ा भाग उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा प्रस्थापित भ्रमों के निवारण में लग जाता है अतः अपनी संस्कृति की निरन्तरता की जिस चर्चा को हम सौ दो सौ साल पहले शुरू कर सकते थे और अपनी बातों को स्थापित सत्य की भाँति मनवा सकते थे अब उसके लिये मेहनत करनी पड़ रही है।

श्री दयाराम साहनी ने १९२१ ई० में पंजाब में हड़प्पा की खोज की और अगले ही साल १९२२ ई० में श्री राखाल दास बैनर्जी ने सिन्ध के मोहेनजोदारो में भी उसी प्राचीन सभ्यता के अवशेष खोजे तो भारतीय सभ्यता की प्राचीनता तीन हजार ईसा पूर्व तक चली गई जिसने हमें पश्चिम एशिया तथा मिस्र की सभ्यताओं के समकक्ष पहुँचा दिया। इससे वेदों की संस्कृति को १२०० ई०पू० के बाद का सिद्ध करने के लिए प्रतिबद्ध यूरोपीय इतिहासकारों में खलबली मच गई। इससे पहले पहला झटका उन्हें तब लगा था जब १९०७ में ईराक के बोगाजकोय नामक स्थल से मिट्टी के मुहरों पर लिखा एक सन्धिपत्र मिला जो मितन्नी आर्य शासकों के साथ वहाँ के हित्ती आर्य शासकों नें लगभग १४०० ई०पू० में किया था जिसमें इन्द्र । वरुण । नासत्य चअश्विनीकुमारोंफ आदि के उल्लेख थे। अपनी इण्डोभयूरोपियन भाषा के मिथकीय सिद्धान्त का सहारा लेकर उन्होंने इतिहास की धारा बदलते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मितन्नी और हित्ती आदि आर्यजन मध्यएशिया से पहले ईराक गए फिर उनकी दूसरी धारा ने भारत पर आक्रमण किया। तत्पश्चात् नवउद्घाटित सिन्धुघाटी की सभ्यता के विषय में उन्होंने यह चाल चली कि वैदिक आर्यों ने जब भारत पर आक्रमण किया उसी दौरान इस सभ्यता को नष्ट कर दिया।[१] एक तीर से दो निशाने साधे। एक तो यह कि वैदिक सभ्यता की उनकी दी गई तिथि की पुष्टि

---

*३९७-अ, गंगा प्रदूषण नियंत्रण मार्ग, भगवानपुर, वाराणसी-२२१००५

हो गई और दूसरे आर्य बाहर से आये थे और उन्होंने यहाँ के स्थानीय लोगों को परास्त करके शासन किया यह भी सुनिश्चित हो गया। इसके पीछे प्रयोजन यह था कि आर्यों के बाद यवन। शकभपह्लव। कुषाण आदि ने हिन्दुस्तान की इस कमजोर धरती को बार बार जीता और शासन किया। बाद में मुसलामान भी आये और राज्य किया तथा अब ईसाई या अंग्रेजों की बारी है। यहाँ कोई मूल निवासी था ही नहीं और यदि थे तो जंगली लोग थे जिन्हें आदिवासी बता दिया गया और आर्यों ने उन्हें जंगलों में रहने के लिए बाध्य किया। कुछ ने तो आर्यभद्रविड का काल्पनिक वितण्डा खड़ा करके हमें लडाने के बीज बोये।

लेकिन झुठ की खेती बहुत दिनों तक नहीं चलती। अपनी शोषण और दबदबे की नीति के बल पर यूरोपियों ने जो आर्य आक्रमण की इमारत खड़ी की थी वह ढह गई। अब संसार में शायद ही कोई आर्य आक्रमण के सिद्धान्त का पोषण करता मिले। उन्होंने सिन्धु नदी घाटी की सभ्यता को नागर सभ्यता कहकर वैदिक आर्यों को गाँव का गँवार। अपढ़ और बर्बर बताया। भारत के बारे में उनकी घृणा का पता इस बात से लगता है कि आजादी के बाद यूनेस्को द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ मैनकाइण्ड' में लियोनार्ड वूली आर्यों को बर्बर लिखने पर अड़ गए थे। भारतीय सदस्य डा० रमेशचन्द्र मजुमदार जी के विरोध करने पर अर्धभबर्बर मानने को तैयार हुए। विगत दो शताब्दियों में अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा एशिया की अनेक सभ्यताओं और राष्ट्रों का विनाश और शोषण करने में बर्बरता की सभी सीमाएं पार कर जाने वाले इन यूरोपीय बर्बरों को इतिहास के अनेक जनों को बर्बर कहने में शर्म नहीं आती। लेकिन अब उनका तिलिस्म टूट चुका और सैन्धव सभ्यता अब सरस्वतीभ सिन्धु सभ्यता के नाम से पुनर्प्रतिष्ठित होकर वैदिक सभ्यता से अभिन्न मानी जाने लगी है।

वैदिक सभ्यता ही सरस्वती सिन्धु सभ्यता है

वैदिक और सरस्वतीभसिन्धु सभ्यताएं अभिन्न हैं यह भौगोलिक। कालक्रम सम्बन्धी परत्परता तथा सांस्कृतिक निरन्तरता, तीनों ही कसौटियों पर कसने से सिद्ध हो जाता है। दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से लगभग एक ही क्षेत्र में फैली हुई मिलती हैं जिसे सरस्वती नदी की घाटी कहा जाता है। कालक्रम की दृष्टि से भी दोनों एक दूसरे को आच्छादित करती हैं। कालान्तर में सरस्वती घाटी के निवासियों को पर्यावरणीय एवं भूभभौतिक परिवर्तनों के कारण उस क्षेत्र से इधर उधर होना पड़ा क्योंकि सरस्वती नदी, जो वैदिक ऋषियों के समय एक वेगवती विशाल नदी थी, सूखने लग गई थी। लेकिन इसके निवासी नष्ट नहीं हुए थे वरन् अपनी सभ्यता को अभी भी बनाए हुए हैं। यह बात अवश्य है कि समय के प्रवाह में कुछ परिवर्तन भी आये हैं किन्तु वैदिक संस्कृति की गङ्गाधारा आज भी वही है। यह इस बात से समझा जा सकता है कि जो गङ्गा गोमुख से निकल कर गङ्गासागर तक जाती है उसमें स्थान के अनुसार अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं किन्तु गङ्गा वहीं की वहीं बनी रहती है। परिवर्तन ही जीवन है तथा स्थैर्य मृत्यु। यह सांस्कृतिक निरन्तरता ही इस लघु लेख का विषय है।

इस विषय पर अनेक विद्वानों ने काम किये हैं जिनमें श्री बी० बी० लाल की पुस्तक 'सरस्वती फ्लोज आन'[२] प्रमुख है। इसके अतिरिक्त डा० शिवाजी सिंह,[३] डा० स्वराज्य प्रकाश गुप्त[४] तथा श्री भ गवान सिंह[५] ने भी इस विषय पर काफी काम किया है जिनकी कृतियों से सहायता ली गई है। यहाँ पर सरस्वती सिन्धु सभ्यता से कतिपय सांस्कृतिक लक्षणों को लिया गया है और उनकी तुलना आज के भारतीय समाज में प्रचलित प्रथाओं। रीति-रिवाजों से की गई है जिससे यह बोध होता है कि वही समाज आज भी चला आ रहा है जो अब से पाँच हजार साल पहले था।

आवासीय घर

भारतीय घर जो आज भी प्रचलन में हैं उन्हें चतुस्साल कहा जाता है। इनमें बीच में आंगन तथा उसके तीन ओर कोठरियाँ और एक ओर प्रवेशद्वार होता है। गाँवों में आज भी इस प्रकार के घर मिल जायेंगे। बड़े लागों के मकान तो एक ही नहीं कई खण्डों में बने मिलते हैं। बौद्ध बिहारों को भी इसी शैली का बनाया जाता था। कालीबंगन नामक शहर अब सूख गई सरस्वती नदी के बाँए तट पर स्थित था जो अब राजस्थान के हनुमानगढ़ जिले में पड़ता है। श्री लाल बताते हैं कि सरस्वती-सिन्धु सभ्यता में जहाँ धनी लोगों के बड़े घर मिलते हैं वहीं गरीब लोगों के एक कमरे वाले बरामदे युक्त मकान भी मिलते हैं। लेकिन मध्यमवर्गीय किसानों के मकान विशिष्ट प्रकार के एक ही प्रतिमान के होते थे। इनमें एक बड़े आँगन के तीन ओर कोठरियाँ बनी होती थीं और चौथी ओर सड़क पर खुलने वाला चौड़ा प्रवेशद्वार होता था जिसमें से होकर बैलगाड़ी तथा मवेशी आंगन तक जा सकते थेष और कई बैलगाड़ियाँ खड़ी की जा सकती थीं। अन्दर गाय-बैलों को खिलाने के लिये नाद की चरनी बनी होती थी जिनमें में पकी मिट्टी की नाद लगी होती थी। आंगन के ही एक भाग में खाना बनाने के चूल्हे आदि बने होते थे। आंगन में ही कुआँ भी होता था। प्रवेशद्वार पर दोनों ओर छोटे चबूतरे बने होते थे जिन पर घर के लोग अथवा अन्य व्यक्ति बैठ कर हुक्का पीते और चर्चा करते थे। ऐसा चबूतरा अभी भी गाँवों में अनेक घरों में दरवाजे पर मिल जाता है। यहाँ फर्श बनाने का भी एक अनूठा तरीका प्रचलन में था। खूब पकी मिट्टी के ठीकरों को जमीन पर फैला कर बीच में काठकोयला भर देते थे जिसके ऊपर मिट्टी की फर्श बनाई जाती थी। इससे एक तो दीमकों से रक्षा हो जाती थी तथा दूसरी ओर नीचे से आने वाले खारे पानी को रोकता था जिससे दीवालों का क्षरण नहीं होता था। यह कालीबंगन के निवासियों का अपना आविष्कार था।[६]

खेल खिलौने

झुनझुने, सीटी, फिरकिनी, वर्तन के टुकडों से बनाए गए गिट्टी (गिब्भी) का खेल। जिसमें एक के ऊपर एक तीन चार गिट्टियाँ रख कर खेला जाता था। ये खेल तब से आज तक प्रचलन में हैं। इन्हें कुछ स्थानों पर गिट्टी तथा पिट्ठू भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त मिट्टी के चहरे भी मिले हैं जिन्हें बच्चे लगाते थे। हिलने वाले अंगों से युक्त बैल, रस्सी पर चलने वाले बन्दर आदि भी मिट्टी के खिलौनों में शामिल थे। युवक शतरंज के खेल से मनोरंजन करते थे क्योंकि इसके पकी मिट्टी के पाँसे मिले हैं। यह तो सभी मानते हैं कि शतरंज का आविष्कार भारत में हुआ लेकिन यह हड़प्पा काल से चला आ रहा है यह उल्लेखनीय है। यही नहीं मिट्टी का बना चिड़िया का पिंजरा भी मिला है। ये लोग अपने कुत्तों के गले में पट्टा भी बाधते थे जिसे आज आधुनिक युग की देन समझा जाता है।

श्रृंगार

महिलायें अनेक प्रकार के श्रृंगार करती थीं। इसमे केशभसज्जा के लिए कंघी का प्रयोग शामिंल है। संसार की अन्य सभ्यताओं में भी कंघी का प्रयोग मिलता है किन्तु दोनों ओर दाँते वाले कंघे केवल हड़प्पा सभ्यता में मोहेनजोदारो से मिले हैं और उल्लेखनीय बात यह है कि इनका प्रचलन आज भी भारतीय महिलायें करती हैं। इस कंघी में एक ओर महीन दाँते होते हैं तो दूसरी ओर मोटे। हारके लिए गोल आकार के चकरी जैसे चाँदी की गले में पहनी जाने वाली हुमेल (हार) कुनाल नामक स्थल से मिली है तो सोने की ऐसी ही हुमेल लोथल से मिली है। मोहेनजोदारो से सिर पर जूड़े के ऊपर पहनी जाने वाली नोकीली चौक मिली है जिसको राजस्थान और हरियाना में विवाहिता स्त्रियाँ अभी भी पहनती हैं।

इन क्षेत्रों में आज भी गरीब और धनी, सभी वर्ग के लोगो में विवाह के बाद अनिवार्य रूप से ससुर द्वारा बहू को चौक दिये जाने का प्रचलन है। यही नहीं विवाहिता नारियों के लिये अनिवार्य माना जाने वाला सिन्दूर भी उस समय से ही प्रचलन में है। पाकिस्तान के नौशारो और मेहरगढ से ऐसी मिट्टी की मूर्त्तियाँ मिली हैं जिनके मांग में सिन्दूर भरा हुआ दिखाया गया है।[७] आज भी हिन्दू नारियाँ अपनी माँग में सिन्दूर भरती हैं जो उनके सुहागन होने का चिह्न माना जाता है। सरस्वतीभसैन्धव सभ्यता अथवा यह कहें कि वैदिक संस्कृति के निरन्तरता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

आज अनेक व्यक्तियों के गले में धागे से लटकती ताँबे अथवा पीतल की दँतखोदनी और कनखोदनी दिखाई पड़ जायेगी। हमें हैरानी नहीं होगी यदि किसी हड़प्पावासी के गले में भी ताँबे की बनी ऐसी ही चीज मोचने अथवा चिमटी के साथ मिल जाय। इस सभ्यता के लोग भी धातु की अंजनभ शलाका। नहरनी और धातु के चमकते हुए दर्पण के उपयोग के भी आदी थे।[८]

आज की सौभाग्यवती नारियों द्वारा पहनी जाने वाली चूड़ियाँ भी हडप्पा सभ्यता की महिलाओं को अधिक प्रिय थीं। ये चूड़ियाँ भर कलाई ही नहीं भर बाँह पहनी जाती थीं। गुजरात क्षेत्र में अभी भी इनका प्रचलन है। एक दूसरे से जुड़ी हुई वर्तुल चूड़ियाँ कुहनी के ऊपर पूरी बाँह को ढके होती है। मोहेनजोदारो की प्रसिद्ध नर्तकी की मूर्त्ति ऐसी ही चूड़ी पहने है। कुनाल से चाँदी की वर्तुल चूड़ी मिली है।[९] कमरपेटी या करधनी। पायल तथा अन्य अनेक गहने पहने हुये मिट्टी की अनेक नारी मूर्त्तियाँ मिली हैं। आर० एस० बिष्ट ने तो ढोलावीरा से एक कसौटी पत्थर भी प्राप्त किया है जिस पर सोने की कसावटों के चिह्न अभी भी देखे जा सकते हैं। अतः सोने के आभूषणों के बनाने तथा उपयोग की परम्परा ही नहीं उसके खरेभखोटे होने की जाँच की शैली भी आज तक वही चली आ रही है। यह भी वैदिक हरप्पा (हरियूपीया से)[१०] वासियों की सामाजिक निरन्तरता का एक प्रमाण है।

घरेलू उपकरण एवं गृह प्रबन्धन

घर गृहस्थी के साजसज्जा की वैदिक परम्परा भी हड़प्पा काल से अब तक लगभग अपरिवर्त्तित चली आ रही है। मिट्टी और ताँबे के बने तवे। हाँड़ी। थाली। लोटा आदि के आकार तक बिना परिवर्तन के अभी तक चले आ रहे हैं।[११] हाँड़ी या बटुलाभबटुली का यह आकार पकाने की दृष्टि से इतनी वैज्ञानिक है कि हाकिन्स प्रेशर कुकर बनानेवाले इस शकल को हाँडी नाम देकर अपना अद्यतन या चरम-नूतन कहकर बेच रहे हैं।

बच्चों को दूध पिलाने के लिए टोंटी युक्त पकी मिट्टी का एक प्याला सबसे रोचक है। कालीबंगन से मिले इस उदाहरण की टोंटी पर तो गाय का एक चेहरा भी बना है।[१२]

आलमगीरपुर नामक हरप्पीय स्थल से पकी मिट्टी की तीन पैरों वाला गोलाकार चकला या पाटा मिला है जिस पर रोटी बेली जाती थी। सम्भव है उस समय भी आज की भाँति पत्थर और लकड़ी के चकलों का भी प्रयोग होता रहा हो। रोटी बनाने के लिए आज के पंजाब और हरियाणा की भाँति तन्दूर का प्रचलन अब से ४८०० वर्ष पूर्व हो चुका था जो कालीबंगन से मिला है। खाना बनाने की लकड़ी काटने की धातु की कुल्हाड़ी आज की कुल्हाड़ी के आकार की ही होती थी। एक लकड़ी के खिलौने से यह भी पता चलता है कि इसमें लकड़ी की बेंट किस प्रकार लगाते थे। मिट्टी खोदने का फावड़ा भी बिलकुल उसी आकार का मिला है जैसे आज।[१३]

प्रो० लाल साहब सबसे अधिक महत्व कालीबंगन की अपनी उस खोदाई को देते हैं जिसमें उन्होंने बड़ी सावधानी पूर्वक खेत के जुते हुए अंश को उद्घाटित कर लिया था। वास्तव में यह भारतीय पुरातात्विक उत्खनन तकनीकी का एक गौरवशाली उदाहरण है। २८०० ई०पू० के इस नमूने में दो प्रकार की हराईयों या हल जोतने के चिह्न, जिसे संस्कृत मे सीता कहा जाता है। मिले हैं। एक उत्तर से दक्षिण दिशा में तथा दूसरा पूर्व से पश्चिम दिशा में। वास्तव में यह हराई या सीता नहीं वरन् कूंड है जो खेत को जोतने के बाद बुवाई के लिए बनाई जाती थी। उत्तरभदक्षिण वाली कूंड़ १.९ मीटर की दूरी पर बनाई गई थी। जब कि पूरबभपश्चिम वाली कूंड़ें ३० सेन्टीमीटर की दूरी पर थीं। सरसों और चना बोने के लिए इसी पद्धति से कूंड़ें पंजाब और हरियाना में किसान अभी भी बनाते हैं। यह एक बहुत वैज्ञानिक पद्धति थी जिसका आविष्कार आज से कम से कम पाँच हजार साल पहले भारतीय किसानो नें कर लिया था। श्री लाल साहब का कहना है कि कर्क रेखा के उत्तर में स्थित होने के कारण इस क्षेत्र में सूर्य की किरणें दोनों फसलों को बराबर मिलती रहें इस दृष्टि से यह पद्धति अपनाई गई थी।[१४]

हलों के खिलौने के नमूने मिट्टी के बने होने के कारण हरप्पा और मोहेनजोदारो से प्रायः टूटी अवस्था में मिले हैं लेकिन सौभाग्य से बनावली (हरियाना) से एक पूरा नमूना मिल गया है जो ठकि वैसा ही है जैसा आज पंजाब, हरियाना और राजस्थान के किसान प्रयोग में लाते हैं। इसमें हल की जोत या हरसा घुमावदार और नुकीली फाल लगी होती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के हल इस अर्थ में भिन्न हैं कि वहाँ पर हल की हरिस लम्बी और सीधी होती है।[१५]

अन्न को कूटने आदि की वही विधियाँ आज तक प्रचलन में हैं यद्यपि बिजली और मशीनीकरण ने आदमी को अधिक से अधिक सुविधाएं प्रदान कर दी हैं। और वह पुराने तरीकों को छोड़ता जा रहा है। हरप्पा में गढ़ी के उत्तर में अनाजों की खत्ती और कामगारों के आवासों के बीच के स्थल में कई खड़ंजे वाले गोलाकार चबूतरे वने हैं जिनमें बीच में गढा है। अनुमान किया जाता है कि इन गढों में लकड़ी की बनी ओखलियाँ लगी रही होंगी जो अब नष्ट हो गई हैं। इन चबूतरों पर खड़े हो कर दो मजदूर पहरुए से अनाज कूटते रहे होंगे। इन गढों में भूसा के टुकड़े और अन्न की भूसी मिली है जिससे इस अनुमान की पुष्टि होती है।[१६] यह अचरज की बात है कि यहाँ पर बड़े पैमाने पर अनाज के साफ करने तथा भण्डारण की बड़ी ही वैज्ञानिक व्यवस्था थी जिससे भण्डारगृह में वायु का संचरण भी होता रहे और अनाज सुरक्षित भी बना रहे।

जलभप्रबन्धन

घरेलू जल प्रवन्धन के विषय में पहले कुछ प्रसंग आ गया है किन्तु कृषि कार्यों के लिए और भी अनेक उपाय अपनाये गए थे जिनमें से अनेक आज भी उपयोग में हैं। कुंए प्रायः पक्के बनाए जाते थे तथा जगत की गोलाई वनाने के लिये वर्तमान की तरह सूजापट्टी की ईटें इस्तेमाल में लाई जाती थीं जो एक ओर चौड़ी तथा दूसरी ओर पतली होती थीं। एक ऐसा ही कुंआ कालीबंगन में मिला है जो अबसे कमसे कम पाँच हजार वर्ष पुराना होगा। ढोलावीरा में पत्थर का एक पक्का कुंआ मिला है जिसपर रस्सी से जल खींचने के निशान अभी भी देखे जा सकते हैं। सार्वजनिक या सिंचाई वाले कुंओं की ऊंची जगत के पास मिट्टी पाट कर बनाया गया एक ढाल मिला है जिसका उपयोग बैलों द्वारा मोट खींचने में किया जाता था। यह पद्धति आज भी उत्तरी भारत के अनेक स्थानों में इस्तेमाल की जा रही है।[१७]

यातायात तथा परिवहन

सैन्धवभसारस्वत सभ्यता में प्रयुक्त भूभयातायात के साधन वैदिक काल से अबतक बिना किसी विशेष परिवर्तन के चले आ रहे हैं। वही बैलगाड़ी तथा रथ। जो आज के इक्के से मिलते जुलते हैं। उस समय भी प्रयोग में आते थे। लकड़ी की बनी बैलगाड़ी तो अब खुदाई में मिलनी असम्भव है लेकिन उसका मिट्टी के खिलौने के रूप में बना नमूना अवश्य प्राप्त हुआ है जो आधुनिक सिन्धी बैलगाड़ी के समान है। लेकिन उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ह्वीलर को हरप्पा की खुदाई में जमीन पर बैलगाड़ी की लीक मिली है जिसकी प्राचीनता इस बात से सिद्ध होती है कि वहाँ प्राप्त श्मसान 'एच' इसका परवर्त्ती है। कुल छः लीकें पहचानी गई हैं। दो चक्कों की परस्पर दूरी १.०८ मीटर है और आश्चर्य की बात यह है कि आधुनिक सिन्धी बैलगाड़ियाँ आज भी इसी नाप की बनाई जाती हैं। प्रो० लाल लिखते हैं कि यदि कोई हरप्पा के प्रमाण को पर्याप्त न माने तो उसे यह बता देना पड़ेगा कि इस प्रकार की लीकें बनावली में भी मिली हैं।[१८]

जहाँ तक रथों की बात है तो माधव स्वरूप वत्स को हरप्पा से ताँबे का एक रथ का नमूना मिला है जो आज के इक्के से मिलता जुलता है। वास्तव में यह तो पुरातात्विक उत्खनन की बात है जो संयोगवश मिल जाता है, वही प्रमाण बनता है। लेकिन। समस्त वैदिक साहित्य। पुराण तथा रामायण। महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थ रथों की चर्चा से इतने भरे पड़े हैं कि रथ को भारतीय जीवन शैली का अविभाज्य पक्ष मानना पड़ेगा। भारतीय रथ और घोड़े को मितन्नी और हित्ती समुदायों द्वारा पश्चिम एशिया के क्षेत्रों में प्रचलित किया गया जिनकी मांग मिस्र के शासकों के बीच भी रही। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। यूरोपीय विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि ईराक की सभ्यता में रथ का प्रचलन इन्हीं इण्डोभआर्यन जातियों ने किया था तथा हमारे शोध यह संकेत करते हैं कि वे भारत से गये। प्रो० राम शरण शर्माजी जैसे कुछ विद्वानों नें यह बताने का प्रयास किया है इस सभ्यता में ठोस पहिए मिले हैं न कि अरा युक्त। लेकिन अरे यानी तीलियों युक्त चक्के के कई प्रमाण मिले हैं।

जल परिवहन में नौका का प्रचलन वैदिक साहित्य में अनेकत्र आता है। मोहेनजोदारो का दुवारा उत्खनन करने वाले मैके को एक बेलनाकार मुद्रा मिली जिस पर एक नौका के केन्द्रीय कक्ष का अंकन किया हुआ है। लेकिन मैके ने इसे नदी में चलने वाली नाव माना है क्योंकि इसमे मस्तूल नहीं दिखाई दे रहा था। जब श्री एस० आर० राव ने लोथल में संसार के प्राचीनतम तथा विशालतम और आधुनिक तकनीकी से युक्त बन्दरगाह खोज निकाला तथा सुदूर देशों से समुद्री व्यापार की चर्चा की तो ऋग्वेद में उल्लिखित भुज्यु की समुद्र यात्रा की याद दिलाने लगा। वास्तव में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक सौ सोलहवाँ सूक्त समुद्र यात्रा का विवरण है जिसमें तुग्र का पुत्र भुज्यु सेना सहित युद्ध नौका पर सवार होकर शत्रुओं पर अभियान करता है लेकिन एक तूफान में फँस जाने के कारण तीन रात और तीन दिन उसे सागर में बिताने पड़ते हैं। तब नासत्यों ने उसे बचाया। यहाँ पर (I.116.5) सौ पतवारों वाली नौका का तो उल्लेख है ही किन्तु जिस यान्त्रिक नौका से उसे बचाया गया उसके बारे में अनुवादक यह मानते हैं कि वे उसे समझ नहीं पा रहे हैं। यहाँ पर (I.116.4) जिन बातों का उल्लेख है वे हैं 'छः अश्वों द्वारा परिचालित सौ चक्कों से युक्त तीन शीघ्रगामी रथ'। इसे अनुवादकों ने भूमि पर चलने वाले रथ मान कर इसके तात्पर्य को न समझने की बात कही है।[१९] प्रश्न यह है कि क्या तीन दिन और तीन रात की दूरी पर समुद्र में पहियों वाले रथ चल सकते हैं जो छः अश्वों से चालित हों और उनसे किसी डूबती हुई सेना को बचाया जा सकता है। उत्तर पाठक पर छोड़ देते हैं।

धर्म और सामाजिक सरोकारः

धर्म और सामाजिक सरोकार कुछ ऐसे विषय हैं जो किसी संस्कृति की पहचान होते हैं तथा जिनको लोग पीढियाँ दर पीढियाँ चलाते रहते हैं। इसमें सुप्रसिद्ध पशुपति आकृति वाली मुहर को सबसे पहले गिनाया जाता है। योगासन मुद्रा में एक ऊँचे आसन पर बैठे व्यक्ति के सिर पर तीन नोकों वाला मुकुट है जिसको कुछ विद्वानों ने सींग कहा है। लेकिन ऐसा लगता है कि यह देवत्व का चिह्न था जो अन्य अनेक मुहरों पर भी मिलता है और यही आगे चल कर नन्दिपद बना जो आहत सिक्कों आदि पर मिलता है। यह आकृति ऊर्ध्वलिङ्ग दिखाई गई है तथा उसे अनेक पशु उसे घेरे हुए हैं जिनमें हाथी। गैंडा। बाघ। हिरन आदि शामिल हैं। इस आकृति की एक विशेषता यह भी है कि इसके तीन ओर मुख हैं। इसकी पहचान शिव से की जाती है। शिव पूजा का एक और प्रमाण कालीबंगन से प्राप्त हुआ है जो 'मिट्टी के एक अरघे पर रखा शिवलिङ्ग' है।[२०]

हरप्पा से एक अन्य मिट्टी मुहर पर जो दृष्य अंकित है वह और भी महत्वपूर्ण लगता है। इसमें यौगिक आसन में बैठी एक आकृति के सामने एक खड़ी आकृति अपना बाँया पैर एक महिष के सिर पर रखे हुए उसके सींग को बाँए हाथ से पकड़ कर दाहिने हाथ से शूल द्वारा उसका वध कर रही है। कुछ लोग इसे पूजा के लिये बलि का दृष्य मानते हैं। लेकिन ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है कि यह एक नारी आकृति है जिसका स्तन बाँया हाथ बढ़ा कर सींग पकड़े होने के कारण दिखाया नहीं जा सका है लेकिन उठे हुए दाँये हाथ के पीछे उसका जूड़ा साफ दिखाई पड़ रहा है। यदि ऐसा है तो यह शिव और महिषमर्दिनी दुर्गा का दृष्य हो सकता है।[२१]

शिव पूजा के अतिरिक्त कुछ स्थलों से यज्ञ की वेदी और यज्ञकुण्ड भी मिले हैं। कालीबंगन में लाल साहब ने सात ऐसी यज्ञ वेदियाँ खोजी हैं जो एक साथ बनी हैं। यज्ञकुण्ड भी हरप्पा के अतिरिक्त कालीबंगन, बनावली, राखीगढी और लोथल आदि स्थलों से भी मिले हैं।

इस सभ्यता में पीपल और शमी के वृक्षों तथा पत्तों आदि से युक्त अनेक मुहरें मिली हैं जिनका उल्लेख ऋग्वेदादि में कई बार हुआ है। शमी के वृक्ष में अग्नि का वास माना जाता था तथा अग्नि उत्पन्न करने के लिए शमी की डाल को पीपल की डाल से रगड़ा जाता था। उर्वशीभपुरूरवा की प्रेमभकथा के प्रसंग में जब उर्वशी उसे छोड़ कर चली जाती है तब पुरूरवा ने गंधर्व बनने के प्रयास में एक यज्ञ करना चाहा जिसके लिए गंधर्वों ने अग्नि दी। मार्ग में वह उस थाली मे रखी आग को रख कर गाँव में चला गया जहाँ से लौटने पर पाया कि अग्नि अश्वत्थ बन गई है तथा थाली शमी। बाद में उसे इनकी डालों के घार्षण से पुनः यक्ष के लिए अग्नि की प्राप्ति हो सकी। यह कथा शमी और पीपल के धार्मिक महत्व को दर्शाती है।[२२]

स्वस्तिक चिह्न जो मोहेनजोदारो से मिला है आज तक धार्मिक महत्व का बना हुआ है और हिन्दू अभी भी अपने घारों के द्वार पर तथा शादी विवाह में मंगल चिह्न के रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

ऊपर हमने योगी शिव के मुहरों के विषय में देखा लेकिन आज से पाँच हजार वर्षों पूर्व भी योग के आसन प्रचलित थे इसकी जानकारी हरप्पा तथा मोहेनजोदारो की खुदाइयों से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्तियों से होती है जो कई यौगिक आसनों में बनाई गई हैं।

यही नहीं उस समय आज की ही भाँति हाथ जोड़ कर नमस्ते करने की प्रथा थी इसकी भी पुष्टि हाथ जोड़ कर बैठी कुछ मूर्त्तियों से हो जाती है।

लेखन कला

अब समापन करते हैं लेखनकला की चर्चा से। यूरोपीय अन्धविश्वासियों ने जिद के साथ लोगों के मन में यह धारणा बद्धमूल करने का प्रयास किया कि ऋग्वेदिक आर्य पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे और वेद गड़ेरियों के गीत हैं। उनमें से कई ने वेदों का अनुवाद भी किया और संस्कृत साहित्य का अवगाहन भी किया। सर विलियम जोन्स[३१] ने संस्कृत को 'अद्भुत संरचनावाली'। 'ग्रीक से अधिक परिशुद्ध' तथा 'लैटिन से अधिक विपुल' बताया था लेकिन वैदिक आर्यों के माथे से निरक्षरता का कलंक दूर नहीं हो सका जैसा कि हम लियोनार्ड वूली के जिक्र में कह आये हैं कि इसी आधार पर यूनेस्को के प्रकाशन में आर्य अर्धभबर्बर और गँवार अथवा गैरशहरी कहे गये। हरप्पा सभ्यता में लेखनकला का प्रचलन था यह लेखयुक्त मुहरों से स्पष्ट हो गया था। ऋग्वैदिक लोग अनपढ़ भेड़ चराने वाले नहीं थे यह भी हम जानते हैं। लिखने पढ़ने की यह अटूट परम्परा आज तक चली आ रही है। जैसी लकड़ी की तख्ती पर हम बचपन में खड़िया मिट्टी के घोल से लिखते थे वैसी ही मिट्टी की पटिया मोहेनजोदारो से मिली है। इसमें एक सिरे पर मूठ बनी है तथा रस्सी से लटकाने के लिए इस मूठ में एक छेद भी है। यह पटिया परिपक्व हरप्पा काल की है। ऐसी ही एक पटिया पर लिखते हुए एक बालक का चित्र यमुनानगर से मिट्टी के फलक पर अंकित मिला है जो तीसरी शताब्दी ईसापूर्व का है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि पूर्व मध्यकाल में अनेक ताम्रभपत्र अभिलेख इसी आकार के ताम्रपट्ट पर प्राप्त हुए हैं। मौखरि ईशानवर्मा का देवकली प्राप्त ताम्रपत्र भी इसी आकार का है। इसका एक मात्र निष्कर्ष यह है कि लकड़ी की लिखने वाली वैसी ही तख्ती हरप्पा काल से लेकर मौर्य काल तथा पूर्वमध्यकाल होते हुए बीसवीं शताब्दी के भारत तक निरन्तरता के साथ चली आ रही है।

यहाँ निरन्तरता को दर्शाने वाली और भी बहुत सी वातें हैं लेकिन विस्तार भय से उनका उल्लेख छोड़ दिया जा रहा है। सरस्वती नदी की सभ्यता ही वैदिक सभ्यता थी इस बात से इनकार करने का अव कोई सशक्त आधार नही है। अतः जहाँ हम वैदिक साहित्यि के आधार पर अपने को अवतक वैदिक ऋषियों की सन्तान मानकर गर्व की अनुभूति करते रहे हैं वहीं अब पुरातात्विक आधार भी मिल जाने से कह सकते हैं कि अब तक जो कुछ भी इतिहास के रूप में हमें पढ़ाया जाता रहा वह झूठ था। आइये वैदिक ऋषि के साथ हम भी यह घोषणा करें कि 'हे विश्व के लोगो_सुनो। हम अमृत के पुत्र इसी दिव्य धरती के हैं' : "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः" ऋग्वेद २.१७.५

सन्दर्भ

१. दे० जान मार्शल, ए० एच० ह्वीलर तथा आर्य समस्या पर लिखी गई सैकडों पुस्तकें तथा हजारों लेख जिनके विशेष सन्दर्भ की आवश्यकता नहीं है।

२. बी० बी० लाल, सरस्वती फ्लोज आन, नई दिल्ली, २००२, आगे के अधिकांश उद्धरण इसी पुस्तक से लिये गये हैं।

३. ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती सिन्धु सभ्यता, वाराणसी, २००४।

४. द इण्डसभसरस्वती सिविलाइजेशन, दिल्ली, १९९६।

५ हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, नई दिल्ली, १९८७/९७।

६. लाल, पूर्वोक्त, पृ० ९५।

७. लाल, वही, पृ० ८३ और आगे।

८. वही, पृ० ८८।

९. वही, पृ० ८६।

१०. यहाँ हम बहु प्रचलित शब्द हडप्पा न लिख कर हरप्पा लिखना अधिक पसन्द करते क्योंकि इस स्थल का संस्कृत नाम हरियूपीया है। मोहेनजोदारो से एक साल पहले खोजे जाने के कारण पुरातात्विक परम्परा के अनुसार इस सभ्यता को हरप्पा सभ्यता भी कहा जाता है।

११. वही पृ० ९७।

१२. वही पृ० ९६।

१३. वही पृ० ९५-९६।

१४. वही पृ० ९८भ १००।

१५. वही पृ० १०१।

१६. वही पृ० १०२।

१७. वही पृ० १०२भ ०३।

१८. वही पृ० १०७।

१९. देखिये, ऋग्वेद संहिता : प्रथम खण्ड, १९९७, पृ० २८७, रवि प्रकाश आर्य और के० एल० जोशी के आंग्रेजी अनुवाद जो एच० एच० विल्सन तथा सायण पर आधारित है।

२०. लाल, वही पृ० १०७।

२१. चित्र के लिए देखिए लाल, पृ० ११९, चित्र सं० ४.५६।

२२. देखिये, शिवाजी सिंह, पूर्वोक्त पृ० ४९।

२३. जोनस, सर विलियम, एशियाटिक रिसर्चेज, १७८८।

✷

'ऋत' की सनातनता

झिनकू यादव*

प्राचीन भारतीय समाज में चारित्रिक श्रेष्ठता के लिए ही शील, संयम, सदाचार एवं मर्यादित जीवन को अति आवश्यक बताया गया है। वैदिक काल से भारतीय मनीषियों ने व्यक्तिगत चारित्रिक श्रेष्ठता को ही राष्ट्र की चारित्रिक श्रेष्ठता स्वीकार कर इसे प्रथम प्राथमिकता प्रदान की है जिसके लिए समय-समय पर अनेकों विधि-विधान भी निर्मित किये हैं। प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद[१] में ब्रह्महत्या मदिरापान, चोरी, गुरुपत्नी गमन एवं पापाचार को निषिद्ध कर्म माना गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद[२] के एक अन्य मंत्र में भी वरुण देव की स्तुति में कहा गया है कि हे वरुण देव! यह पापाचार मेरा संकल्प नहीं था। मदिरा, क्रोध तथा व्यसनों का सेवन विचार हीनता है, हमें पितरों के पाप से मुक्त करो।' श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ जनों की आज्ञा का पालन आचार श्रेष्ठता का गुण माना गया है जिसे लक्ष्य मान कर ऋग्वेद[३] में उल्लिखित किया गया है कि जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार यजमान अग्नि का आदेश मानता है। ऋग्वेद[४] के एक अन्य मंत्र में आचारवान एवं यशस्वी पुत्र की कामना के लिए कहा गया है कि 'हे अग्नि! मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो जो सत्य का पालन करने वाला हो, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला तथा अपने वंश का यश बढ़ाने वाला हो। सत्य मार्ग पर चलने तथा सत्यनिष्ठ होने के लिए यजुर्वेद[५] में आया है कि 'मैं असत्य (अनाचार) से पृथक रहकर सत्य (सदाचार) की तरफ प्रवृत्त होऊं।' यजुर्वेद[६] में अन्यत्र भी पाप को दूर जाने अर्थात् पापात्मक (अनाचार मूलक) प्रवृत्तियों से दूर रहने की कामना की गयी है। अत: स्पष्ट होता है कि वैदिक काल से ही सत्य एवं सदाचार युक्त जीवन को मान कर उसी के अनुशरण को श्रेष्ठ मार्ग माना गया है। इसी सत्य के पर्याय रूप ऋत-सिद्धांत को ही वैदिक आर्यों ने सत्यनिष्ठ, नैतिक एवं अनुशासनबद्ध जीवन स्वीकार किया गया है जो लौकिक एवं पारलौकिक सुख-समृद्धि का मूलाधार माना गया है।

'ऋत' पर विचार करने से पूर्व हमें इसके अर्थ की व्याख्या पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। ऋत[७] [वि०] ऋ + क्त अर्थात् सही, सत्य, उचित, ईमानदार, सच्चा प्रष्ठिान, दिव्यनियम, पवित्र स्वभाव वाला, दिव्य सच्चाई, स्थिर अथवा निश्चित नियम आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। मोनियर विलियम्स ने 'ऋत' का अर्थ शाश्वत विशिष्ट गुण है अर्थात् निरंतर चला आ रहा शाश्वत सत्य बताया है।[८] इस संबन्ध में हम ऋग्वेद के ऋत को शाश्वत सत्य के रूप में ले सकते हैं जहाँ उल्लिखित है कि 'ऋत से ही यह सारा संसार उत्पन्न होता है और उसी के द्वारा नियंत्रित होता है।[९] वैदिक परम्परानुसार सत्य के पालन अर्थात् सदाचरण से ही स्वर्ग की प्राप्ति संभव मानी गयी है, क्योंकि सत्य ही चरित्र का श्रेष्ठतम गुण है। ताण्ड्य ब्राह्मण[१०] में भी इसी बात की स्वीकारोक्ति में आया है कि ऋत (सत्य, शाश्वत सत्य) से ही

*निदेशक, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी (उ०प्र०)

स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि ऋग्वेद[११] में सूर्य, चंद्र को सत्य का आदर्श मानकर कल्याणकारी सत् पथ पर चलने की कामना की गयी है।

मन की संशुद्धि को ही सत् पथ पर चलने का प्रेरक तत्व बताया गया है। वैदिक आर्यों ने मन को सम्पूर्ण कार्य-व्यवसायों का अधिष्ठान माना है। देवताओं से लेकर मनुष्यों तक सभी ने मन के अस्तित्व एवं उसके प्रभुत्व की सत्ता स्वीकार की है। मन में शुद्ध संकल्प तथा पवित्र (सत्य) भावनाओं के उदय के लिए कहा गया है कि 'निपुण अर्थात् योग्य सारथी जिस प्रकार लगाम द्वारा घोड़ों को बार-बार चलने के लिए प्रेरित करता है तथा उन्हें नियंत्रित करता है, उसी प्रकार मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त तथा नियंत्रित करने वाला, जरा-रहित अत्यंत गतिमान मेरा मन शुद्ध तथा पवित्र संकल्प वाला हो (तन्मेमन: - शिव संकल्पमस्तु)।[१२] ऋग्वेद में आगे उल्लिखित है कि 'भगवन! हमें ऐसी प्रेरणा दो जिससे हमारा मन कल्याण मार्ग का अनुगमन करे।[१३] मन के नियंत्रण से ही जीवन में संयम, नियम आदि मर्यादित गुणों का विकास संभव माना गया है। यम, नियम, संयम एवं मर्यादा को ही भारतीय संस्कृति की आचार पद्धति का मूल मंत्र माना गया है। वैदिक काल से ही मर्यादित एवं अमर्यादित आचरणों में भेद स्थापित कर मर्यादित आचरणों के पालन तथा अमर्यादित आचरणों से दूर रहने का निर्देश भी दिया गया है। इसी संदर्भ में ऋग्वेद[१४] में जिन सात प्रकार के अमर्यादित आचरणों से दूर रहने का निर्देश दिया गया है, वे हैं - हिंसा, चोरी, व्यभिचार, जुआ, मद्यपान, असत्य भाषण एवं पापियों का साथ। ये सभी पापमूलक हैं। अत: इनका परिहार अहिंसा, सत्य, आस्तेय, सदाचारण आदि सात मर्यादित आचारणों के अनुपालन से ही संभव माना गया है जो सुख एवं समृद्धि के साथ-साथ पारलौकिक सुख अर्थात् स्वर्ग अथवा मोक्ष सिद्धि का प्रमुख साधन था। आगे चलकर छठीं शताब्दी ई०पू० में भगवान गौतम बुद्ध एवं भगवान महावीर ने भी अपनी शिक्षाओं में क्रमश: चार आर्य सत्य एवं अष्टांगिक मार्ग (बौद्ध धर्म) और पंचमहाव्रत (जैन धर्म का मूल मंत्र) को ऋग्वैदिक सात मर्यादित आरण विधि को ही अपने-अपने धर्म का मूल आचरित नियम मान कर उसी पर चलने की शिक्षा दी है। स्मृतियों में भी जो दस धर्म के लक्षण बताये गये हैं। वे ही ऋग्वेद के सात मर्यादित आचरणों के विस्तार हैं, यथा - धृति: क्षमादमोऽस्तेयंशौचमिनिन्द्रिय निग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दसकं धर्म लक्षलम्।' इस प्रकार व्यवहार में लाये गये गुण ही धर्म हैं और वह धर्म ही ऋग्वेदिक ऋत है। चूंकि ऋत प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक शाश्वत सत्य है। अत: धर्म का लक्षण भी ऋत ही है और उसकी अभिव्यक्ति भी। व्यवहार तथा चारित्रिक गुण (सदाचार) दोनों का मूल मुख्यतया ऋत में ही निहित है। इस प्रकार ऋत (शाश्वत सात्विक नियम) जो शाश्वत धर्म है, उसकी स्थापना ही ऋषियों, महर्षियों एवं महापुरुषों का उद्देश्य रहा है। जब सदाचरण अथवा सत्त्वगुण युक्त ऋतात्मक प्रवृत्तियों पर रज एवं तम गुण छा जाते हैं अथवा प्रभावशाली हो कर उसे ढंक लेते हैं तो उसी के साथ ऋत भी तिरोहित हो जाता है। अत: इस तिरोहित आवरण को हटाना ही महापुरुषों का युग धर्म माना गया है जिसका समाधान गीता में भगवान कृष्ण ने धर्म की पुनस्थापना के संदर्भ में कहा है, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।" अर्थात् जब-जब समाज, देश अथवा राष्ट्र में धर्म की हानि होती है अथवा सत्त्व (प्रकाश) पर तम (अन्धकार युक्त आवरण) छा जाता है तो मैं पृथ्वी पर अवतरित होकर दुष्टों (दुष्टप्रवृत्तियों अथवा तम) का नाश कर सज्जनों, साधु-सन्तों एवं सदाचरण का पालन करने (सत् गुण युक्त) वालों का उद्धार कर पुन: धर्म (शाश्वत्

सात्त्विकगुण अर्थात् ऋत) की स्थापना करता हूँ। इस सम्बन्ध में हमें ड्राउन[१५] के विचार समीचीन लगते हैं जिनको माना है कि आदिम काल में प्रत्येक चीजें व्यवस्थित ढंग से चली आ रही थी। प्रत्येक देवता अपना निश्चित शाश्वत सत्त्व कार्य करता चला आ रहा था। उसमें निरंतरता एवं प्राकृतिक सत्त्व (सद्गुण) की ही मूल प्रवृत्ति थी। अत: यही प्राकृतिक नियम एवं शाश्वत् सात्त्विक व्यवस्था ही ऋत है। इस संबंध में जिमर[१६] की स्थापना है कि ऋत में सृष्टि रचना की प्रक्रिया के साथ वे तत्त्व भी समाहित हैं जिसको आधार मानकर (गुण धर्म अथवा सदाचारण) हर व्यक्ति समाज से अपना संबंध स्थापित करता है। भगवान बुद्ध ने भी इस शाश्वत सत्त्व को स्वयं सञ्चालित धर्म माना है जो सभी प्रमाणों से परे अपने रूप में स्थिर स्थिति अर्थात् 'प्रत्यात्मधर्मस्थिता'[१७] है। अत: विचारक दार्शनिक (ऋषि, महर्षि अथवा महापुरुष) इसकी स्थापना कर उस तक पहुँचने का मार्ग बताते हैं। अत्रिस्मृति में 'हितार्थ सर्व लोकानाम्[१८] तथा हारीत स्मृति में 'धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्'[१९] कह कर राजा को उन शाश्वत धर्म (स्वधर्म) के अनुपालन के लिए प्रजा को प्रेरित करना बताया गया है। स्मृतिकारों ने इसे राजा का धर्म माना है।

ऋग्वेद[२०] में एक स्थान पर आया है कि ऋत चक्र (शाश्वत नियम, विधि अथवा सत्त्व भाव अर्थात् प्राकृतिक सत्य) अपने बारह तिल्लियों के साथ आकाश में घूमता रहता है, जिसमें हे अग्नि! सात सौ बीस पुत्र युग्म रूप में निवास करते हैं। यहाँ सात सौ बीस युग्म को अलग-अलग करने पर तीन सौ साठ दिन की बारह तिल्लियों अर्थात् बारह मास की संकल्पना है जो एक वर्ष का सूचक है। ऋग्वेद[२१] में एक अन्य स्थान पर ऋत की तीन नाभियों का वर्णन है जिसे तीन ऋतुओं (एक वर्ष अर्थात् बारह मास में तीन ऋतुएं) से समीकृत किया गया जान पड़ता है। पुन: इसी ऋग्वेद के वर्णन में आया है कि ऊषा ऋत के मार्ग का अनुगमन करती हुई नित्य गमन करती है तथा कभी मार्गच्युत नहीं होती।[२२] ऋत का मार्ग उर्ध्वाकाश में है जहाँ गंधर्व गमन करते हैं।[२३] यहाँ वरुण का कथन है कि मैंने ऋत के क्षेत्र में आकाश को स्थित किया है।[२४] ऋत के गर्भस्थ होकर ही सूर्य आकाश तथा पृथ्वी को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है।[२५] बी०एम० आप्टे ने 'ऋत' शब्द के 'ऋ' का अर्थ जाना तथा 'त' का अर्थ समुचित रूप से गया हुआ माना है,[२६] जिससे 'ऋत' का अर्थ निर्धारित मार्ग पर गमन से लगाया जा सकता है। अत: यह मानना होगा कि आकाश मार्ग में (ब्रह्माण्ड में) सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी ग्रह एक निश्चित परिधि में निर्धारित मार्ग पर चलते हुए वर्ष, बारह मास, तीन ऋतुएं तथा दिन एवं रात्रि का निर्माण करते हैं।[२७] यहां ऋग्वेद में ऋत चक्र का अपनी बारह तिल्लियों के साथ आकाश में घूमने का तात्पर्य वर्ष के बारह मास से लगाया गया है तथा सात सौ बीस युग्म पुत्र के निवास का तात्पर्य एक वर्ष अर्थात् बारह मास के सात सौ बीस पुत्र युग्म अर्थात् तीन सौ साठ दिन एवं तीन सौ साठ रात्रि से लगाया गया है। इसी प्रकार ऋत की तीन नाभियों का तात्पर्य तीन ऋतुओं से लगाया गया है। इस प्रकार की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि 'ऋत' एक निश्चित किन्तु शाश्वत गतिशील काल चक्र है जिससे अभिप्रेरित होकर सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी ग्रह पिण्ड अपनी धुरी पर चक्रमण करते रहते हैं जिससे वर्ष, मास, ऋतुएं तथा रात्रि एवं दिन होने की प्रत्यक्ष अनुभूति होती रहती है। अत: यह ऋत आकाश से पृथ्वी तक सर्वत्र व्याप्त है। अत: इसका प्रभाव पृथ्वी के जीव जन्तुओं पर भी पड़ता रहता है जिससे उनके रहन-सहन एवं विचार भी प्रभावित होते रहते हैं। ज्योतिष शास्त्र की सत्यता को आधुनिक विज्ञान भी मानता है जिसके आधार पर ब्रह्माण्ड में सूर्य, चंद्र, शनि, बृहस्पति, मंगल, शुक्र

आदि ग्रहों का प्रभाव पृथ्वी के सभी प्राणियों के विचारों पर पड़ता है और सभी प्राणी उसी से प्रभावित होते हैं। ये प्रभावित विचार ही विद्या (ज्ञान) है जिसका संकेत हमें ऋग्वेद[२८] में उल्लिखित मित्र एवं वरुण की ऋत से ही प्रभावित शक्ति से प्राप्त होता है, जहाँ यह आया है कि मित्र एवं वरुण की शक्ति भी ऋत से ही है जिससे वे ज्ञान तथा व्यवस्था का सञ्चालन करते हैं। अत: ऋत को सत्य एवं ज्ञान की व्यवस्था का प्रेरक तत्त्व भी माना जा सकता है। इस संदर्भ की पुष्टि ऋग्वेद के मंत्रों से होती है जिसमें एक स्थान पर आया है कि सूर्य भी ऋत में ही स्थित है[२९] तथा दूसरे स्थान पर उल्लिखित है कि इन्द्र तथा मरुत भी ऋत की सीमा में ही अवस्थित है।[३०] इसकी व्याख्या में आधुनिक पाश्चात्य चिंतक वेरोल्झीमर[३१] ने भी माना है कि 'ऋत की अवधारणा एक ही ब्रह्माण्ड के समायोजित सिद्धांत की ओर संकेत करती है जो पृथ्वी पिण्ड पर अवस्थित प्राणियों के जीवन का नियमन करने वाली दैवी शक्ति है। साथ-साथ वह ऋत ही सूर्य, चंद्र, वर्ष, मास, ऋतु एवं दिन-रात्रि का नियमन करती हुई सभी अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत नियमों का विधान करती है। उन्हीं के अनुसार 'यह ऋत ही नदियों में प्रवाह का सञ्चालन, पृथ्वी की उर्वराशक्ति का वर्धन, मनुष्योपयोगी पशुओं का संरक्षण, विवाह, राज्य तथा परिवार संस्था के पितृसत्तात्मक व्यवस्था में समाविष्ट होकर स्वकृत कर्मों के परिणाम का दायित्व भी ग्रहण करती है। अत: ऋग्वेद में संदर्भित ऋत ही सम्पूर्ण प्राकृतिक एवं मानवीय मूल प्रवृत्तियों की प्रेरक शक्ति है जो सभी शाश्वत नियमों का नियमन भी है। इसकी तुलना बेरोल्झीमर ने विश्व प्रकृति का नियामक तत्व रोमन विधान के 'रेशिओ (Ratio-ratum) तथा मिश्र के 'री' (Re) से की है। यहां उन्होंने इसे ऋत की भांति नेचुरलिस रेशिओ (Naturalis Ratio) माना है।[३२]

प्रकृतिक तत्त्वों की भांति ऋत को मानव जीवन को प्रभावित करने वाली मौलिक प्रवृत्तियों का भी प्रेरक तत्त्व माना जा सकता है। आगे चलकर ऋत के समानार्थी व्रत, क्रतु धाम, स्वधा तथा धर्म आदि शब्दों का भी व्यवहार देखने को मिलता है।[३३] कुछ व्याख्याकारों ने व्रत का अर्थ आवृत्त करने से लगाया है। अत: जिस प्रकार ऋत समस्त ब्रह्माण्ड को आवृत्त किये रहता है, ठीक उसी प्रकार यह व्रत अर्थात् शाश्वत विधि अथवा नियम भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर उसमें स्थित है।[३४] इसी प्रकार ऋत को यज्ञ (कर्म, गमन कर्म अथवा प्रज्ञा) भी माना गया है जिसका स्पष्टीकरण ऋग्वेद[३५] पर सायण के भाष्य तथा श्रीमद्भगवद्गीता[३६] से भी हो जाता है जिसमें आया है कि कर्म ही यज्ञ है और याज्ञिक कर्म से मेघ उत्पन्न होकर वर्षा करते हैं जिससे उतपन्न अन्न ही प्राणियों के शरीर को आवृत्त कर उसे पुष्ट करता है। अत: ऋत की भांति यज्ञ भी ब्रह्माण्ड की तरह सम्पूर्ण प्राणियों को आवृत्त कर उसे गतिमान बनाए रखता है। गीता में ऋत की चेतना को ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त प्रकाश माना है। अत: वह स्वयं प्रकाशमान होने के कारण विष्णु धाम स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ऋत को तेजोमय आवास माना गया है जहां प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि के बीज का वपन किया।[३७] ऋत को स्वधा भी माना गया है जो ऋत की भांति विधि विधान अथवा सदाचार की स्यवं स्फूर्त शक्ति स्वरूप[३८] शाश्वत परंपरा है। 'अत: स्वधा भी स्वत: आत्म स्थित स्वशक्ति रूप विधान[३९] अथवा शाश्वत शक्ति रूप तेजोमय नियम है जो ऋत का दूसरा नाम है। इस प्रकार ऋत ही व्रत, यज्ञ (कर्म रूप) एवं स्वधा भी है जो समस्त देवों, पितरों, प्राणिजगत तथा ब्रह्माण्ड से लेकर पृथ्वी लोक तक में व्याप्त अंतर्निहित दिव्य प्रकाश युक्त शक्ति है जो प्रवृत्तियों की प्रेरक अव्यक्त विधि है

और व्यक्त रूप प्राणि जगत की सञ्चरण शक्ति है जो आवृत्त रूप धारण करने से धर्म भी है, जिसकी व्याख्या भारतीय संस्कृति में निम्नवत मानी गयी है।

उत्तर वैदिक परंपरा में धारणाओं (ऋत रूप सच्ची शाश्वत् विचारधारा) के धारण से ही धर्म को ऋत का पर्याय मान लिया गया। अत: वेदों के पश्चात् भारतीय शास्त्रकारों ने ऋत के शाश्वत प्रेरक तत्त्वों (सत्य स्वरूप) के धारण के कारण उसके प्रचलित शब्दार्थ रूप 'धर्म' का ही प्रयोग किया। इसी कारण परवर्ती काल में 'ऋत' को 'धर्म' नाम देकर उसकी व्यापक गूढ़ रहस्यात्मक शक्ति के मूल बिंदु की अलग-अलग व्याख्या की गयी है। धर्म 'धृञ्' धातु से बना व्यापक धारणा अर्थ में व्यक्त अभिव्यक्ति है।[४०] अत: ऋत लोक धारक साधन तथा शाश्वत् शक्ति दोनों रूपों में अभिव्यक्त की गयी है। इस व्यापक व्याप्तता में सम्पूर्ण लोक को लिया गया है। ऋग्वेद[४२] में उल्लिखित 'धर्मन्' शब्द जिसकी व्याख्या निरुक्त ने धारणाय अविच्छेदनाय[४३] अर्थात् जो अविच्छिन्त (अविरल, सतत या निरंतर अथवा शाश्वत) रूप में धारण किया जाने वाला तत्त्व है,वही धर्म है। अमरकोश[४४] में भी धर्म का अर्थ विश्व-व्यापकता अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद[४५] में धर्म का तात्पर्य सदाचरणों द्वारा प्राप्त पुण्य माना गया है। संस्कृत-हिन्दी कोश में वामन शिव राम आप्टे[४६] ने धर्म का अर्थ यज्ञ से लगाया है। श्रीमद्भगवद्गीता[४७] में यज्ञ को सृष्टि के साथ ही ब्रह्मा द्वारा व्युत्पन्न शाश्वत तत्त्व माना गया है जो देवताओं की संतुष्टि के लिए लौकिक प्राणियों द्वारा किया गया समस्त शाश्वत सत् कृत्य है। आगे यज्ञ की उत्पत्ति आदान-प्रदान रूप कर्म से ही जोड़ी गयी है जिसकी (कर्म की) उत्पत्ति वेद रूप ब्रह्म से हुई बतायी गयी है। इसी यज्ञ से ही मेघ उत्पन्न होकर जल की वृष्टि करते हैं जिससे अन्न पैदा होता है और वही अन्न प्राणियों को धारण कर अथवा आवृत्त कर उसे जीवन देता है और उसके शरीर को पुष्ट करता है जिससे वह पुन: यज्ञ अर्थात् कर्म करता है।[४८] ऊपर ऋग्वेद के मंत्र १/१४३/७ पर सायण के भाष्य का उल्लेख करते हुये बताया गया है कि ऋग्वेद का 'ऋत' ही 'यज्ञ' है। चूंकि यज्ञ समस्त क्रिया एवं क्रियाओं का अभिप्रेरक शाश्वत तत्त्व है जो 'ऋत' का ही समानार्थी है और यज्ञ ही धर्म रूप धारक एवं धारण की गयी धारणा है। अत: 'ऋत' को ही वेदोत्तर कालीन व्याख्याकारों ने 'धर्म' नाम देकर उसकी व्यापक व्याप्तता की व्याख्या की है, जो देश, काल, जाति एवं सम्प्रदाय से ऊपर समस्त लोक की शाश्वत सत्य रूप व्यापकता है। इस प्रकार धर्म समस्त प्राणि जगत का उत्थान करने वाला तत्त्व है।[४९] अत: 'ऋत' की भांति 'धर्म' की भी व्याख्या में बताया गया है कि सत् आचरणों अथवा नियमों, विचारों अथवा शाश्वत सत् धारणाओं का धारण कर्म यज्ञ ही धर्म है जो समस्त लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण कारक तत्त्व है।

लौकिक एवं पारलौकिक कल्याणकारक तत्त्व के रूप में ही भगवान बुद्ध ने भी जिस धर्म का उपदेश दिया था वह धर्म आदि कल्याणकारी, मध्यकल्याणकारी तथा अन्त कल्याणकारी तत्त्व था।[५०] जैन आचार्य समंतभद्र[५१] ने भी बताया है कि 'जो संसार के दुखों से बचाकर जीव को उत्तम सुख प्राप्त कराये वही धर्म है।' मनुस्मृति[५२] में भी स्रुति एवं स्मृति में विहित सत् आचरणों के अनुपालन को ही धर्म बताया गया है जिससे मनुष्य इस लोक में यज्ञ तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है। आगे इसी मनुस्मृति[५३] में ही उल्लिखित है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य, सभी स्मृतियां, सत् पुरुषों के आचार (जो शाश्वत सत् स्वरूप आचरित नियम हैं) और निर्मल बुद्धि अथवा आत्मतत्त्व को संतुष्ट करने वाले (प्रसन्न करने वाले) आचरित नियम अथवा कर्म

(यज्ञ स्वरूप) हैं वही धर्म के चार साक्षात् लक्षण है। अत: जिस प्रकार ऋत की परिधि से बाहर कोई सद् वस्तु नहीं है उसी प्रकार धर्म की परिधि से भी बाहर कोई वस्तु नहीं है। वेदोत्तर कालीन भारतीय परंपरा में 'ऋत' को ही धर्म का पर्याय मान लिया गया। 'ऋत' ही सम्पूर्ण प्रवृत्तियों एवं अनुभूतियों का मूल कारण है। वही प्रकृति है, प्राकृतिक नियमों का नियमन है तथा लोक में व्याप्त लौकिक सम्बन्धों की प्रेरक शक्ति भी है। वह सर्वव्यापक नैसर्गिक तथा दैवी शक्तियों के नियंत्रण का प्रतीक[५४] भी है। अत: 'ऋत' ही धर्म है, वही कर्म रूप प्राकृतिक नियम एवं उन नियमों (दैवी) का नियमन भी है वही अभिप्रेरक तत्त्व (अथवा शक्ति) के साथ साथ नि:श्रेयश भी है। नि:श्रेयश की प्राप्ति दैवी गुणों से युक्त आचरणों के धारण अथवा उसके अनुपालन से ही संभव मानी गयी है। दैवी आचरण वाले मानव मन के गुणों की विवेचना श्रीमद्‌भगवद्‌गीता[५५] में दैवी एवं आसुरी प्रवृत्तियों की विशद् व्याख्या की गयी है जिसमें आया है कि दैवी प्रवृत्ति वाले मानव मन के गुण हैं-अभय, सत्त्व संशुद्धि (अंत:करण की निर्मलता), ज्ञानयोग व्यवस्थिति, दान, दम (इंद्रियों पर विजय) यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जन (अंतर्मन की निष्कपटता), अहिंसा (मनसा, वाचा, कर्मणा), सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शांति, पर निंदा न करना, दया, लोभ न करना, कोमल व्यवंहार, तेज, क्षमाशील, धर्म, शौच, किसी से शत्रुता न रखना, अभिमान न करना आदि। इन्हीं मानव मन के दैवी गुणों से ही नि:श्रेयश की प्राप्ति होती हैं और यही नि:श्रेयश गुण युक्त मार्ग ही सन्मार्ग है। अर्थात् नि:श्रेयश ही सत्य है और यही सत्य ही वैदिक ऋत है, जिसकी व्याख्या में मुण्डकोपनिषद्[५६] में आया है कि 'सत्यमेव जयति नानृतम्', अर्थात् सत्य की ही जय होती है जो परम निधान है, अनृत अर्थात् झूठ (अथवा आसुरी प्रवृत्तियों) की नहीं। यही सत्य ही धर्म है और असत्य (आवृत्त अर्थात् अनृत) ही अधर्म है। अत: वैदिक ऋत ही आज का सन्मार्ग सनातन धर्म है[५७] जिसकी नित्य नूतन-व्याख्या ही वैदिक धर्म की शाश्वत सत्य रूप निरंतरता है जो आदिम प्राकृतिक युग से आज तक निरंतर चला आ रहा है और आगे भी निरंतर शाश्वत् सत्य रूप काल चक्र (धर्म चक्र अर्थात् भूत, वर्तमान एवं भविष्य) के रूप में चलता रहेगा। वैदिक परम्परा में सृष्टि संचालन की गति को बिना किसी अन्य दूसरी गति को खण्डित किये गतिमान बनाए रखने वाला शाश्वत सत्य ही 'ऋत' है। वही धर्म का प्रेरक रूप प्रकाश है जो ज्ञान अथवा विद्या रूप ऋत के माध्यम से समस्त लोकों को निरंतर शाश्वत सत्य रूप में गतिमान बनाए रखता है।

श्रीमद्भगद्गीता[५८] में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सम्पूर्ण जगत की विभिन्न रूप-रंगों में रचना करती है और इस हेतु से ही सारा संसार चक्र घूम रहा है।' इसी गीता[५९] में ही एक अन्य स्थान पर यह भी आया है कि यह काल चक्र रूप परब्रह्म सभी ओर हाथ-पैर वाला, नेत्र, सिर, मुख एवं कान वाला, संसार में सबको अनादि एवं अनंत रूप में व्याप्त कर व्यापित है। जैन आगम ग्रंथ भगवती सूत्र[६०] में भी उल्लिखित है कि दृष्य एवं अदृष्य, स्थाई एवं अस्थायी सभी तत्व किसी न किसी रूप में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से सम्बद्ध हैं, अर्थात् आवृत्त हैं। जैन परंपरा में पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश एवं परमाणु ये चार विभाग माने गये हैं। अनंतानंत अविभाजित अणु ही परमाणु बन[६१] जाते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलवर्ट आइंस्टाइन का भी मत है कि प्रत्येक द्रव्य में ऊर्जा होती है और उसी ऊर्जा के कारण ही द्रव्य में परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। द्रव्य एवं ऊर्जा से मिलकर ही ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। यहां आइंस्टाइन के सापेक्षवाद से पता चलता है कि

पदार्थ द्रव्य का ह्रास होने पर ऊर्जा निकलती है और ऊर्जा तथा द्रव्य को एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।[६२] परमाणु द्रव्य है, द्रव्य में ऊर्जा होती है और ऊर्जा का कभी नाश नहीं होता वरन् उसका रूप परिवर्तन होता रहता है। अत: यही शाश्वत गतिमान कालचक्र ही ऋत चक्र है। यही सिद्धांत गीता में वर्णित आत्मतत्त्व से भी जोड़ा जा सकता है जो (आत्मा) सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा वृहद् से भी वृहत्तर होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यही ब्रह्म रूप अधिष्ठाता एवं अधिक्ताा भी है जिसके सकाश से प्रकृति चराचर सहित सम्पूर्ण जागृत की रचना कर उसी में अवस्थित है और इसी हेतु से यह सारा संसार चक्र घूम रहा है।[६३] अत: गीता में इसे परम तत्त्व कह कर अजन्मा, नित्य (शाश्वत), अजर एवं अमर बताया गया है जिसे न तो मारा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न हवा द्वारा बहाया जा सकता है और न तो समुद्र में ही डुबोया जा सकता है।[६४] यह चैतन्यरूप शाश्वत प्रकाश ऋग्वेद के ऋत एवं जैनों के परमाणु तत्त्व की तरह अजर, अमर, शाश्वत एवं नित्य है।[६५] यही आत्म तत्त्व ऋत की भांति विविध रूप परिवर्तनों के साथ शाश्वत रूप से अनंत लोक में अनंत काल तक कालचक्र की भांति चक्रमण करती हुई व्याप्त है, व्याप्त थी एवं व्याप्त रहेगी। वैशेषिक दर्शन भी पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन आदि को नौ द्रव्य माना है जिनमें जैन परम्परानुसार प्रथम द्रव्य अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज एवं वायु को पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया गया है।[६६] इन्ही के परस्पर संघटन एवं विघटन से क्रमश: स्कन्ध एवं परमाणुओं की उत्पत्ति होती रहती है। नैयायिक भी मन को अणु मानते हैं जो आत्मा की भांति शाश्वत, अजन्मा एवं अविनाशी है।[६७] इसका समर्थन चरक भी करते हैं और मन को ही अणु परिमाण वाला बताते है।[६८] कठोपनिषद्[६९] में भी आत्मा को नित्य एवं शाश्वत माना गया है जिसमें बताया गया है कि-यह आत्मा ने तो जन्म लेता है और न तो मरता है। वह तो शाश्वत एवं नित्य है। वह स्वयं न तो किसी के द्वारा और न कोई इसके द्वारा उत्पन्न हुआ है। वह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत रूप से सदा रहने वाला और सनातन है। आगे इसी कठोपनिषद्[७०] में आया है कि व्यक्ति प्राणि जगत के हृदय गह्वर में निहित सूक्ष्माति सूक्ष्म एवं महत् से भी महत्तर परमेश्वर (ब्रह्म अथवा ब्रह्माण्ड जिसे गीता में अधिष्ठान एवं अधिष्ठता कहा गया है) को तथा उसकी महिमा को देख पाता है अथवा ज्ञान रूपी प्रकाश से जान पाता है, उस कामना एवं सुख-दुख, शोक आदि से रहित व्यक्ति पर परमेश्वर की कृपा ही समझिए। यहां इसे अणु से भी अणुतर एवं महत् से भी महत्तर भी बताया है। यही ऋग्वेद का ऋत है जो ब्रह्म रूप ब्रह्माण्ड भी है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के चराचर में आवृत्त अर्थात् व्याप्त शाश्वत तत्त्व भी है। वही गीता का क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ (अधिष्ठान एवं अधिष्ठाता) भी है और आत्मा एवं परम आत्मा भी है जो शाश्वत सत्य रूप प्रकृति के चराचर सहित सम्पूर्ण संसार में विभिन्न रूप-रंगों में व्याप्त होकर ब्रह्माण्ड में चक्रमण कर रहा है। अर्थात् संसार चक्र घूम रहा है। यही 'ऋत' की सनातनता है जिसकी नित्य नूतन व्याख्या विभिन्न रूपों में सभी वेद, ब्रह्माण्ड, आरण्यक, उपनिषद्, गीता, पुराण, धर्मसूत्र एवं स्मृतियों के साथ साथ वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग दर्शन, आयुर्वेद एवं श्रमण परम्परा के बौद्ध और जैन धर्म ग्रंथों में निरंतर चली आ रही नित्य नई व्याख्या है। इसी नित्य नवीन व्याख्याओं के कारण ही इसे सनातन (सनूतन: इति सनातन:) कहा गया है जो शाश्वत सत्य था, शाश्वत सत्य है और आगे भी काल चक्र की भांति निरंतर ज्ञान रूप प्रकाश पुंज की भांति कभी न समाप्त होने वाले वाह्य एवं आभ्यंतर चेतन रुप शाश्वत सत्य के रूप में व्याप्त रहेगा। अत: यही ऋत ही ब्रह्म, ब्रह्माण्ड एवं ब्रह्म की सर्वव्यापक सनातनता है जिससे परे कुछ भी नहीं है।

संन्दर्भ

१. ऋग्वेद, १०/५/६.		२. वही, ७/८/६.
३. वही, १/६८/५.		४. वही, ४/२५/५.
५. यजुर्वेद, १/५.		६. वही, ६/४५/१.
७. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २२३.
८. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी, पृ० २२३, २२६.
९. ऋग्वेद, २/२५/७८.
१०. ताण्ड्य ब्राह्मण, १८/२/१९ - 'ऋतेन स्वर्गलोकं गमयति'
११. ऋग्वेद, ५/५१/१५.		१२. शुक्ल यजुर्वेद, ३४/१-६.
१३. ऋग्वेद, १०/२/१, 'भद्रं नोऽपि वातय मनः'
१४. वही, १०/५/६.		१५. डब्लू एन० बाउन, माइथालोजी, २८४.
१६. जिमर, फिलासॉफी आफ इंडिया, पृ० १६३.
१७. लङ्कावतार सूत्र, पृ० १४३-४४. १८. अविस्मृति श्लोक, १७,२८,२९, पृ०४.
१९. अत्रि स्मृति, श्लोक ७,पृ० ५६. २०. ऋग्वेद, १/१६४/१.
२१. वह, १/१२५/८.
२२. वही, ४/५१/८; १/१२३/९; १/१२४/३
२३. वही, १०/८०/६.		२४. वही, ४/४२/४.
२५. वही, १०/६५/८.
२६. देखिए - राम निवास तिवारी, हिन्दू विधि विवेक, पृ० १३-१४ पर उद्धृत।
२७. वही, पृ० १४.
२८. ऋग्वेद, १/२/८ - 'ऋतेन मित्रावरुणावृत्तावृधावृतस्पृशा। क्रतुं वृहन्त माशाथे।'
२९. वही, ३/६१/७.		३०. वही, १०/८/३.
३१. वेरोल्झीमर, वर्ल्ड्स लीगल फिलासॉफी, पृ० ३७-३८.
३२. वही, पृ० ८३, ९७.
३३. देखिए - राम निवास तिवारी, हिन्दू विधि विवेक, पृ० १६.
३४. वही, पृ० १६.
३५. ऋग्वेद, १/४३/७ - पर सायण का भाष्य - 'धृत पतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्नि मित्रं नू समिधान ऋज्ञाते इन्धानों अक्रो विदथेषु दीघच्छु वर्णामुदु नो यंसते।
३६. देखिए - गीता, ३/१०, १४, १५.		३७. मनुस्मृति, १/८.
३८. मारकण्डेय पुराण में दुर्गासप्तसती, १/७३.
३९. देखिए - मोनियर विलियम्स, सृस्कृत - इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १२७८.
४०. महाभारत, शांति पर्व, १०९/१ - 'धारणाद्धर्भभित्याहुर्धर्मेण विधृता प्रजाः। यः स्यात् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

४१. ऋग्वेद, ३/६१/७.   ४२. ऋग्वेद, ८/४/१९.
४३. निरुक्त, ७/७/२६, पृ० ३८२.
४४. अमरकोश, १/६/३, धरति लोकाऽनेनः धरति लोकं वा, धरति विश्वमिति, धरति लोकान् ध्रियते वा जनैरिति।'
४५. अथर्ववेद, ११/९/९६.
४६. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ४८९.
४७. गीता, ३/१० - 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।
४८. वही, ३/१४-१५.   ४९. महाभारत, शांति पर्व, १०९/१०.
५०. विनय पिटक - महावग्ग।
५१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, जैन शासन, पृ० १३-१४ पर उद्धृत।
५२. मनुस्मृति २/९.
५३. वही, २/१२ - 'वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात्धर्मस्य लक्षणम्।।
५४. वही, १२/८८-९०; देखिए -सरपल्ली राधाकृष्णन, इंडियन फिलासाफी, भाग - १, पृ० ७९.
५५. गीता १६/२-३
५६. मुण्डकोपनिषद्, ३/१/६- 'सत्यमेव जयति नानृतं, सत्येन पंथा वितते देवयानः' येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परं निधानम्
५७. ऋग्वेद, ५/१५/२- ''ऋतेन ऋतं धारूणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्''। दिवो धर्मंधरूणे सुषो नृस्रातैरजातां अभि ये ननक्षु।।''
५८. श्रीमद्भगवद्गीता, १३/२६   ५९. वही, १३/१३
६०. भगवती सूत्र, २/१/९१
६१. देखिए-मेरा शोध निबन्ध-'जैन आगमों में 'अणु': एक वैज्ञानिक विवेचन (संस्कृति-संधान, वालूम XIV, पृष्ठ १११)
६२. वही, पृ० १११-११२   ६३. गीता, ९/१०
६४. वही, २/२२-२५   ६५. वही, २/२०-२१
६६. वैशेषिक दर्शन, १/१/७
६७. वैशेषिक सूत्र, ३/२/२ न्याय सूत्र, ३/२/५९
६८. देखिए-चरक संहिता, शरीर स्थानम् १/१९.
६९. कठोपनिषद, २/१८-'न जायते म्रियते व विपश्चिन्नायं कुतिश्चत्र वभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणे, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।'
७०. वही, २/२०-''अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मस्य जन्तोनिहितो गुहायाम्।------ तमक्रतुः पश्यति वीत शोको, धात्प्रसादान्महिमानमात्मनः।।''

वैदिक धर्म की शाश्वतता

शुकदेव भोइ*, चन्दन लाल गुप्ता**

वैदिक धर्म विश्व का सबसे प्राचीन एवं प्रामाणिक धर्म है। वेद प्रतिपादित धर्म ही वैदिक धर्म है। जो विश्वमङ्गल की भावना से युक्त भगवाना ईश्वर की मुखनि:सृत वाणी रूप में परिचित है। वैदिक धर्म ही एकमात्र शाश्वत धर्म है। जो वेद के आविर्भाव काल से लेकर आज तक अपना अस्तित्व बनाये हुए है। वेद में धर्म का जो स्वरूपा पाया जाता है वही ब्राह्मणों में आरण्यकों में, उपनिषदों में स्मृतियों में एवं बाद के धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों में भी पाया जाता हैं शाश्वत से तात्पर्य चिरस्थायी, नित्य है, अपरिवर्तनशील है, अविच्छिन्न है, त्रिकालाबाधित है एवं सत्य हौं इस धर्म में पादप से लेकर विशाल वृक्ष तक, मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियों तक एवं सम्पूर्ण सृष्टि तक में देवत्व की कल्पना की गई है तथा सबके रक्षण एवं संरक्षण की बात हमारे वेद से लेकर ऋषि तक सभी ने कही है। भारत में जितने भी धर्म समुदाय हैं, सभी का स्रोत वैदिक धर्म ही है।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृञ् धारणे' धातु से 'मन' प्रत्यय करके हुई है, जिसका अर्थ है धारण करना। 'ध्रियते लोकेऽनेन', 'धरति लोकं वा असौ स:' धर्म:' अर्थात् जो लोक अथवा संसार को धारण करता है एवं जिसको सभी मनुष्य धारण करते है वही धर्म है। वैदिक धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो धर्म के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों की कसौटी पर खरा उतरता है। अन्य धर्मों में केवल समुदाय विशेष के हितों की बात है। किन्तु इस धर्म में सम्पूर्ण संसार एवं संसार के प्राणियों के कल्याणार्थ स्वार्थ का परित्याग करने का उपदेश किया गया है।

धर्म मनुष्य को मनुष्य के रूप में धारण करता है और धारण करने से ही उसे धर्म कहते हैं-

"धारणाद् धर्म इत्याहुधर्मेण विधृता: प्रजा:।"[१]

आचार्य जैमिनि पूर्वमीमांसा में कहते हैं कि जो मनुष्य का सर्वाधिक हितकारी हो वही धर्म है-

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:।"[२]

महर्षि कणाद कहते हैं कि जिससे इहलोक में उन्नति और परलोक में नि:श्रेयस की सिद्धि हो वही धर्म है-

"यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस् सिद्धि: स धर्म:।"[३]

---

* *वरिष्ठ प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, कला संकाय, का०हि०वि०वि०*

** *शोध छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, का०हि०वि०वि०*

धर्म से तात्पर्य कर्तव्य एवं गुणों से है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति, अन्यान्य प्राणियों के प्रति, समाज के प्रति एवं इस जगत् के प्रति कर्तव्यों से है। जो इहलोक की यात्रा को सफल बनाने के साथ ही साथ परलोक के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। मनुष्य की मनुष्यता ही उसका गुण है। जो कि मनुष्य में संस्कारों से नहीं अपितु धार्मिक संस्कारों से आती है। वेद में कर्तव्यों का धार्मिक विवेचन है। अतएव इसी धारणा से गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि वेद धर्म का मूल है-

"वेदों धर्ममूलम्।"[४]

इसी को आचार्य मनु भी स्वीकार करते हुए कहते हैं-

"वेदोडखिलो धर्ममूलम्।"[५]

कुल्लूक भट्ट द्वारा भी मनुस्मृति में यही बात स्वीकार की गई है-

"श्रुतिप्रमाणको धर्मः।"[६]

आचार्य मनु ने अपने स्मृति ग्रन्थ का आधार वेद को ही बनाया है। वे कहते हैं कि चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, भविष्य और वर्तमान सबकुछ वेद से ही सिद्ध होता है-

"चातुवर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।।"[७]

वैदिक धर्म का आदर्श ही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का है। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को स्वात्मा में निरन्तर देखता है और अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता है-

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो ने विजुगुप्सते।।"[८]

इसी प्रकार ऐसी भावना जहाँ होगी वहां राग, द्वेष, घृणा आदि का प्रश्न ही नहीं होगा। यही 'वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना का दृढ़ आधार है। वास्तव में वैदिक धर्म का मूल तत्त्व समानता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि हे स्ताताओं! तुम एकत्र होओ, स्वर में स्वर मिलाकर स्तोत्र का उच्चारण करो, एक समान मन वाले होओ, जैसे देवतागण समान मन वाले होकर यज्ञ में हविरन्न ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी समान मति वाले होकर धनादि ग्रहण करो-

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।"[९]

अथर्ववेद में भी इसी समानता की बात कही गई है।[१०] जब सभी मनुष्य एक दूसरे को समान समझते हुए आपस में मिलकर रहें तो समाज की हिंसा, चोरी, द्वेष आदि जितनी बुराईयां है वह स्वयं ही समाप्त हो जायेंगी। महर्षि दयानन्द भी वेद मन्त्र के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि हे मनुष्यों। सभी विरोधों को छोड़कर आपस में मिलकर रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सदैव बढ़े और दुःखों क नाश हो-

"सर्वं विरोधं विहाय संगता भवत येन युष्माकमुत्तमं सुखं
सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत्।।[११]

इस समतामूलक, विश्वमलंकारी वैदिक धर्म के ही सत्य, दीक्षा, तप आदि अन्य गुण हैं। सृष्टि के पूर्व में ऋत ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ।[१२] ऋत का अर्थ सत्य है। अत: सत्य में ही श्रद्धा रखनी चाहिए। वाजसनेयी संहिता में कहा गया है कि प्रजापति ने सत्य और असत्य को देखकर विचार-पूर्वक पृथक्-पृथक् स्थापित किया। उन्होंने सत्य में श्रद्धा को और असत्य में अश्रद्धा को स्थापित किया। सत्य को सत्य के द्वारा ही जाना जाता है-

"दृष्टवा रुपेव्यम्बरोत्सत्यनृते प्रजापति:।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा सत्ये प्रजापति:।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपान-----------।।"[१३]

सत्य, कठोर, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं-

"सत्यं वृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति।"[१४]

पृथ्वी का अस्तित्व धर्म पर ही अवस्थित है। सत्य के बिना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती है। अत: धर्म सत्य पर टिका है। सत्य से ही पृथ्वी, सूर्य और आकाश में चन्द्रमा अवस्थित है एवं सूर्य से आकाश स्थित है-

"सत्येनोत्तभिता भूमि: सूर्येणोत्तभिता द्यौ:।
ऋतेनादित्या तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रित:।।"[१५]

वेदों में असत्य को छोड़कर सत्य में प्रवृत्त होने की कामना की गई है-

"इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।"[१६]

सत्य ही एकमात्र सत् है अर्थात् उसी की सत्ता हैं। सत्य में ही समानता और सबका कल्याण निहित है। सत्यरूपी व्रत के पालन द्वारा ही मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है, दीक्षा से दक्षिणा को एवं दक्षिणा से श्रद्धा को प्राप्त करता है तथा श्रद्धा से सत्य को प्राप्त करता है-

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।"[१७]

सत्याचरण द्वारा मनुष्य समाज में प्रतिष्ठा, यश और सभी प्रकार की सम्पत्ति को प्राप्त करता है। सत्य समस्त सद्गुणों का एवं सुख-शान्ति का मूल है।

वैदिक धर्म में सत्य के समान यज्ञ का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यज्ञ को ही श्रेष्ठतम् कर्म कहा गया है-

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।"[१८]

ब्राह्मण ग्रन्थों में देवताओं को यज्ञरूप कहा गया है- "प्रत्यक्षं यज्ञों यत् प्रजापति:।"[१९], "स य: यज्ञोऽसौ आदित्य:।"[२०] पुरुष सूक्त के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति: यज्ञ से ही हुई है। अथर्ववेद में कहा गया है कि देव लोग दिव्य यज्ञ करते हैं और यज्ञ ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है-

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।"[२१]

यज्ञ नि:स्वार्थ से सबके कल्याणार्थ किये जाते हैं। यज्ञ हमें यह प्रेरणा देता है कि दूसरों के कल्याण में ही अपना कल्याण है। यज्ञ और सृष्टि का आपस में सम्बन्ध है। यज्ञ सृष्टि का पोषण करते हैं। यज्ञ में देवों को हवि देते समय स्वाहा उच्चारण द्वारा स्वत्व अर्थात् स्वार्थ का त्याग किया जाता है। स्वाहा में सर्व-कल्याणकारी भावना निहित है।

वैदिक धर्म हिंसा का विरोध करता है। वेद में एक ही मन्त्र एवं शब्द के कई-कई अर्थ होते हैं, अतएव कुछ लोगों ने अहिंसात्मक अर्थो को हिंसात्मक अर्थ में प्रयोग किया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सूर्य और चन्द्रमा जिस प्रकार स्थावर-जङ्गम सबका उपकार करते हुए सबको जीवन दान देते हैं उसी प्रकार हम भी सबका उपकार करते हुए कल्याण के मार्ग पर चलकर हिंसारहित होकर उन्नति को प्राप्त करें-

"स्वास्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽध्नता जानता संगमेमहि।।"[२२]

यजुर्वेद में हिंसा की निन्दा करते हुए कहा गया है कि पशुओं द्वारा पशुओं को पुरोडाशों से अन्न को, छन्दों से छन्दों को समिधाओं से समिधाओं को याज्यों से याज्यों को एवं वषट्कारों द्वारा वषट्कारों को प्राप्त करता है-

"पशुभिः पशुयाप्नोति पुरोडाशैर्हविष्या।
छन्दोभिः सामिधेनीर्या ज्याभिर्वषट्करान्।।"[२३]

अर्थात् जो जिस प्रकार का कर्म करेगा उसको फलप्राप्ति भी उसी अनुसार होगी। किसी की हिंसा न हो इसको ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद मांस खाने का निषेध करता है। कहा गया है कि हो अग्ने! मनुष्य, घोड़े और गाय के मांस खाने वाले राक्षस को बलहीन करो तथा जो गाय के दूध की चोरी करता है उसके मस्तक को काट डालो।[२४] जो दूध की चोरी करता है वह दूध पर आश्रित प्राणियों की हिंसा करता है। इसी का अनुसरण करते हुए महाभारत में अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म कहा गया है-

"अहिंसा परमोधर्मः"[२५]

केवल अपने लिए जीने वाले को वेद में हेय दृष्टि से देखा गया है। कहा गया है कि जो उदार मनवाला नहीं हैं, उसका भोजन करना व्यर्थ है, उसका भोजन विष के समान है। जो न देवगणों को और न ही मित्रों को देकर स्वयं ही भोजन करता है, वह साक्षात् पाप का ही भक्षण करता है-

"मोघमन्नं विदन्ते तप्रचेताः सत्यं ब्रवीम वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।"[२६]

वैदिक धर्म त्यागपूर्वक भोग में विश्वास करता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि सर्वत्र परमात्मा को उपस्थित मानकर किसी के धत की इच्छा न करते हुए आशक्ति का त्याग कर भोगों का उपभोग करें-

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधःकस्यस्विद्धनम्।।"[२७]

मोक्ष के साधन रूप में पुरुषार्थ चतुष्ट्य का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें धर्म का प्रथम एवं महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि अर्थ और काम अधर्म के मूल है। अतएव मोक्षकामी पुरुष को सर्वप्रथम धर्म का आचरण तथा उसके पश्चात् धर्मपूर्ण अर्थ एवं काम के उपयोग करने का निर्देश दिया गया है। वेद में जुए आदि अनुचित तरीके से प्राप्त धन की निन्दा की गई है एवं परिश्रम से प्राप्त धम में ही सन्तुष्ट रहने का निर्देश दिया गया हैं ऋग्वेद में कहा गया है कि हे मनुष्य! जुआ खेलना छोड़कर कृषि करो औश्र परिश्रम से अर्जित जो धन है उसी में सन्तुष्ट रहो-

"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।"[२८]

इसी प्रकार काम की पूर्ति विवाह नामक धार्मिक संस्कार हो जाने के बाद ही करने का विधान है। यह विधान ही भारत को अन्य संस्कृतियों से पृथक करता है एवं भ्रष्टाचार पर रोक लगाये हुए है। ज़िसे आज भी भारतीय समाज में वही स्थान प्राप्त है जो वैदिक काल में प्राप्त था। उस धर्म में काम का सम्पादन शारीरिक सुख के लिए नहीं अपितु सन्तानोत्पादन, यज्ञादि धार्मिक कार्यों के लिए किया जाता है। धर्मरहित काम अनाचार कहलाता हैं मोक्ष के लिए इन तीनों पुरुषार्थों का सम्पादन अनिवार्य है।

वैदिक धर्म समानता का धर्म है। इस धर्म में सभी वर्णों में समानता की, सभी के कल्याण की, अधिकार एवं महत्व में समानता की बात कही गई है। कहा गया है कि हे अग्ने! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी में एक समान तेज को स्थापित करो।[२९] जिससे सबका समान कल्याण हो।

अथर्ववेद में शूद्रों आर्यों और सभी देखने वालों से एक समान स्नेह पाने की कामना की गई है-

"प्रियं सर्वस्य पश्यत् उत शूद्रे उतार्यों।।"[३०]

वैदिक धर्म ही सर्वप्रथम मानवों को वह प्रकाश पुञ्ज प्रदान किया जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अतः वेद ने उन सभ्य, सुसंस्कृत लोगों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग किया। यही एकमात्र ऐसा धर्म है जिसके आचरण में स्थावर-जङ्गम सबका कल्याण निहित है। इस धर्म के आदर्शों को आज भी भारतीय समाज में वही स्थान प्राप्त है जो वैदिक काल में प्राप्त था। वैदिक धर्म वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं स्मतियों से होता हुआ आज भी धर्म एवं धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का मूल बना हुआ है। अतः वैदिक धर्म शाश्वत है।

सन्दर्भ :

१. महाभारत शान्तिपर्व १०९/११.

२. जैमिनि पूर्वमीमांसा १/१/२.

३. वैशेषिकसूत्र १/३/२.

४. गौतम धर्मसूत्र १/१/२.

५. मनुस्मृति २/६.

६. कुल्लूक द्वारा मनु० २/१ में उद्धृत

७. मनुस्मृति १२/९७.

८. ईशावास्योपनिषद ६.

९. ऋग्वेद १०/१९१/२.

१०.अथर्ववेद ६/६४/१.

११.ऋ०भा०भू०पृ० ५३.

१२.ऋग्वेद १०/१९०/१.

१३. वा० संहिता १९/७७.
१४. अथर्ववेद १२/१/१.
१५. अथर्ववेद १४/१/१.
१६. यजुर्वेद १/५.
१७. यजुर्वेद १९/३०.
१८. शतपथ ब्राह्मण १/७/३/५.
१९. शतपथ ब्राह्मण ४/३/४/३.
२०. शतपथ ब्राह्मण १४/१/१/१६.
२१. अथर्ववेद ७/५/१.
२२. ऋग्वेद ५/५१/१५.
२३. यजुर्वेद १९/२०.
२४. ऋग्वेद १०/८७/१६.
२५. महाभारत शान्तिपर्व ११५/१.
२६. ऋग्वेद १०/११७/३.
२७. यजुर्वेद ४०/१.
२८. ऋग्वेद १०/३४/१३.
२९. यजुर्वेद १८/४८.
३०. अथर्ववेद १९/६२/१.

✸

वैदिक धर्म में देवताओं की अवधारणा

शिवशंकर सिंह यादव*

वेद अनन्त ज्ञान राशि के अक्षय भण्डार हैं। वेद शब्द प्राचीन काल से ही ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इस शब्द का प्रयोग ज्ञान के अतिरिक्त एक और अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण भाग को वेद कहा गया है–

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"[1]

किन्तु वेद न तो 'कुरान' के समान कोई धर्म ग्रन्थ है, न 'बाईबिल' एवं 'त्रिपिटक' के समान महापुरुषों के वचनों का संग्रह है। भारतीय मान्यता के अनुसार वेद शब्द से वह ईश्वरी ज्ञान अभिप्रेत है जिसके अन्तर्गत वे समस्त वाङ्मय संगृहीत हैं जो शताब्दियों से नहीं, बल्कि सहस्राब्दियों में जाकर ऋषियों द्वारा उपलब्ध हुए हैं। वैदिक साहित्य को अपौरुषेय कहा गया है। भारत के वेदमर्मज्ञ, प्राचीन शास्त्रों तथा शास्त्रज्ञों ने एक स्वर से ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का द्रष्टा ही माना है, कर्ता नहीं।[2] वैदिक ऋषियों को अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त था तथा दैवी प्रतिभा के बल पर उन लोगों ने अपने प्रातिभ चक्षु से मन्त्रों का दर्शन किया।[3] उदाहरणस्वरूप अनेक मन्त्रों में ऋषि वशिष्ठ को अलौकिक रीति से प्रदत्त ज्ञान का उल्लेख मिलता है।[4] ऋग्वेद में 'वाक्' की अनेकत्र भव्य स्तुति की गयी है, तथा ऋषियों के भीतर उसके प्रवेश करने का स्पष्ट निर्देश है।[5]

आर्यो का जीवन प्राचीन काल से धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित रहा है जिसमें नैतिक मूल्यों, आचारगत अभिव्यक्तियों तथा जगन्नियन्ता के प्रतिसमर्पण की भावना का सन्निवेश था। धर्म का व्यावहारिक महत्त्व कर्तव्य का समुचित पालन था जिसके माध्यम से व्यक्ति लौकिक उत्कर्ष के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करता था। उसके समस्त कर्त्तव्य कर्म ज्ञान समन्वित और श्रद्धासिक्त होकर धर्म से ही उत्प्रेरित और गतिमान होते थे, जो उसके परिवार और समाज को गठित करने में अभूतपूर्व योगदान प्रदान करते थे।[6] मनु ने वेदों को सब धर्मो का मूल कहा है।[7] वेद से ही सब धर्म प्रकट हुए हैं[8] वेदविहित कर्त्तव्य ही धर्म हैं।

धर्म और अधर्म का मानदण्ड वेद वाक्य ही है। वैदिक धर्म यज्ञमूलक है। यज्ञादि के अनुष्ठान से ही धर्म की सिद्धि होती है। आर्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञ करते थे ताकि देवता प्रसन्न होकर उनकी मनोकामना पूर्ण करें।

रीडर, संस्कृत विभाग, श्रीमती इन्दिरा गाँधी राजकीय महाविद्यालय, लालगंज, मिर्जापुर

वैदिक धर्म में देवताओं का विशेष महत्त्व है। देवता तत्त्व को समझे बिना वेद प्रतिपादित धर्म के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। देवतावाद के प्रतिपादक प्रधान वैदिक ग्रन्थ 'बृहद्देवता' में कहा गया है कि "प्रत्येक मन्त्र के देवता का परिज्ञान करना चाहिए क्योंकि देवता ज्ञान से सम्पन्न विद्वान ही वेदार्थ और वेद रहस्य को समझ सकता है।"[8] बृहद्देवता का तो यह भी कहना है कि चेतना अधिष्ठान से रहित शरीर का कोई भी अंग कार्य नहीं कर सकता क्योंकि जड़ पदार्थ में स्वयं कर्त्तव्य शक्ति होती नहीं है इसलिए उसका अधिष्ठाता कोई चेतन अवश्य होना चाहिए। शरीर तो जड़ है किन्तु उसमें चेतन आत्मा का निवास है। उसी की शक्ति से शरीर के अंग–प्रत्यंग क्रियाशील रहते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार अनेक जड़ पदार्थों के अनेक अधिष्ठाता (देवता) माने गये हैं। किसी भी वस्तु विशेष से हम जो कार्य सम्पादित करते हैं वह वस्तु उस कार्य विशेष के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहक होती है। उस वस्तु में कार्य सम्पादन की शक्ति निहित होती हैं इसीलिए उस वस्तु से वह कार्य किया जाता है। वस्तु विशेष के उस निहित शक्ति को वेद में तत्तस्थानी देवता कहा जाता है। डॉ0 बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि "आर्यों ने प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न–भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व विभिन्न देवताओं का क्रीड़ा निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न–भिन्न प्राकृतिक घटनाएं उनके ही कारण घटित होती हैं।"[9]

पाश्चात्य विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक–जगत् के प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं के उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। भौतिक पदार्थों के कारण देवताओं में भी वैविध्य दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में अनेक देवी–देवता दिखलाई पड़ते हैं।

'देव' शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है। 'देव' वह जो मनुष्य को देता है, समस्त विश्व को देता है। विद्वान् पुरुष भी देव हैं क्योंकि वे विद्या का दान देते हैं। 'विद्वांसो वै देवाः' का यही अभिप्राय है। "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव" ये उपनिषद् वचन इसके प्रमाण है। सूर्य चन्द्रमा वायु और आकाश आदि भी देव हैं। निरुक्त में देव विषयक वस्तु का विवेचन करते हुए कहा गया है कि "दान देने, द्योतित होने, प्रकाशित होने एवं द्युस्थानी होने के कारण देवता कहे जाते हैं।"[10] देवता अपने उपासकों को प्रकाश तथा दान देने के साथ ही उसके समस्त कामनाओं के पूरक होते हैं। निरुक्तकार के अनुसार स्थान भेद से इन्हें तीन प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है – "यथा पृथ्वीस्थानीय अग्नि, सोम, सरस्वती, वृहस्पति, आदि। अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्र, वायु (मरुत) पर्जन्य आदि और द्युस्थानीय सूर्य, सविता, पूषा आदि हैं।[11] आचार्य यास्क उपर्युक्त देवों को पुनः चार रूप में विभाजित किया है–

1. प्राकृतिक शक्ति रूप देवता – इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि। 2. गृह देवता– अग्नि, सोम आदि। 3. भावजन्य देवता – श्रद्धा, मन्यु, प्रजापति आदि। 4. गौण देवता– गन्धर्व, अप्सरा आदि।

जिस सूक्त में जिस देवता का नाम रहता है उसका वही प्रतिपादनीय एवं स्तवनीय देवता होता है। यदि कही जड़ पदार्थों को भी देवता की तरह माना गया है तो वे जड़ पदार्थ भी उस देव तत्त्व के अधिष्ठाता हैं क्योंकि आर्य लोग प्रत्येक जड़ पदार्थ का एक अधिष्ठाता देवता मानते हैं। इसीलिए वे जड़ को चेतन की तरह शिक्षित करते हैं। मीमांसाकार भी जिस मन्त्र में जिस देवता का वर्णन करते हैं उस मन्त्र में उसी देवता की दिव्य शक्ति समाहित रहती है। इसीलिए मन्त्र देवत्त्वशक्ति सम्पन्न होते हैं। वैदिक धर्म का यह वैशिष्ट्य है कि जिस देवता की स्तुति मन्त्रों के द्वारा की जाती है वही देवता स्तुतकाल में सबसे बड़ा, व्यापक, जगत् का स्रष्टा तथा संसार का सर्वाधिक उपकारी माना जाता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्द्र को सर्वोच्च देवता माना गया है[12] तो एक दूसरे स्थान पर अग्नि को और तीसरे स्थल पर वरुण को श्रेष्ठ कहा गया है।[13] वरुण सूक्त में वरुण ही श्रेष्ठ देव हैं अन्य देवगण वरुण से उत्पन्न होते हैं तथा उनके शासन में रहकर अपने निश्चित कार्य का निर्वाह करते हैं। इन्द्र अपने स्तुतिकाल में सबसे श्रेष्ठ देव माने जाते हैं तथा इतर देवताओं का उद्‌गम उन्हीं से बताया गया है। अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी यही तथ्य मिलता है। वैदिक देवता परस्पर केवल अविरोध भाव से ही नहीं, अपितु परस्पर उन्नायक भाव से भी कार्य करते हुए चराचर जगत् के आभ्यान्तर (नैतिक) और भौतिक (बाह्य) शाश्वत नियमों के अनुसार 'सत्य' और 'ऋत' का पालन करते हुए ही अपना–अपना कार्य करते हैं।[14] 'सत्यमेव देवाः ऋतज्ञाः' इत्यादि वैदिक मन्त्रों का यही अभिप्राय है।

देवताओं की संख्या के विषय में विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं। प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवों की संख्या तैतिस है। ऋग्वेद में एक मन्त्र के ग्यारह–ग्यारह देवों के तीन समुदायों का उल्लेख मिलता है। जो देवता स्वर्ग में हैं वे ग्यारह हैं, पृथिवीस्थ देवता भी ग्यारह हैं और अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी ग्यारह ही हैं। वे सभी अपने महिमा से यज्ञ की सेवा करते हैं।[15] शतपथब्राह्मण में भी आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र तथा एक प्रजापति – इन देवों को मिलाकर पूर्वोक्त संख्या (33) की पूर्ति होती है।[16] ऋग्वेद के एक विशिष्ट उल्लेखानुसार देवों की संख्या 3339 है।[17] इसी संख्या का उल्लेख शतपथ[18] तथा शांखायन श्रौत सूत्र[19] में भी मिलता है। फलतः देवों की भूयसी संख्या ऋग्वेद स्वयं निर्दिष्ट करता है। ये देवता तीनों लोकों में अपना–अपना कार्य करते रहते हैं। इस आधार पर 'त्रिदेव' की कल्पना कर ली गई। ये त्रिदेव हैं – सूर्य, वायु और अग्नि।

देवताओं में कुछ सामान्य गुण होते हैं और कुछ विशेष सामान्य गुण सभी देवताओं में एक समान होता है। जैसे द्युति, दया, दान एवं बुद्धि। ये देवताओं के सामान्य गुण हैं जो सभी देवताओं में पाये जाते हैं। विशेष गुण सभी देवताओं के अपने–अपने अलग होते हैं जिनके आधार पर वे एक दूसरे से अलग कर लिये जाते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से विदित होता है कि वैदिक देवताओं का स्वरूप मानवीय है। ऋग्वेद में इन देवताओं का विविध रूपों में वर्णन आया है। ये महान शक्ति सम्पन्न हैं। इन देवताओं में सबसे प्रमुख इन्द्र हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के लिए 250 सूक्त हैं। अग्नि के लिए 200 एवं सोम के लिए 100 सूक्त हैं। शेष देवता इनसे कम सूक्तों में वर्णित हैं।

युगल देवता के रूप में कुछ देवताओं की भी स्तुति की गई है, इनमें मित्रावरुण के नाम से सबसे अधिक सूक्त हैं। युगल देवताओं के अतिरिक्त कुछ सामोहिक देवता भी हैं, जैसे – आदित्य एक छोटा देव परिवार है। इसमें बारह आदित्य सम्मिलित हैं। आर्यो का विश्वास था कि प्राकृतिक देवी–देवताओं की उपासना के माध्यम से वह अनन्त शक्ति ही कामनाओं की पूर्ति करती है। वेद में पौराणिकता के मौलिक तत्त्वों का उदय यहीं से होता है। ऋग्वेद के स्तुतिपरक सूक्त इसलिए भी बहुमूल्य हैं कि इन सूक्तों में हम पुराण और इतिहास का सूत्रपात देखते हैं। वैदिक देवताओं को अपने चक्षुओं के सामने प्रकट होते हुए देखते हैं। ये देवता जिसके प्रतिरूप हैं, उसकी अधिष्ठातृशक्ति के स्वरूप भी हैं। मानव के रूप में उनका पूरी तरह से विकास दृष्टिगोचर नहीं होता है, उनका भौतिक रूप वही है, जो हमें प्रत्यक्षतः दिखायी देता है।

वैदिक मन्त्रों के गंभीर अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह देवता और कोई नहीं प्रत्युत वह एकमात्र परमसत् हिरण्यगर्भ या प्रजापति है जो देवों में सर्वमहान विश्व का मूलतत्त्व है। वही द्यावापृथिवी को धारण करता है, वही सभी प्राणियों का बल एवं प्राणदाता है, सारा विश्व जिसकी उपासना करता है, अमरता और मृत्यु जिसकी छाया है। वही देवों में एकमात्र देव है। पुरुष सूक्त 'पुरुष एवेदं सर्वम्' कहकर इसी तथ्य को सत्यापित करता है।[20] वही समस्त प्रकृति का आदि कारण है। यही विश्व की आत्मा है, वह समस्त विश्व का संचालन करता है वह एक स्थान पर रहते हुए भी सभी स्थानों में विद्यमान रहता है। सारा जगत् उसी का विराट रूप है। वह देवों का देव महादेव है, जिसे लोग अपनी–अपनी रुचि के अनुसार भिन्न–भिन्न नामों से पुकारते हैं। वस्तुतः सत् एक ही है जिसे विद्वान अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं। यह सत् वह परमसत्ता है, जो हिरण्यगर्भ, प्रजापति और विश्वकर्मा के नाम से कई रूपों में चित्रित की गई है। एक देवता को सर्वोच्च देवता के रूप में स्तुत करते हुए स्तोता ऋषि यह भूल जाता है कि दूसरे स्थल पर उससे भिन्न देवता को सर्वोच्च देवता प्रतिपादित कर चुका है, ऐसे वर्णनों के आधार पर मैक्समूलर ने ऋग्वेद में हिनोथिज्म (Henotheism) सर्वोच्चदेवतावाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[21] प्रोफेसर वेबर और कुछ अन्य विद्वान् प्रोफेसर मैक्समूलर के विचार से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में वास्तविकता यह है कि स्तोता ऋषि, जब किसी देवता की स्तुति करता है तो वह उसके गुणों में इतना तन्मय हो जाता है, कि जैसे उसे अपनी भी स्थिति का ज्ञान ही नहीं रहता है। अपनी तरह वह अन्य देवताओं के अस्तित्व को भी भूल जाता है। अतः स्तूयमान देवता ही उसे उस समय सबसे बड़ा, सबसे महान् और गुणवान् देवता अनुभव होता है। सामान्यतया भी यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब हम किसी विशेष आवश्यकतावश किसी विशेष व्यक्ति के प्रति भावुक होते हैं, तो हमें वही व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न प्रतीत होता है। यही बात यहाँ देवताओं के विषय में भी समझ लेनी चाहिए।

वैदिक धार्मिक विचारधारा में एक क्रमिक विकास दिखायी देता है। पहले अनेकेश्वरवाद या बहुदेववाद (Polytheism) से प्रारम्भ कर हिनोथिज्म (Henotheism) से होते हुए अन्त में एकेश्वरवाद की ओर संकेत करता है। धार्मिक चेतना एक ही देवता को श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करने को बाध्य करती है। डॉ0 राधाकृष्णनन ने कहा

है– "हम अनेकेश्वरवाद को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि धार्मिक चेतना इसके विरोध में है।"[22] भक्ति एवं प्रार्थना के द्वारा उस देवता को प्रसन्न कर उसकी कृपा से ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति करना ही स्तोता का मुख्य लक्ष्य होता है। ईश्वररचित सृष्टि के किसी भी अंग की उपेक्षा इसलिए नहीं की जा सकती कि वह उसी परमसत्ता का व्यक्त रूप है। सृष्टि के किसी एक अंग की उपासना उस विराट् की ही उपासना समझी जाती है। वैदिक धर्म में याज्ञिक क्रियाओं के द्वारा प्रतिदिन उसी विश्वरूप परमात्मा का मनसा, वाचा, कर्मणा स्तवन किया जाता है।

सन्दर्भ–

1. आपस्तम्बपरिभाषा – 31।
2. श्वेतवनवासिरचितवृत्ति उणादिसूत्र 4/129 – ऋषिर्मन्त्र–द्रष्टा। गत्यर्थत्वाद् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वाद् मन्त्रं दृष्टवन्त ऋषयः।
3. ऋग्वेद, 7/33/7–13
4. ऋग्वेद, 7/87/4, 7/88/4
5. वही, 10/71/3 – यज्ञेन वाचः पदवयीमायन्। तामन्वविन्दन ऋषिषु प्रविष्टाम्।।
6. मैक्स वेबर, रेलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ0 52–64
7. मनुस्मृति, 2/6 – वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
8. वृहद्देवता, 1/2 – वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः। देवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति।।
9. उपाध्याय बलदेव, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ0 457–58
10. निरुक्त, 7/15 – देवो दानाद् वा द्योतनाद् वा दीपनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा।
11. वही, 7/5 तिस्रः एव देवताः इति नैरुक्ताः। अग्निपृथिवीस्थानः। वायुर्वा इन्द्रो वा, अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।
12. ऋग्वेद 5/30/5
13. वही, 5/85/3
14. वही, 10/191/2 देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते
15. वही, 1/139/119– ये देवासो दिव्येकादशस्य पृथिव्यामध्यकादस्य। अप्सुक्षितौ महिनैकादस्थ ते देवासो यज्ञमिय जुषध्वम्।।
16. शतपथब्राह्मण 11/6/3/5
17. ऋग्वेद 1/53/6
18. शतपथब्राह्मण 11/6/3/4
19. शांखायन श्रौत सूत्र 8/21/14
20. ऋग्वेद 10/9/2 – पुरुष एवेदं सर्वम् यद्भूतं यच्चभव्यम्।
21. मैक्समूलर, सिक्स सिस्टम आफ इण्डियन फिलासफी, पृ0 39
22. कृष्णन, डॉ0 राधा, इण्डियन फिलासफी, We cannot have a plurality of Gods for religious consciousness in against.

✸

वैदिक एवं अवैदिक परम्परा में अवतारवाद

नीहारिका*

मानव का प्रकृति प्रेम आदिम युग से ही निरन्तर उसके साथ रहा है। उसी के अद्वितीय, आश्चर्यकारी, उपकारी अथवा भयकारी रूपों ने मानव को धर्म की ओर प्रेरित एवं उन्मुख किया। वैदिक संस्कृति में सर्वप्रथम तीन देवों की कल्पना की गई। पृथ्वी के देवता अग्नि, वायुमण्डल के इन्द्र तथा स्वर्ग के देवता सूर्य स्वीकार किये गये। अवतार का प्रारम्भ वेदों में ही दिखाई देने लगता है। यहां अवतार का सम्बन्ध पुनर्जन्म से है। ऋग्वेद के मंत्रों में ईन्द्र का माया द्वारा विभिन्न रूप धारण करना उल्लिखित है-

रूपं रूपं मधवा बोभवीति
माया: कृण्वानस्तत्त्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यद् दिव: परिमुहूर्तमागात्
स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा।। ३.५३.८

इसी प्रकार-

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभि: पुरूरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरय: शता दश।। ६.४७.१८

इस प्रकार अवतार का संकेत ऋग्वेद के मंत्रों में विद्यमान है। श्रीमद्भागवत में भगवान का प्रथम अवतार पुरूष को कहा गया है, जो विभिन्न अवतारों का उद्गम स्थल व संहार स्थल भी है।

आगे चल कर ब्राह्मण ग्रंथों, विशेषकर शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति के मत्स्य, कूर्म और वराह अवतारों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय ब्राह्मण और काठक संहिता से भी होती है। रामायण और महाभारत में अवतारों की बात कही गई है। अधिकांशतया इनका संबंध प्रजापति से था। बाद में भी विष्णु की प्रधानता होने पर विष्णु के अवतार माने जाने लगे। आरण्यक ग्रंथों (विशेषकर उदय और तैत्तिरीय आरण्यक) में वासुदेव कृष्ण के विष्णु का अवतार होने की बात कही गई है।

इन सभी देवों के साथ साथ देवों का समूह भी कल्पित किया गया। ब्राह्मण काल में इन देवों का रूप और उनका नामकरण परिवर्तित हो गया। समस्त आकाशस्थानीय देवता

*श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी०जी० कॉलेज, वाराणसी।

आदित्य कहलाये, पृथ्वीस्थानीय देवता वसु और अन्तरिक्ष स्थानीयदेवता रूद्र कहलाये। इनकी संख्या क्रमशः १२, ८ और ११ हो गई। इस प्रकार पूर्व के ३३ देवों के स्थान पर कुल देवों की संख्या ३१ हो गई। कभी-कभी द्यौस और पृथ्वी की गणना करके इनकी कुल संख्या ३३ बना ली जाती थी। पुराणों में बारह आदित्यों में से केवल विष्णु, ग्यारह रूद्रों का समूहात्मक रूप शिव और आठ वसुओं के स्थान पर प्रजापति ब्रह्मा- ये तीन देवता प्रतिष्ठित हुए, जो सदैव एक साथ ही रहते थे। इन्हीं देवों में से विष्णु के अवतारों की भी कल्पना की गई।

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु में घञ प्रत्यय लगा कर होती है। पाणिनी के सूत्र 'अवे तृस्त्रोर्घञ' के अनुसार 'अवतार' शब्द का अर्थ है किसी ऊँचे स्थान से नीचे उतरने की क्रिया अथवा उतरने का स्थान। यह तो सामान्य अर्थ है। किन्तु इसका विशेष अर्थ है- किसी गहनीय शक्तिसम्पन्न भगवान या देवता का नीचे के लोक में ऊपर से उतरना तथा मानव या अमानवरूप धारण करना। इस प्रकार 'अवतार' की सिद्धि दो दशाओं में मानी जाती है- एक तो रूप का परिवर्तन और दूसरा नवीन जन्म ग्रहण कर तत्तद्रूप में आना जिसमें माता के गर्भ में उचित काल तक स्थिति भी अभिहित है।[१]

भण्डारकर के शब्दों में किसी देवता का अवतार और दो देवों के मात्र तादात्म्य दो भिन्न बातें है। अवतार में वह देवता, जिसे अवतार माना जाता है मनुष्य अथवा पशु की तरह भी कार्य करता है। साथ ही उसके पास दैविक शक्तियां भी होती हैं। तादात्म्य की कल्पना का अवतार की कल्पना में संक्रमण आसान है। सशरीर व्यक्ति का तादाम्य उस देवता से किया जाता है जो कि मात्र आत्मा है। अतएव जिस चिन्तन द्वारा वैदिक काल में अग्नि से कुछ देवों का तादात्म्य स्थापित हुआ था, वह अवतारों की इस धारण में भी कार्यरत रहा है।[२] नारायण या विष्णु के अवतारों की संख्या भी भिन्न-भिन्न बताई जाती रही है। प्रारम्भ मे विष्णु अथवा नारायण के केवल छः अवतार बताये गये हैं - शूकर, नृसिंह, वामन, भृगुवंशी राम, दाशरथि राम तथा वासुदेव कृष्ण। कालान्तर में दस अवतारों का उल्लेख प्राप्त होने लगता है जिनमें हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि भी सम्मिलित किये गये। वायुपुराण के अध्याय ९८ (श्लोक ६३) में क्रमशः बारह और दस अवतारों का उल्लेख किया गया है। प्रथम सूची में कुछ अवतार शिव और इन्द्र के प्रतीत होते हैं। दूसरी सूची में दत्रात्रेय, वेदव्यास, कल्कि व एक अन्य अवतार का उल्लेख है जिसका नाम न बताकर केवल पच्चम् अवतार कहकर इंगित किया गया है। वाराह एवं अग्निपुराण में भी दस अवतारों का ही उल्लेख मिलता है। भागवत पुराण में तीन विभिन्न स्थलों पर और श्रीमद्भागवत में २२ अवतारों का उल्लेख है। भागवतपुराण के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में २२ और द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में १६ अवतारों का उल्लेख है। इनमें सनत्कुमार, वराह, देवर्षि नारद (सात्वत मत के प्रचारक) नर-नारायण, कपिल (आसुरि को सांख्यमत का उपदेश देने वाले) दत्तात्रेय (अलर्क और प्रह्लाद को आन्वीक्षकी का उपदेश देने वाले, यदु और हैहय को योग द्वारा सिद्धि प्राप्त कराने वाले), यज्ञ, ऋषभ (नाभि एवं मेरूदेवी के पुत्र) आचार्य धनवन्तरि (आयुर्वेदाचार्य) पृथु, मत्स्य, कच्छप, मोहिनी, नरसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, रामचन्द्र, बलराम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि के नाम सम्मिलित हैं। इस सूची में हंस तथा हयग्रीव को सम्मिलित कर देने से इनकी संख्या २४ हो जाती है। श्रीमदभागवत में उल्लिखित २२ अवतारों की सूची में आठवें क्रम पर ऋषभदेव तथा इक्कीसवें क्रम पर बुद्ध का नामोल्लेख है। यह ऋषभ जैन तीर्थकर ऋषभदेव ही रहे होगें, जिन्होने

चित्तनैर्मल्य प्राप्त किया तथा समस्त भूतों को समभाव से देखते हुए एवं योगशक्ति से सम्पन्न हो जीवेतर प्राणी के समान आचरण किया। दूसरे स्थल पर यही संख्या तेइस हो गई है। कालान्तर में सूर्य तथा अन्य ग्रह (नवग्रह-सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु) और अष्ट दिक्पाल (इन्द्र, वरूण, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, निर्ऋति, ईशान) भी देवकुलों में सम्मिलित हो गये।[३]

डॉ गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के शब्दों में, ''यदि कोई मनुष्य साधना के द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त करता देखा जाता है तथा अनेक अन्य मनुष्य आपाततः उसी साधना से समान फल नहीं प्राप्त करते, तो यह मानना उचित होगा कि वह मनुष्य वस्तुतः ईश्वर का ही अवतार है। जो ईश्वर की अपनी माया अथवा अचिन्त्य शक्ति से लोक में अवतीर्ण होते हैं तथा लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हैं। ज्ञान का वितरण भी भगवान के अवतार का प्रयोजन है। भगवान ही सब गुरूओं के गुरू हैं, वहीं समस्त ज्ञान के आधार हैं, वही से ज्ञान की धारा लोककल्याण के लिए प्रवाहित होती है। जीव को मोक्ष प्रदान करना ही भगवान के अवतरण का मुख्य उद्देश्य है। बद्ध जीव दूसरे बद्ध को मुक्त नहीं कर सकता- -स्वयं बद्धः कथमपरान् तारयति' अतः शुद्ध बद्ध मुक्त भगवान ही बद्ध जीव के बंधन को काटने का मार्ग बताकर उसे मुक्त कर सकते हैं। यही अवतार का मुख्य प्रयोजन है। लौकिक बुद्ध को भी ऐश्वर्यशाली अलौकिक बुद्ध का अवतार अथवा निर्माण मानना चाहिये।''[४]

वैदिक धर्म के समान ही बुद्ध की संख्या में भी वृद्धि होती गई। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले पालि साहित्य में बोधिसत्व शब्द का प्रयोग सम्बोधि से पूर्व शाक्यमुनि को सूचित करने के लिए होता था। जातक साहित्य द्वारा शाक्यमुनि बुद्ध के असंख्य पूर्वजन्मों की कथायें प्रसिद्ध होती गई और बोधिसत्व का चरित भी विस्तृत होता गया। साथ ही शाक्यमुनि के अतिरिक्त अन्य पूर्वबुद्धों की भी कल्पना की गई और उन्हें भी बोधिसत्व ही कहा गया। प्राचीन पालि ग्रंथों में सात बुद्धों के नाम उल्लिखित हैं- विपस्सी, सिखि वेस्सभू, ककुसन्ध, कोनागमन, कस्सय और गोतम। ब्राह्मण धर्म के अवतारों के विपरीत इन सभी बुद्धों की जीवन घटनायें गौतम बुद्ध के ही समान है, जिन्हें 'धम्मता' कहा गया है। उनमें केवल विस्तर भेद ही पाया जाता है। दीघनिकाय के महापदानसुत्त में इन बुद्धों के विषय में सूचना देने के साथ ही उनके जन्म काल, जन्मस्थान, माता-पिता, जाति, गोत्र, आयु, बोधिवृक्ष, श्रावक-युग, श्रावक-सन्निपात, अग्र उपस्थाता आदि का उल्लेख किया गया है। खुद्दकनिकाय में बुद्धवंश में शाक्यमुनि बुद्ध के पूर्व चौबीस बुद्धों का वर्णन मिलता है जिनमें दीपंकर, कोण्डञ्ञ, मंगल, सुमन, रेवत, सोभित, अनोमदस्सी, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, सुमेध, सुजात, पियदस्सी, अत्थदस्सी, धम्मदस्सी, सिद्धस्थ, तिस्स और फुस्स सम्मिलित हैं। लंकावतार सूत्र में उल्लिखित है कि बुद्ध अन्नत रूपों में अवतरित होंगे और सर्वत्र अज्ञानियों में धर्मदेशना करेंगे। यहीं भागवत के चौबीस अवतारों के समान चौबीस बुद्धों का भी उल्लेख किया गया है।[५] महावस्तु में लोकोत्तरवाद की दृष्टि से बोधिसत्व की चर्या का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें अलौकिकता, पारमिताओं तथा भूमियों का विवरण प्राप्त होता है। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद तथा प्राचीन आगामों में बोधिसत्व को विलक्षण को और अद्भुत पुरूष मानते हुए भी मनुष्य माना जाता था, किन्तु संधि ने उनका सर्वथा अलौकिक बिवरण दिया है। महायान में हीनयान की बोधिसत्व-विषयक अवधारण का स्वाभाविक विकास दिखाई देता है। हीनयान में बुद्ध और बोधिसत्व असाधारण माने जाते थे और उनके आदर्श तथा मार्ग

का सफल अनुकरण सबके लिए सम्भव नहीं था। जबकि असाधारण होते भी बोधिसत्व मनुष्य कोटि से उत्तीर्ण नहीं है। हीनयान में एक से अधिक बुद्ध और बोधिसत्व स्वीकार करते हुए भी अनागत बुद्धों तथा वर्तमान बोधिसत्वों का स्थान नगण्य हैं महायान में महासांघिक दर्शित मार्ग से बुद्ध और बोधिसत्वों की असाधारणता स्पष्ट ही अलौकिकता में परिवर्तित हो गयी, किन्तु दूसरी ओर उनका आदर्श सबके लिए अनुकरणीय बताया गया।[६]

जैनधर्म में तीर्थकर बनने की प्रक्रिया के समान ही सूत्रालंकार[७] में बुधत्व प्राप्ति हेतु प्रयत्नों का वर्णन है, जिसके अनुसार कोई भी मनुष्य प्रारम्भ से ही बुद्ध नहीं होता। बुद्धत्व की उपलब्धि के लिए पुण्य और ज्ञान-संभार की आवश्यकता होती है। लंकावतारसूत्र में कहा गया है कि बुद्ध किसी भी रूप को धारण कर सकते हैं। यहीं गंगा की रेत के समान असंख्य बुद्धों को भूत, भविष्य और वर्तमान में तथागत रूप[८] कहा गया है। इसी प्रकार की तुलना संद्धर्भ पुण्डरीक में भी की गई है।[९] बौद्ध साहित्य में पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए बुद्ध के असंख्य अवतारों की कल्पना की गई किन्तु आगे चलकर यह संख्या ५, ७, २४ और ३६ में ही सीमित हो गई। जातककथाओं में एक कथा से भी चौबीस बुद्धों की उपस्थिति सिद्ध होती है।[१०] इस कथा के अनुसार, प्राचीनकाल में सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्हीं के समय दीपंकर बुद्ध उत्पन्न हुए। लोग दीपंकर बुद्ध के स्वागत हेतु मार्ग सजा रहे थे। सुमेध परिव्राजक उस कीचड़ में मृगचर्म बिछा कर लेट गया। उस मार्ग से जाते समय सुमेध की श्रद्धा और भक्ति को देखकर बुद्ध ने भविष्यवाणी की- ''यह कालान्तर में बुद्ध होगा।'' उसके पश्चात सुमेध ने अनेक जन्मों में सभी पारमिताओं की साधना पूर्ण की। उन्होंने विभिन्न कल्पों में चौबीस बुद्धों की सेवा की और अंत में लुम्बिनी में सिद्धार्थ नाम से उत्पन्न हुये।[११] इस प्रकार इस कथा के माध्यम से चौबीस बुद्धों की परिकल्पना की पुष्टि होती है। किन्तु वैदिक परम्परा के अवतारों की तरह बौद्ध परम्परा के बुद्धों की संख्या निश्चित नहीं है। कहीं इनकी संख्या अनन्त है तो कहीं केवल सात मानुषी बुद्ध माने गये हैं[१२] और पुन: कहीं पर उनकी संख्या चौबीस हो जाती है।[१३] महाभारत की एक सूची में ३२ बुद्धों के नाम दिये गये हैं।[१४]

ब्राह्मण और बौद्ध परम्पराओं के समान ही जैन परम्पराओं में तीर्थकर की अवधारणा का स्वरूप दिखाई देता है। परम्परागत चौबीस तीर्थंकरों का प्राचीनतम उल्लेख समवायांगसूत्र (१५७) में प्राप्त होता है। इसका अंतिम स्वरूप पांचवीं शताब्दी ईस्वी में देवर्धिगणिक्षमाश्रमण ने निर्धारित किया था। भगवतीसूत्र (२०.८ ५८-५९) १६.५, कल्पसूत्र (२.१८४-२०३), नन्दीसूत्र (५६.१५१, १५२ सम्पा० श्री हस्तीमल), चतुर्विंशतिस्तव आदि ग्रंथों में तीर्थंकरों की यही संख्या दी गई है।

इनके अतिरिक्त आवश्यक नियुक्ति (आवश्यकनिर्युक्तिवर्णन) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति (भाग ३, आगमोदय समिति), आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति (भाग ३, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत) और आवश्यकचूर्णि (भाग १-२, रतलाम) से भी चौबीस तीर्थंकरों का विवरण मिलता है। आगे चलकर चउप्पन्न महापुरिसचरियं (आचार्य शीलांकरचित तथा चौप्पन्न महापुरूषोनाचरितो, अनुवादक हेमसागर जी), त्रिषष्टि शलाका पुरूषचरित्र (आचार्य हेमचन्द्र विरचित, भावनगर), महापुराण (आचार्य जिनसेन, वाराणसी), उत्तरपुराण (आचार्य गुणभद्र, वाराणसी) आदि ग्रंथों से भी इस विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। किन्तु आचारांग और सूत्रकृतांग में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता।

पालिसाहित्य में ऋषभदेव, अरिष्टनेमि (अरनेमि), पार्श्वनाथ और महावीर का नामोल्लेख प्राप्त होता है किन्तु शेष बचे बीस तीर्थंकरों का कोई उल्लेख नहीं है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे से इक्कीसवें तीर्थंकरों की क्रमिकता उत्तरकालीन विकास का परिणाम है।[१५] इन तीर्थंकरों की जीवन घटनायें भी लगभग एक समान हैं जैसी कि बुद्ध की जीवन घटनायें हैं। इस प्रकार अनेक विद्वानों का विचार है कि चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई.पू. में स्थापित हो चुकी थी। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इसी तथ्य की पुष्टि हो पाती है। मथुरा और चौसा से प्राप्त ध्यानी ऋषभदेव की मूर्तियां कुषाणकालीन (द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई.पू.) हैं। मथुरा से ही प्राप्त अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ एवं महावीर की मूर्तियां इसी तिथि की ओर इंगित करती हैं। हाथीगुम्फा अभिलेख में भी कलिंगराज खारवेल द्वारा अपने शासन के बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण करके राजा नन्द द्वारा वहां ले जाई गई जिन प्रतिमा वापस लाने का उल्लेख है - ''वारसमे च वसे... मागधं च राजानं वहसतिनिमित्तं पादे वंदापयति नन्दराजनीतं च कलिंगजिनं सन्निवेसं ... गहरतनान पडिहारेहि अंगमागधवसुं च नेयाति।''

किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन धर्म में तीर्थंकर को न तो ईश्वर का अवतार या अंश कहा गया है और न ही देवी सृष्टि का अजीब प्राणी ही स्वीकार किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर का जीव अतीत में एक दिन हमारी ही तरह सांसारिक प्रवृतियों के दल-दल में फंसा हुआ था, पापरूपी पंक से लिप्त था, कषाय की कालिमा से कलुषित था, मोह की मदिरा से मत्त था, आधि-व्याधि और उपाधियों से संत्रस्त था। हेय, ज्ञेय और उपादेय का उसे भी विवके नहीं था। भौतिक व इन्द्रियजन्य सुखों को सच्चा सुख समझकर पागल की तरह उसके पीछे दौड़ रहा था। किन्तु एक दिन महान पुरूषों के संग से उसके नेत्र खुल गये। भेद विज्ञान की उपलब्धि होने से तत्व की अभिरूचि जागृत हुई। सही व सत्य स्थिति का उसे परिज्ञान हुआ।[१६] किन्तु जब तक तीर्थंकर सांसरिक भोग विलास, सुख वैभव में लिप्त है तब तक वह तीर्थंकर नहीं कहा जा सकता। श्रमण के रूप में वह महाव्रतों का पालन करता है, भयंकरतम उपसर्गों को शान्तचित्त से सहन करता है और जब ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म रूपी घाति चातुष्टय को अपनी साधना द्वारा नष्ट करता है, तब ही उसे कैवलज्ञान अथवा कैवलदर्शन की प्राप्ति होती है। उस समय वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, रूप तीर्थ की संस्थापना करते है, और तीथकर कहलाते हैं।

उपरोक्त विवरणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि अवतारों की यह अवधारणा किधर से किधर गई अथवा किसने किससे इस अवधारणा को ग्रहण किया। जैन धर्मावलम्बी विद्वानों एवं बौद्ध परम्पराओं को जैन परम्पराओं का अनुगामी कहा है। चूँकि वैदिक परम्परा में तीर्थंकरों की नहीं, बल्कि अवतारों की अवधारणा रही है अत: वहां चौबीस अवतारों का प्रणयन किया गया है। अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में उन्होंने तर्क दिया है कि पुराणों में अवतारों की संख्या भिन्न-भिन्न है। भागवतपुराण में एक प्रसंग में भगवान के असंख्य अवतार बताये गये हैं।[१७] किन्तु एक अन्य प्रसंग में सोलह, बाईस व चौबीस अवतारों की बात कही गई है।[१८] दशम स्कंध की एक सूची में बारह अवतारों का उल्लेख है।[४] लेकिन आगे चलकर पांचरात्र वासुदेव के ही पर्याय विभावों की संख्या २४ से बढ़कर ३९ तक पहुँच गई है।[२०] किन्तु वासुदेव के २४ विभव चौबीस अवतार न होकर श्रीकृष्ण के ही चौबीस नाम दिखाई देते हैं। वैदिक अवतारों

का यह अव्यस्थित रूप आगे भी चलता रहता है। लघु भागवतामृत (श्लोक ३२) में २५ तथा सात्वततंत्र (द्वितीय पटल) में लगभग ४१ अवतारों का वर्णन है। इन अवतारों में मत्स्य, वराह, कूर्म आदि पशु, हंस पक्षी और नृसिंह तथा हयग्रीव जैसे अर्धपशु व अर्धमानव रूप सम्मिलित हैं। अत: इतिहासकारों ने भागवतपुराण में उल्लिखित चौबीस अवतारों को जैन परम्परा से ही प्रभावित कहा है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी ब्राह्मण अवतारवाद को बौद्धों के २४ बुद्ध व जैनों के २४ तीर्थंकरों से ही अभिप्रेरित स्वीकार किया है।[२१]

डॉ० राजेन्द्र मुनि[२] का कथन है, 'ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि चौबीस तीर्थंकर और चौबीस बुद्ध की अपेक्षा, चौबीस अवतार की कल्पना उत्तरवर्ती है, क्योंकि महाभारत के परिवर्धित रूप में भी दशावतारों का ही उल्लेख है। महाभारत से श्रीमद्भागवत तक के अन्य पुराणों में १०, ११, १२, १४ और २२ तक की संख्या मिलती है, किन्तु चौबीस अवतार का स्पष्ट उल्लेख भागवत (२१७) में ही मिलता है। पं० बलदेव उपाध्याय ने श्रीमद्भागवत का काल अधिक से अधिक छठी शताबदी ईस्वी माना है।[२३] बुद्धों की संख्या में भी बारम्बार भिन्नता दिखायी देती है। इसी को आधार बनाकर जैन परम्परा के पोषक व समर्थक चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा को २४ वैदिक अवतारों और २४ बुद्धों की परम्परा से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं क्योंकि वहां तीर्थंकरों की संख्या में एकरूपता है, चाहे उनका उल्लेख श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में हुआ हो अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय के। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख समवायांग, भगवती जैसे प्राचीन अंग ग्रन्थों में हुआ है जिनके अर्थ के प्ररूपक स्वयं भगवान महावीर माने जाते हैं। भगवान महावीर को ई०पू० ५५७ में कैवलज्ञान प्राप्त हुआ और ५२७ ई०पू० में महापरिनिर्वाण।[२४] अत: समवायांग का रचनाकाल भी ५५७ से ५२७ ई०पू० के मध्य में ही माना जायेगा। इस प्रकार अनेक विद्वान चौबीस तीर्थंकरों को चौबीस बुद्धों और चौबीस अवतारों की अपेक्षा बहुत प्राचीन मानते हैं। उनके विचार से चौबीस तीर्थंकरों की महिमा और गरिमा में अत्यधिक वृद्धि के कारण ही वैदिक एवं बौद्ध विद्वानों एवं परम्परा निर्धारकों व पोषकों ने अवतारों व बुद्धों की कल्पना की। इसीलिए उसमें एकरूपता व सुव्यवस्था नहीं है, जैसी कि जैन ग्रन्थों व परम्पराओं में दिखायी देती है। अन्य परम्पराओं के विपरीत यहां पशु-पक्षियों की गणना तीर्थंकरों के रूप में नही की गई है। जहाँ महावीर ने अनेक बार अपने पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ का उल्लेख किया है,[२५] वहीं बुद्ध ने कहीं भी अपने पूर्ववर्ती बुद्ध का उल्लेख नहीं किया है। बल्कि वे सदैव यही कहते हैं मैं ऐसा मानता हूँ[२६] इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि बुद्ध से पूर्व बौद्धधर्म में बुद्धों की कोई परम्परा नहीं थी, जबकि जैनधर्म में महावीर से पहले भी परम्परायें (पार्श्वनाथ) विद्यमान थीं। जैन दृष्टि से भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे के उपसंहारकाल में हुए हैं।[२७] चौबीसवें तीर्थंकर महावीर और ऋषभदेव के बीच असंख्य वर्षों का अन्तराल है। वैदिक साक्ष्यों के अनुसार ऋषभदेव प्रथम सतयुग के अंत में और राम कृष्ण के अवतारों से भी पूर्व हुये हैं।[२८] श्रीमद्भागवत में भी वासुदेव के आठवें अवतार के रूप में ऋषभदेव का उल्लेख किया गया है। जिनका अवतार नाभि और मरूदेव के यहां हुआ था -

अष्टमे मरूदेव्यां तु नाभेजति उरुक्रम:।

दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतम्।[२९]

सन्दर्भ :

१. उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५, पृ० १६३.

२. भण्डारकर, आर०जी०, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, अनुवादक माहेश्वरी प्रसाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी-१९८३, पृ० ४७.

३. जैन, भागचन्द्र, जैन संस्कृति कोश, प्रथम भाग, जैन संस्कृति, कला और पुरातत्व, नागपुर, वाराणसी, पृ० ३२५.

४. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९०, पृ० २४३.

५. लंकावतारसूत्र, ४०, पृ० २२९.

६. पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० ३५७.

७. सूत्रालंकार, ९/७७.

८. लंकावतारसूत्र, पृ० १९८.

९. सद्धर्मपुण्डरीक, १४१९, पृ० ३०२.

१०. जातक अट्ठकथा, दूरेनिदान, पृ० २-३६.

११. महायान - भदन्त शान्तिभिक्षु की प्रस्तावना, पृ० १५.

१२. देव, नरेन्द्र आचार्य, बौद्ध धर्मदर्शन, पृ० १२१.

१३. उपरोक्त, पृ० १०५.

१४. भट्टाचार्य, विजयघोष, दी बुद्धीस्ट आकनोग्राफी, पृ० १०.

१५. जैन, भास्कर,पूर्वोक्त, पृ० ३२६.

१६. मुनि, राजेन्द्र, चौबीस तीर्थंकर, नई दिल्ली, २००२, पृ० १६.

१७. भागवत पुराण, १.३.२६.

१८. भागवत पुराण, १०.२.४०.

१९. उपरोक्त

२०. ये चौबीस विभव इस प्रकार हें - १. केशव २. नारायण ३. माधव ४. गोविन्द ५. विष्णु ६. मधुसूदन ७. त्रिविक्रम ८. वामन ९. श्रीधर १०. हरिकेश ११. पद्भनाभ १२. दामोदर १३. संकर्षण १४. वासुदेव १५. प्रद्युम्न १६. अनिरूद्ध १७. पुरूषोत्तम १८. अधुक्षज १९. नरसिंह २०. अच्युत २१. जनार्दन २२. उपेन्द्र २३. हरि २४. श्रीकृष्ण।

उन्नतालीसं विभवों के नाम इस प्रकार हैं - १. पदनाभ २. ध्रुव ३. अन्नत ४. शकत्यात्मन ५. मधुसूदन ६. विद्याधिदेव ७. कपिल ८. विश्वरूप ९. विहंगम १०. क्रोधात्मन ११. वाडवायक्त्र १२. धर्म १३. वागीश्वर १४. एकार्णवशायी १५. कमठेश्वर १६. वाराह १७. नृसिंह १८. पीयूष-हरन १९. श्रीपति २०. कान्तात्मन १. राहुजीत २२. कालनेमिहन २३. पारिजातहर २४. लोकनाथ

२५. शान्तात्मा २६. दत्तात्रेय २७. न्यग्रोधशायी २८. एक श्रृंगतनु २९. वामनदेव ३०. त्रिविक्रम ३१. नर ३२. नारायण ३३. हरि ३४. कृष्ण ३५ परशुराम ३६. राम ३७. देवविधि ३८. कल्कि ३९. पातालशयन

२१. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, १९५१, पृ० १३.

२२. मुनि, पूर्वोक्त, पृ० २२.

२३. उपाध्याय, बलदेव, भागवत सम्प्रदाय, पृ० १५३.

२४. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० ११७.

२५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, श ५, उद्दे० ९, सू० २२७ एवं उद्दे० ३२.

२६. मज्झिमनिकाय ५६, अंगुत्तरनिकाय

२७. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एवं कल्पसूत्र

२८. जिनेन्द्रमतदर्पण भाग १, पृ० १०.

२९. श्रीमद्भागवत, १/३/१३.

✱

वेदों में राजत्व की अवधारणा

कमलेश दूबे*, विनीता कुमारी**

प्राचीन काल से ही भारतीय विचारक अध्यात्म के क्षेत्र में जितने उन्नत थे, उतने ही वे समाज स्थापना और उसके स्थायित्व के प्रति भी सचेष्ट थे। इसी क्रम में उन्होंने राजा की आवश्यकता, महत्व एवं उसकी उपादेयता को स्वीकार किया। राजा शब्द ही उसकी प्रजा रंजक प्रकृति का भास कराता है। अथर्ववेद के अनुसार- "सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत्।"[१] अर्थात् उसने राष्ट्र में प्रजा का रंजन किया, इसी कारण वह 'राजन्य' कहलाया।

वैदिक काल में राजनीतिक संगठन का विकास कुल, कुलज, ग्राम, ग्रामणी, विश, विशपति, जन, जनपति (राजा) के रूप में हुआ। डॉ० सिन्हा वैदिक काल में प्रथम राजा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहते है कि एक जनसमूह जिस स्थान पर भी बस जाता होगा, उसके प्रति उनमें प्रेम की भावना उत्पन्न हुई होगी, इस भावना ने प्रतिरक्षा एवं आक्रमण की आवश्यकताओं को सुदृढ़ बनाया होगा, जिससे राजनीतिक चेतना का उद्भव हुआ होगा।[२]

सम्भवत: राजा की आवश्यकता भी विकास की एक सतत् प्रक्रिया थी, क्योंकि जिस प्रकार राज्य का प्रारम्भ मनुष्य जीवन के साथ-साथ परिवार के रूप में हुआ, उसी प्रकार राजा की उत्पत्ति भी मानी जा सकती है। आर्य जातियों में गृहपति के अधिकार और पद प्राय: राजा के ही समान थे। नरेन्द्र नाथ लॉ का कथन है कि "मानव समाज की सभी शाखाएँ संयुक्त परिवार से विकसित हुई, क्योंकि जहाँ कही भी आर्य जाति रही परिवार का मुखिया ही सर्वोपरि रहा।[३]

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का सूक्त १७३ तथा १७४ का विषय पूर्णरूपेण राजा है, जिसमें उल्लिखित है,

"ध्रुवा धौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवास: पर्वता इमे।
ध्रुवं विच्श्रमिंद जगद ध्रुवो राजा विशामयम्।"[४]

"अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातय:।
अभि पितृन्यन्तं तिष्छभि यो न इरस्यति।।"

इससे स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों ने अपनी समकालीन जनता के कल्याण हेतु राजा की आवश्यकता समझ कर योग्यतम् व्यक्ति को राजा बनाया।

वैदिक साहित्य के कुछ अंशों से इस बात की पुष्टि होती है कि राजपद की उत्पत्ति सैनिक आवश्यकता के फलस्वरूप हुई। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार- "बहुत् समय पहले देवताओं व असुरों के मध्य संघर्ष हुआ, जिसमें देवताओं की पराजय हुई। तब देवताओं ने

* *प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी०जी०कॉलेज, वाराणसी।*

आपस में मिलकर यह मत प्रस्तुत किया कि हमारी परायजय का कारण, हमारे मध्य राजा का न होता है। तब उन्होंने आपसी सहमति से 'सोम' को अपना राजा बनाया और उन्हें युद्ध में विजय प्राप्त हुई। एक स्थान पर बताया गया है कि देवताओं द्वारा 'इन्द्र' को प्रथम राजा बनाया गया क्योंकि वह उन सब में सर्वाधिक योग्य, शक्तिशाली तथा वरिष्ठ था।[५]

एक अन्य स्थल पर बताया गया कि वरूण देवताओं का राजा बनना चाहता था, किन्तु देवताओं ने उसके नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् प्रजापति का आशीर्वाद प्राप्त कर उसने अन्य देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त की, तब उसका राजपद समस्त देवताओं द्वारा स्वीकृत किया गया।[६]

यजुर्वेद के एक मंत्र में बताया गया है कि वैदिक आर्यो ने अपने शत्रु अनार्य लोगों के दमन हेतु समाज में सर्वप्रथम ''राजा'' का निर्माण किया। उक्त मन्त्र में यह तथ्य इस प्रकार वर्णित है- हे इन्द्र! तुझे राक्षसों के वध हेतु राजा नियुक्त करता हूँ।[७]

राजपद के दैवीय सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण उपनिषदों में प्राप्त होता है। वृहदारण्यक उपनिषद में राजत्व निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है इसमें बतलाया गया है कि ''आदिकाल में एकमात्र ब्रह्म ही था, किन्तु अकेला होने के कारण ब्रह्म विभूतियुक्त कार्य करने में असमर्थ था, इसलिए उसने 'क्षत्र' का निर्माण किया और उसने देवों के राजा 'इन्द्र' जलचरों का राजा 'वरूण', रोगों का राजा 'मृत्यु', पशुओं का राजा रूद्र, वर्षा का राजा पर्धन्य, पितरों का राजा यम, प्रकाश का राजा ईशान आदि का सृजन किया।[८]

वृहदारण्यक उपनिषद के इस आख्यान से स्पष्ट होता है कि राजत्व की उत्पत्ति ब्रह्म की इच्छा के फलस्वरूप हुई थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण[९] भी राजत्व के दैवी उत्पत्ति का समर्थन करता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि ब्रह्मा ने देवताओं में कनिष्ठ इन्द्र को राजा बनाया। बड़े देवताओं ने इन्द्र के छोटे होने के कारण उन्हें अपना राजा मानना अस्वीकार कर दिया। इस पर इन्द्र ब्रह्मा के पास गये और उन्हें स्थिति से अवगत कराया। ब्रह्मा ने उन्हें कुछ विशेषतायें प्रदान की। देवताओं के राजा 'इन्द्र' इस प्रकार ब्रह्मा के ही कारण प्रभावशाली राजा बन सके। यह विवरण विशुद्ध रूप से दैवी उत्पत्ति के विषय में सूचना प्रदान करता है।

राजात्व की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की सूक्ष्म विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के लिए सबसे बड़ी उपलब्धि है, राजा प्राप्त करना, क्योंकि राजा विहीन देश में धर्म, जीवन एवं सम्पत्ति का नाश हो जाता है, इसलिए जनरक्षार्थ राजा की नियक्ति की गयी।

राजत्व का विकास प्रारम्भ से ही राजनीतिक एवं भौगोलिक अनिवार्यताओं के साथ ही समस्त सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अपेक्षाओं तथा विवशताओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है। अति प्रारम्भिक राजत्व राजनीतिक जीवन की कुछ सीमित आवश्यकताओं तथा अपेक्षाओं से ही प्रतिबद्ध था जिसकी विशेषतायें अधिक व्यापक ढंग से सामान्यत: आर्यो के इतिहास से ली जा सकती है जो मानव जाति की सामाजिक व राजनीतिक विकास की प्राचीन अवस्था से सम्बन्ध रखती है। यह कुल या गोष्ठी प्रणाली थी, जो कुल या जाति के सभी स्वतंत्र मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित थी। सामुदायिक विचार-विमर्श के लिए, यज्ञ तथा पूजा के लिए, युद्ध के सैन्य दल के रूप में जनसाधारण की सभा, जिसे विश: भी कहा जाता था, एकत्र होते थे। उनकी यह सभा दीर्घकाल तक

जनसमुदाय की शक्ति का चिन्ह रही।[१०] जनों में जनप्रमुख की स्थिति अभी 'गण' से बहुत भिन्न नहीं कहीं जा सकती थी।[११]

वैदिक कालीन राजा जनप्रमुख के रूप में था तथा पूर्ण वैदिककालीन राजपद संयुक्त कुटुम्ब पद्धति से उत्पन्न हुआ था, इसलिए वह प्राय: अनुवांशिक था। ऋग्वेद में हमें इस सन्दर्भ में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिसमें लगातार चार पीढ़ियों तक राजपद उत्तराधिकार में प्राप्त होता रहा जैसे वृहद्रश्व, दिवोदास, यिजनव, सुदास, त्रसदस्यु आदि।[१२] यद्यपि कुछ स्थलों में हमें राजा के निर्वाचन के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं, किन्तु वे मात्र अपवाद ही है।

वेदकालीन राजा को यद्यपि उच्चतम शक्ति, गरिमा व देवत्व प्राप्त था, तो भी उस पर जनविद्रोह, क्रान्ति व जनपलायन इत्यादि का अंकुश रहता था। उदाहरणार्थ वैराज्य वंश के दृष्ट राजा वेनू की हत्या का उल्लेख मिलता है। सूर्यवंशी राजा त्रिशंकु को सत्ता से अपदस्थ करने तथा राज्य से निष्कासित करने का भी उल्लेख मिलता है।[१३]

उत्तरवैदिक काल में प्रभुसत्ता का विकास हुआ। सीमा की सुरक्षा तथा सीमा विस्तार के प्रश्न पैदा हुए। विजिगीषु तथा चक्रवर्ती सम्राट की परिकल्पनायें अस्तित्व में आयी। इस काल तक आते-आते दस पीढ़ियों तक आनुवंशिक राजाओं का उल्लेख मिलता है जैसे सृजय वंश आदि। राजपद का महत्व बढ़ गया था, इसलिए राजा को 'देवता' समझने की प्रथा प्रारम्भ हुई। अथर्ववेद में राजा परीक्षित को मर्त्यलोक का 'देव' बताया गया है।[१४] ए०एस० अल्तेकर का मत है कि सम्भवत: उत्तर वैदिक काल में राजा को राज्य की समस्त भूमि का मालिक समझा जाने लगा। कर वसूली करने की प्रथा पूर्ण प्रस्थापित हो चुकी थीं युद्ध की लूट में राजा का सबसे बड़ा हिस्सा होता था।

उत्तरवैदिक कालीन ग्रन्थों में राजा का वर्णन 'धृतव्रत' के रूप में किया गया है। अर्थात व्रतों व नियमों का पालन करने वाला। इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि नियमों व परम्पराओं के अनुसार राज्य का संचालन व सामाजिक व्यवस्था रखना, इस काल में राजा का परम कर्तव्य माना गया।

अथर्ववेद[१५] में आदर्शभूत परोक्षित राजा के राज्य का वर्णन है, जिसके राज्य में प्रजा सुख सम्पत्ति का उपभोग करती थी, उन्हें अपनी सुरक्षा के बारे में बिल्कुल आशंका नहीं रहती थी।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरवैदिक काल तक राजतंत्र सशक्त होकर शासन का सामान्य रूप ग्रहण कर चुका था। सर्वोपरि सत्ता और सामान्य शक्ति के भाव का विकास हो रहा था, जिसमें एक व्यक्ति ''राजाधिराज'' बनता था। ऐतरेय ब्राह्मण[१६] के अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासक 'एकराट्' कहलाता था। अथर्ववेद के अनुसार 'एकराट्' सर्वोपरि शासक को कहते है जैसे प्राच्य देश की प्रजाओं के अधिकारी व अधिपति थे- 'प्राङ्विशाम्पति:[१७]

राजाओं के समक्ष आदर्श था- मैं सब प्रकार की विजयों में जय करूँ, सब राजाओं के ऊपर श्रेष्ठता, सब लोकों को प्राप्त करूँ, प्रतिष्ठा एवं परमता को प्राप्त करूँ एवं साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, परमेष्ठय, राज्य, महाराज, अधिपत्य तथा सबके ऊपर सार्वभौम बनकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकराट् शासक बनूँ।[१८] यद्यपि एकाधीन राजतंत्र सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त

कर चुका था किन्तु वह निरकुंश या सर्वहारा न होकर कई प्रकार से मर्यादित था। राजतंत्र के भीतर सभा व समिति जैसी प्रजातंत्रीय संस्थायें भी थी, जो राजा के निरंकुश अधिकारों पर रोक लगाती थी।[१९]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजत्व के विकास के अन्तर्गत ही राजा की शक्ति एवं उसकी सम्प्रभुता में भी परिवर्तन होता रहा है। प्रारम्भ में राजा एक सैनिक सरदार के रूप में था, क्षेत्रीय प्रभुसत्ता की स्थापना ने राजा की शक्ति को विकसित किया।

कालान्तर में राजा का पद प्रायः आनुवंशिक हो गया और राजा के लिए उसका राज्य कालान्तर में उसकी धरोहर तथा सम्पत्ति दोनों ही रूपों में स्वीकार होता गया।

सन्दर्भ :

१. अथर्ववेद - १५-८-१०.
२. एच०एन० सिन्हा, डेवलपमेन्ट ऑफ इण्डियनर पॉलिटी - पृ० २२-२४.
३. ऐतरेय ब्राह्मण, १, १४.
४. जे०एफ० रिचर्ड, किंगशिप एण्ड एथोरिटी इन साउथ एशिया।
५. बेनी प्रसाद, थ्योरी ऑफ गर्वनमेण्ट अध्याय - २, पृ० - १५.
६. ए०एस० अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एनशिएण्ट इण्डिया, पृ० ७५.
७. यजुर्वेद ३८/९.
८. वृहदारण्यक उपनिषद - ११/४/१.
९. तैत्तिरीय ब्राह्मण - ११-२, ७-२.
१०. आर०एस० शर्मा - प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं सामाजिक संस्थाएं, पृ० २८३.
११. राधाकृष्ण चौधरी - प्राचीन भारत में राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास, पृ० ३२.
१२. ए०एस० अल्तेकर - प्राचीन भारत में शासन पद्धति - अध्याय - १५.
१३. बेनी प्रसाद - थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एनशिएण्ट इण्डिया।
१४. चार्ल्स ड्रेकमेयर - किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ० २७०.
१५. अथर्ववेद - २०-१२७.
१६. ऐतरेय ब्राह्मण - ९/१५.
१७. अंथर्ववेद - ३/१/१४.
१८. ऐतरेय ब्राह्मण - ८/१५.
१९. चार्ल्स ड्रेकमेयर - किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ० २७०.

✱

वेद तथा वेदाङ्गों का ऐतिहासिक विकास

सुमन यादव*

वेद ही भारतीय धर्म एवं संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन तथा धर्म-कर्म का सम्यक् वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। अत: वेद राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में हिन्दुओं के एक विशाल अक्षय स्रोत हैं। वेद आर्यों के ही नहीं, बल्कि मानव जाति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों एवं उत्तर वैदिक ग्रन्थों में विविध प्रकार के धार्मिक मतों एवं दार्शनिक तत्वों की जानकारी प्राप्त होती है। उपनिषदों में समग्र आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के बीज मंत्र प्राप्त होते हैं। यदि कठोपनिषद् का 'नेह नानास्ति किञ्चन' अद्वैत तत्त्व का बीज रूप का सूचक है, तो श्वेताश्वतर में वर्णित लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अजा सांख्याभिमत सत्त्वरजस्तमोमयी त्रिगुणत्मिका प्रकृति की प्रतीक है। यदि हम रामानुज के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, बल्लभके शुद्धादैत, चैतन्य के अचिन्त्य भेदाभेद के रहस्योद्घाटन के अभिलाषी हैं, तो उपनिषदों का गम्भीर मनन तथा पर्यालोचन ही अनन्य साधन है।[१]

जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, वह ऋक् (ऋचा या मन्त्र) कहलाता है - ''ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया इति ऋक्'' ऐसी ऋचाओं या मन्त्रों के समूह का ही नाम संहिता है। यह संहिता - ऋक्, यजु:, साम व अथर्व के नाम से जानी जाती है। इस प्रकार जो चार संहिताएं मिलती हैं, वे ही चार वेद हैं। इन वेदों में मन्त्रों के द्वारा मुख्यत: देवताओं की स्तुति तथा प्रार्थना की जाती है।

प्राचीन काल में अनेक देवों की सत्ता में आर्यों का विश्वास था। आर्य अपने साथ विजय, अन्न और धन देने वाले देवताओं की अनुकूलता के लिए ऋचाओं का उनके सस्वर मान का और बलिदान युक्त यजन् का धर्म लेकर यहाँ आये। इनके इन्द्र, वरूण, सविता आदि अनेक देवता हैं।

इनकी गतिशीलता, भास्वरता और दानशीलता देखकर ऋषियों ने चेतन शक्ति में देवत्व का दर्शन किया था। वैदिक देवताओं में महत्व की दृष्टि से कोई छोटा या बड़ा नहीं है। सब समान हैं। वैदिक ऋषि जिस देवता की भी स्तुति करता है, वह उसे उस समय महत्व की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित करता है। अग्नि, इन्द्र और और सोम का महत्व उनके स्तवन में गाये गये मन्त्रों की संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक ठहरता है। ये देवता प्रकृति के तत्वों की चेतन शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु इन्द्र का स्तवन बहुधा जातीय वीर अथवा युद्ध के देवता के रूप में किया गया है। कुछ विचारकों का मानना है कि ''आर्य प्रकृति प्रेमी थे। वे कल्पनाशील भी थे। वेदों उद्धृत सूक्तियों और उनमें निहित काव्यमय सौन्दर्य के आधार पर उनके कवि

* *शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

स्वभाव को रेखांकित किया जा सकता है। उन्होंने अपने इसी स्वीभाव के कारण प्राकृतिक शक्तियों में मानव सुलभ व्यापारों को देखा। आत्मा और प्रकृति के बीच अनन्य सम्बन्ध को स्थापित किया। आर्यों के लिए प्रकृति एक जीवित सत्ता के समान थी। प्रकृति में इसीलिए वे रहस्यमय दैवीय आलोक को मूर्तिमान देख सकते थे। वे सूर्य, चन्द्र, तारे, आकाश सब के सब प्रकृति के तत्त्व उनके लिए दैवीय विषय थे। कहना न होगा कि इस प्रकार के दैवीय विचार वैदिक युग के प्रारम्भिक युग की देन है। किन्तु कालान्तर में आर्यों के जीवन में परिवर्तन आया। उन्होंने मानव सदृश देवों की कल्पना शुरू कर दी और धीरे-धीरे 'अवतारवाद' अवचेतन से निकल कर आकार पाने लगा।''[२] देवों को साक्षात् करने तथा श्रद्धामयी पूजा देने का प्रधान उपकरण 'यज्ञ' माना गया है। ऋग्वेद् के अधिकांश मन्त्र इन्हीं को लक्ष्य कर प्रवर्तित होते हैं। ऋग्वेदीय युग का एक आवश्यक धार्मिक कृत्य, यज्ञ के अवसर पर इन्द्र, वरूण, अग्नि, सूर्य, सविता, अश्विन् आदि देवताओं के लिए सोमरस का समर्पण करना था। 'यजुः' तथा 'साम' का प्रयोग भी इसी के लिए होता था। फलतः ये तीनों ऋक्, यजुः तथा साम ऐसे मन्त्रपुञ्ज हैं जो एक ही यज्ञ को ध्यान में लक्ष्य कर प्रवृत होते हैं। इस प्रकार जहाँ ये तीनों वेद पारलौकिक फलों के दाता हैं, वहाँ अथर्ववेद 'इहलौकिक' है। अथर्ववेद में प्राचीन मानव समाज की ऐसी नाना क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का विशद् वर्णन उपलब्ध होता है जो वैदिक साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का मानना है कि - ''शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोग निवारण के लिए, सद्योजात बालकों तथा उनकी माताओं को संतप्त करने वाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद को मानवशास्त्र के अभ्यासियों के निमित्त एक बहुमुल्य विश्वकोष सिद्ध करता है। अथर्ववेद का जादू-टोने का उत्कृष्ट साम्राज्य भी मानव-संस्कृति के आदिम युग का परिचायक है।''[३] इस प्रकार स्वर्ग की प्राप्ति के साथ ही साथ सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रुओं की पराजय भी अथर्ववेद का उद्देश्य था। अथर्ववेदीय काल में यज्ञ एक प्रकार से माया शक्ति का आश्रय माना जाने लगा और इस माया शक्ति से सम्पन्न होने के कारण 'यज्ञ' का नाम ही 'ब्रह्मन्' पड़ गया। इस प्रकार अथर्ववेद में यज्ञ की भावना में भी.एक विकास का परिचय मिलता है। यह विकास भौतिक रूप से मानस स्तर तक पहुँचने का सूचक है। इस प्रकार अथर्ववेद में 'यज्ञ' के स्वरूप तथा विधान में पूर्ववेदों की अपेक्षा मौलिक परिवर्तन प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि में 'यज्ञ' एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसके प्रत्येक क्रिया-कलाप का अपना महत्व है। इस यज्ञ का पूर्ण निर्वाह तथा समग्र फल इन विधानों के उचित अनुष्ठान पर ही आश्रित होता है। अतः यज्ञों के पूर्ण परिचायक के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना की गयी। ये 'ब्राह्मण' मन्त्रों के भाष्य है। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं, जबकि 'ब्राह्मण' गद्यात्मक हैं। मंत्रों में देवताओं की स्तुति की प्रधानता है, ब्राह्मण में यज्ञ' की विधि की प्रधानता है। यज्ञ का विधान कब किया जाय? कैसे किया जाय? उसमें किन साधनों की आवश्यकता होती है? उन यज्ञों के अधिकारी कौन होते हैं? इस प्रकार के याग की प्रक्रिया में विषय को सुलझाने के लिए ही ब्राह्मण साहित्य का अभ्युदय हुआ। यज्ञ के विषय में कुछ विरोध प्रतीत होता है, तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय विधि है तथा अन्य विषय जैसे निरूक्त, स्तुति, आख्यान तथा हेतुवचन आदि अवान्तर होने से उसी के पोषक तथा निर्वाहक

मात्र हैं। ब्राह्मण-युग में यज्ञ का सम्पादन ही 'धर्म' का मुख्य उद्देश्य था। इसीलिए समस्त कर्मों में यज्ञ को श्रेष्ठतम मानते हुए कहा गया है - ''यज्ञो बै श्रेष्ठतमं कर्म''[४] आकाश में दीप्यमान आदित्य भी यज्ञ रूप है - ''स य: यज्ञोऽसौ आदित्य:।''[५]

आगे चलकर यज्ञ-यागों के भीतर विद्यमान् आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा के रूप में आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। आरण्यकों का मुख्य विषय यज्ञीय अनुष्ठान न होकर तदन्तर्गत दार्शनिक विचार हैं। प्राणविद्या का महत्व आरण्यक का विशिष्ट विषय प्रतीत होता है। आरण्यक प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते, बल्कि ऋग्वेद के मन्त्रों[६] को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं। जिससे प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में प्राणरूप हैं। प्राण को ही इन रूपों में समझना चाहिए तथा उसकी उपासना करनी चाहिए। प्राण के इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणों को जानकर एतद्रूप से उसकी उपासना करनी चाहिए।''[७]

आरण्यकों में उन महानीय आध्यात्मिक तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है, जिनका पूर्ण विकास उपनिषदों में मिलता है। 'मुण्डकोपनिषद्' में यज्ञ सम्बन्धी मान्यताओं का निषेध करते हुए कहा गया है कि - ''जो लोग यज्ञ को जीवन का परमश्रेय मानते है, वे अज्ञानी पुरूष हैं। यज्ञ का चरम साध्य स्वर्ग है, परन्तु स्वर्ग में संचित पुण्य का भोग करने के बाद मनुष्य को पुन: संसार में आना पड़ता है। वन में श्रद्धा से तपस्या करने वाले जितेन्द्रिय, ज्ञानी ही सूर्यद्वार से आत्मलोक तक पहुँच सकते हैं।''[८] 'कौषीतकि उपनिषद्' में बतलाया गया है कि - ''हमारे भीतर एक अखण्ड यज्ञ संचालित है। अत: ब्रह्म यज्ञ की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।''[९] इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् काल में कर्मकाण्ड को निरर्थक समझा जाने लगा था तथा तत्वज्ञान के सामने कर्म-काण्ड का कोई महत्व नहीं था। कुछ विचारकों का मानना है कि 'उपनिषद् जीवन के काव्य हैं। उनमें इस जगत् के सौन्दर्य के प्रति विलक्षण आकर्षण का भाव है। .... कहा गया है कि ''आनन्द रूपम् अमृतं यद्विभाति'' अर्थात् सब नाना रूप आकृतियों की रचना उसने (ब्रह्म) आनन्दपूर्वक रची हैं।''[१०]

वेदों के स्वरूप को सही ढंग से समझने के लिए वेदांगों की उत्पत्ति भी सम्भवत: उपनिषद् काल में ही हो गयी थी। इन वेदांगों के नाम तथा क्रम का सर्वप्रथम वर्णन 'मुण्डकोपनिषद्[११] में मिलता है। इन्हें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द तथा ज्योतिष के नाम से जाना जाता है। मन्त्रों के उचित उच्चारण के लिए 'शिक्षा' का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए 'कल्प का, शब्दों के रूप ज्ञान के लिए 'व्याकरण' का, अर्थज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त 'निरूक्त' का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए 'छन्द' का तथा अनुष्ठानों के उचित काल-निर्णय के लिए 'ज्योतिष' का उपयोग है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वदेव के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा शिक्षा, कल्प, निरूक्त छन्द, ज्योतिष आदि अनेक समृद्ध रचनाएं हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य तत्कालीन जनजीवन की धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों तथा चिन्तन की विकास परम्परा से उत्पन्न जान पड़ता है। यह पिछली सहस्त्राब्दियों के हमारे संस्कारों को प्रभावित करता रहा है और आज भी कर रहा है।

सन्दर्भ :

१. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ६, ७.

२. विष्णु प्रकाश तिवारी, भारतीय चिन्तन धारा, पृ० ९.

३. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १५४, १५५.

४. शतपथ ब्राह्मण, १/७/३/५. ५. वही, १४/१/१/१६.

६. ऋग्वेद, ६/१६४/३१, १/१६४/३८. ७. ऐतरेय आरण्यक २/२/१०.

८. ''सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव। प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।''

९. मुण्डकोपनिषद्, १/२/७-११. १०. कौषीतकि उपनिषद्, २१५.

११. विष्णु प्रकाश तिवारी, भारतीय चिन्तन धारा, पृ० २७.

१२. मुण्डकोपनिषद् १/१/५.

✺

ऋग्वैदिक सौर मण्डल में सूर्य

डा० विश्वनाथ वर्मा*

वेद भारतीय ज्ञान–विज्ञान का मूलाधर है। वही प्रमाण है तथा सूर्य के समान अपना प्रकाश करता हुआ समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। वह सत्यविद्या का निधान है तथा उसी के आधार पर अन्य समस्त विद्याओं का विकास हुआ है। उसी को मूल प्रमाण मान कर भारतीय आर्यों के आचार विचार स्मृतियों में प्रतिपादित किये गये हैं। उसके विरुद्ध यदि कोई स्मृतिवाक्य मिलता है, तो ये प्रमाण के विरुद्ध स्मृतिवाक्य अग्राह्य हो जाता है। मनुस्मृति में तो अनेक स्थल ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष वेद के अनुवाद स्वरूप हैं। मनु ने स्वयम् अपनी स्मृति में वेदों की सर्वोत्कृष्टता पद पद पर घोषित की है। एक स्थल पर तो यहाँ तक कह दिया है कि जो द्विज वेद का अध्ययन न कर अन्यत्र श्रम करता है वह अपने अन्वय (पुत्र.पौत्रादि) सहित शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त होता है।[1] आज भी भारतीय आर्यों में वेद के प्रति परम श्रद्धा देखी जाती है। यह भी माना जाता है कि वेद वाक्य त्रिकाल बाधित सत्य हैं, उनमें कहीं व्यभिचार नहीं मिलता। सत्यस्वरूप, सत्य प्रतिपादक होने से वेद ईश्वर स्वरूप ही हैं, यह माना जाता है। इधर कुछ वर्षों से वेदों की ओर पाश्चात्य विचारकों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ है और अनेक विद्वानों ने वेदों के अध्ययन में, अनुवाद और समालोचना में कठिन परिश्रम किया है, जो सर्वथा स्तुत्य है।परन्तु भारतीय परम्परा के ज्ञान के अभाव में उनका अध्ययन भाषा.विज्ञान, इतिहास आदि तक ही सीमित रहा।

दर्शन के द्वारा मनुष्य को ज्ञात होता है कि जीवन के इन्द्रिय.जनित सुखों की परिधि सीमित है और वास्तव में सुख, स्वर्ग और मुक्ति के आनन्द की तुलना में हीन हैं। प्रत्येक दर्शन स्पष्ट निर्देश देता है कि कुछ कर्मों के फल भोगने के लिए बारंबार इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। जीवन के जन्म, मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए मानव अपने पुण्यों के द्वारा कुछ समय तक स्वर्ग में रह सकता है, परंतु पुण्य के क्षीण होने पर फिर इसी बन्धन में पड़ता है। सर्वोत्तम है मुक्ति, जिस पद को प्राप्त कर लेने पर पुनः बन्धन असम्भव है।

वैदिक धर्म का सुविकसित स्वरूप सर्वप्रथम वैदिक संहिता.ग्रन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से इस धर्म के मूल स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ से ही वैदिक धर्म में प्रकृति की दिव्य सत्ताओं की प्रतिष्ठा रही है। इन सत्ताओं के दो रूप हैं–व्यावहारिक और आध्यात्मिक। इनमें से व्यावहारिक रूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आध्यात्मिक रूप का आभास.मात्र मिलता है।

*रीडर, प्रा0इतिहास विभाग, हरिश्चन्द्र पी0 जी0 कालेज वाराणसी

आध्यात्मिक बोध के लिए श्रद्धा आवश्यक होती है। कभी.कभी व्यंजना के द्वारा भी आध यात्मिक स्वरूप का ज्ञान होता है।[2] सूर्य अपने लौकिक या व्यावहारिक

स्वरूप द्वारा जगत् को प्रकाश देता है और अपने आध्यात्मिक स्वरूप के द्वारा मानवों की बुद्धि को प्रस्फुटित करता है। यही सूर्य की दिव्यता है।[3] दिव्य सत्ताओं की संख्या भारतीय धर्म में शनैः शनैः बढ़ती गयी। समाज के सभी वर्गों के लोगों ने अपनी रूचि और आवश्यकताओं के अनुकूल विशिष्ट गुणों से सम्पन्न देवताओं की प्रतिष्ठा कर ली।[4]

देवताओं के व्यक्तित्व के आदर्श की प्रतिष्ठा ऋषियों ने मानवों के चारित्रिक विकास के उद्देश्य से की है। जो कुछ देवताओं ने जिस विधि से किया है, वैसे ही मानवों को भी करना चाहिए। इस प्रकार धर्म के संस्थान में देवताओं के व्यक्तित्व की कल्पना का विशेष महत्व है। भारतीय धर्म की तात्विक प्रवृत्तियों तक पहुँचने के लिए देवताओं के व्यक्तित्व को समझ लेना अपेक्षित है। वेद मंत्रों के अत्यन्त प्राचीन तथा प्रामाणिक भाष्यकार यास्क की मान्यता है कि देवों का स्वरूप नहीं है, यथा अग्नि, वायु, सूर्य, पृथ्वी इत्यादि।[5] वैदिक देवों के प्रकृतिपरक रूपों में प्रारम्भ में कतिपय समान गुण प्राप्त होते हैं, जैसे – उषा, सूर्य, और अग्नि इन तीनों में समान गुण हैं–प्रकाश. प्रसार, अन्धकार .परिहार, तथा प्रातप्रार्दुभाव।

आकाश में दिखाई पड़ने वाले ज्योतिष्पिण्ड के रूप में सूर्य की पूजा वैदिक काल से होती आ रही है। वेदों में सूर्य तथा उनके अनेक रूपों, जैसे सविता,पूषन्, भग, मित्र, विवस्वत्, अर्यमन ,आदि के उल्लेख मिलते हैं। वहाँ इन सौर देवों में सूर्य सर्वाधि क स्थूल है। सविता प्रारम्भ में सूर्य का एक विशेषण मात्र था, किन्तु बाद में सूर्य से पृथक् पड़कर सविता सूर्य की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म देवता बन गए । वैदिक कवियों की दृष्टि में सविता सूर्य की दिव्य शक्ति का मानवीय रूप है, जबकि सूर्य देव एक अधिक स्थूल देवता।[6] पूषन् के चरित्र का आधार सूर्य की शक्ति है,जो प्रध ानतया ग्रामीण देवता के रूप में व्यक्त हुई है।[7] सूर्य के साथ भग के सम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं है, किन्तु यास्क के अनुसार वे पूर्व मध्याह्न के अधिष्ठाता हैं।[8] वैदिक सूक्तों में उन्हें धन का वितरण करने वाला माना गया है।[9] विवस्वान् उदय होते हुए सूर्य के प्रतिरूप हैं। अधिकांश विद्वान् उन्हें केवल सूर्य के रूप में देखते हैं।[10]

सौर देवताओं में सर्वाधिक स्थूल सूर्य देवता भौतिक सूर्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। सूर्य(स्वर) के समानान्तर अवेस्ता में 'ह्वर्' आता है, जो बहुधा 'ह्वर् ख्शयत' नाम से आहूत किया गया है। वैदिक और वैदिकोत्तर संस्कृत की भाँति अवेस्ता में भी ह्वर् को सात अश्वों से वहन किये जाने वाले रथ पर विराजमान बताया गया है।[11] जिस प्रकार ऋग्वेद में उदित सूर्य को दानवों की शक्ति का समाप्तकर्ता कहा गया है,[12] उसी प्रकार अवेस्ता में सूर्य के अनुदित रहने पर 'दएवों' अर्थात् दानवों की शक्तिवृद्धि का उल्लेख किया गया है।[13] ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर सूर्य को वरूण का चक्षु कहा गया है। उसी प्रकार अवेस्ता में भी ह्वर् को 'अहुरमज़्दा', जो वरूण के समानान्तर हैं का नेत्र बताया गया है। इस प्रकार सूर्याराधन का प्रचलन भारत ईरानी काल में निस्संदिग्ध रूप

से विद्यमान था। निरूक्तकार यास्क सूर्य का निर्वचन 'सृ' या 'षू' धातु से करते हुए कहते हैं कि ये अन्तरिक्ष में गति करते हैं, लोगों को अपने. अपने कार्यों में प्रेरित करते हैं अथवा वायु के द्वारा ये भूलोक की ओर प्रेरित किये जाते हैं।[14]

परिदृश्यमान सूर्य के अनेक कार्य तथा रूप हैं। फलतः ये ऋग्वेद में अनेक नामों से स्तुत हुए हैं। ये जाज्वल्यमान, मण्डल, रूप में प्रकृति की प्रकाशप्रदात्री तथा मैत्रीमय शक्ति के रूप में मित्र, जीवन तथा कार्य के महान् प्रेरक के रूप में सविता, पशुओं के पोषक तथा संरक्षक के रूप में पूषा, आकाश से पृथ्वी. पर्यन्त मात्र तीन पाद.प्रक्षेपों में व्याप्त हो जाने के रूप में विष्णु, अपने आगमन से ठीक पूर्व आकाश में अनुपम सौन्दर्य. युक्त आभा को प्रादुर्भूत करने के रूप में उषा तथा प्रातःकाल में सभी दिशाओं को आलोकित करने के रूप में विवस्वान् के नाम से प्रार्थित हुए हैं। सौर देवताओं में सूर्य का रूप इतना अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण है कि इनके प्राकृतिक आधारभूत उदीयमान सूर्य को मंत्रों में कभी भुलाया नहीं गया है।

ऋग्वेद के दस सूक्त सूर्य के स्तवन में प्रयुक्त हुए हैं। सूर्य को आकाश पुत्र बताया गया है।[15] सूर्य को माता के नाम पर आदित्य अर्थात् अदिति माता के पुत्र या आदितेय भी कहा गया है।[16] ऋग्वेद के पुरूषसूक्त के अनुसार सूर्य का उद्‌भव विराट पुरूष के नेत्रों से हुआ है।[17] अथर्ववेद में वृत्र से सूर्य(दिवाकर) के उत्पन्न होने का वर्णन मिलता है।[18] इनके अतिरिक्त इन्द्र[19] ,सोम,[20] तथा धाता[21] को भी सूर्य का जनक बताया गया है। सूर्य को प्राणियों का एकमात्र नेत्र कहा गया है। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के नेत्र सूर्य में विलीन हो जाते हैं।[22] सूर्य को अत्यन्त दूर तक देखने में सक्षम होने के कारण 'उरूचक्षा' ,तथा 'दूरेदृश्' एवं सभी कुछ देखने के कारण 'विश्वचक्षा' कहा गया है। ये सम्पूर्ण जगत् के स्थिर कर्त्ता तथा रक्षक हैं।[23] इसीलिए ये स्थावर तथा जंगम की आत्मा कहे गये हैं।[24] अनेक मंत्र सूर्य को व्योम में विचरण करते हुए चित्रित करते हैं, अतः इन्हें 'अरूष सुपर्ण',[25] 'श्येन'[26] आदि भी कहा गया है। उषा के आगमन के अनन्तर सूर्य का आविर्भाव होता है, अतः सूर्य को उषा .रूपिणी माताओं के अंक में प्रकाशित होते हुए कहा गया है। अनेक स्थानों पर उषा को सूर्य की पत्नी बताया गया है।

सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा दानवों को विनष्ट करते हैं तथा व्याधियों, दुस्वपनों आदि को दूर करते हैं। अन्य देवों की भाँति सूर्य का भी अथर्ववेद में स्तर गिर जाता है। ये अब यातुविद्याविदों एवं भिषजों के अधीन हो जाते हैं। यह प्रधानतः विविध व्याधियों के निवारण के लिए तथा शरीर को और अधिक कान्तियुक्त बनाने के लिए एवं शत्रुओं के विनाश के लिए आहूत किये जाते हैं। ब्राहमण ग्रन्थों में सूर्य के लिए 'आदित्य' शब्द बहुतायत रूप से प्रयुक्त होने लगता है। फलतः 'सूर्य' शब्द उपेक्षित सा हो जाता है।

संस्कृति के आरम्भिक युग में धार्मिक भावनाओं का उदय जिस रूप में हुआ होगा, उसकी कल्पना. मात्र हो सकती है। प्रकृति की शक्तिषशालिनी प्रवृत्तियों को देख कर मानव के मन में उसकी महिमा के प्रति श्रद्धा जागरित हुई। प्रकृति के प्रति मानव ने नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धा और समादर . भावना को प्रकट करने के निमित्त अपनी

प्रियतम वस्तुओं से उसकी अर्चना की होगी। विविध प्रदेशों और युगों में उपर्युक्त अर्चना के विविध–विधान रहे होगें। इन्हीं रूपों के चिरकालीन विकास का प्रथम रूप सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता के धर्मों में दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ :

1. मनुस्मृति; 2/168
2. सूर्य का आध्यात्मिक स्वरूप मानव के आध्यात्मिक स्वरूप के समकक्ष माना जा सकता है। मानव का भौतिक स्वरूप उसके आध्यात्मिक स्वरूप से जिस मात्रा में भिन्न कल्पनीय है, उसी प्रकार सूर्य का भौतिक रूप उसके आध यात्मिक रूप से भिन्न है।
3. राधाकृष्णन्; इण्डियन फिलासफी, भाग. 1,पृ0 80
4. ऋग्वेद, 1.23.18.16
5. निरूक्त,7.7
6. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृ0 75
7. वही, पृ0 84
8. वही, पृ0 105
9. वही, पृ0 103
10. वही, पृ0 98
11. यस्त, 6.1
12. ऋग्वेद, 1.191.8
13. यस्त, 6.2.4
14. निरूक्त, 12.2
15. ऋग्वेद, 10.37.1
16. वही, 1.191.9
17. वही, 10.90.13
18. अथर्ववेद, 4.10.5
19. ऋग्वेद, 2.12.7
20. वही, 9.96.5
21. वही, 10.190.3
22. वही, 10.168.4
23. वही, 10.16.3
24. वही, 7.60.2
25. वही, 1.115.1
26. वही, 5.47.3

✸

वैदिक धर्म में पञ्चमहायज्ञ की अवधारणा

कुमारी श्रद्धा*

वेद भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूलस्रोत हैं। वेद शब्द से उन समस्त वाङ्मय का ग्रहण होता है, जिनके अन्तर्गत संहिता, ब्रह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, आदि सभी का समावेश है। यज्ञ ही वैदिक धर्म का आधार है। ऋग्वेद में यज्ञ शब्द कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कर्म का अभिधयक क्रतु[१] शब्द ऋग्वेद में यज्ञ[२] का भी अभिधायक है। सायण ने ऋग्वैदिक मन्त्रों के भाष्य में प्राय: कर्म का अर्थ यज्ञ[३] किया है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न किया इस यज्ञ से तुम्हारी वृद्धि हो यह तुम्हें इच्छित कामनाओं को देने वाला हो ऐसा कहा गया है।[४] एक मन्त्र में तो स्पष्ट ही अग्नि देवता को यज्ञों द्वारा अद्भुत कर्मवाला कहा गया है।[५] ऋक् शब्द का अर्थ है जिससे स्तुति की जाये। अत: स्तुतिपरक मन्त्रों का संकलन ही ऋग्वेद संहिता है। देवताओं को स्तुति एवम् उन्हें हवि दान के बदले में उनसे धन, धान्य, सुख, समृद्धि,[६] वीर सन्तान, दीर्घ जीवन तथा गौ, अश्व आदि की कामनाएँ की गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है - ''यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म''।[७]

अन्य ग्रन्थों में भी यज्ञ को साक्षात् रूप से कर्म कहा गया है। ब्रह्म शब्द का अर्थ ही यज्ञ है। यज्ञ का प्रतिपादन करने के कारण इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण पड़ा। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की व्युत्पत्तिपरक वाख्या की गई है। इनके अनुसार यज्ञ के द्विविध स्वरूप है - प्राकृत और कृत्रिम।

प्राकृत यज्ञ निरन्तर चल रहा है क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अथवा सृष्टि में यज्ञ हो रहा है जब प्रजापति ने सृष्टि को उत्पन्न किया तो सर्वप्रथम वह अकेला था। फिर उसने धीरे-धीरे जल, वायु, आकाश आदि से सृष्टि का विस्तार किया। यज्ञ विस्तारित किया जाता हुआ ही उत्पन्न होता है। अत: ''यज्ञ जायते''[८] से यज्ञ नाम पड़ा। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को अग्नि[९], सूर्य[१०], विष्णु[११], प्रजापति[१२] और पुरुष[१३] आदि को भी यज्ञ से समीकृत किया गया है।

आरण्यकों में यज्ञ शब्द से अभिप्राय आध्यात्मिक कर्मों से लिया गया है। आरण्यकों में कहे गये यज्ञ, महाव्रत, अरुणकेतु, प्रवर्ग्य, अश्वमेध, इत्यादि, यज्ञ, बाह्य कर्मकाण्डों से हटकर किसी परम शक्ति को ही द्योतित करते हैं।[१४]

''यदिदं सर्व पुनाति तस्मादेव एव यज्ञ:।।''

उपनिषदों में यज्ञ को ऐसा कर्मकाण्ड कहा गया है जो आत्मोन्नति और जगत् के हित के लिए किया जाता है। शरीर धारण को भी उपनिषदों में यज्ञ कहा गया है।

निरुक्तकार यास्क यज्ञ के उपरोक्त अर्थों के आधार पर यज्ञ का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हैं, उनके अनुसार ''यज्ञ'' शब्द यजनार्थक है क्योंकि यज्ञ में किसी फल विशेष की याचना करते

---

*शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, म०गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

हैं अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षा आदि की प्रार्थना करते हैं। इसलिए इस कर्म को यज्ञ कहते हैं।[१५] पुराणों में तो चारों वर्णों के कर्मों को ही यज्ञ कहा गया है।[१६]

यज्ञ के उपर्युक्त सभी अर्थों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यज्ञ शब्द कर्म अथवा कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है। यज्ञ ऐसा कर्म है जिसमें देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा इन पाँचों का संयोग होता है।[१७] वैदिक साहित्य के उत्तरवर्ती काल में यज्ञ एक ऐसे पवित्र कर्म के रूप में स्थापित हो गया जो श्रेष्ठ धर्म तथा उत्तम कर्म कहा जाने लगा। भगवद्गीता भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट करती है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार कर्त्तव्यमात्र का नाम यज्ञ है। प्रजापति ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आदिकाल में कर्त्तव्य कर्मों के विधान सहित मनुष्य की रचना करके कहा कि तुम लोग इस कर्त्तव्य के द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह (कर्त्तव्य कर्म रूप यज्ञ) तुम लोगों को कर्त्तव्य पालन की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाला हो। इसके (कर्त्तव्य रूप यज्ञ) द्वारा तुमलोग देवताओं को तृप्त करो और वे देवता लोग तुमलोगों को तृप्त करें इस प्रकार परस्पर उन्नत करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञ से पुष्ट हुए देवता भी तुमलोगों को अभिष्ट सामग्री देते रहेंगे उन देवताओं की दी हुई सामग्री को दूसरे की सेवा में लगाये बिना जो उपयोग करता है वह चोर ही है। यज्ञ शेष का योग करने वाला श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। जो केवल अपने लिए सब कर्म करते हैं (यज्ञ भाव से कर्म नहीं करते) वे पापी लोग तो पाप का ही भक्षण करते हैं।[१८] यज्ञों द्वारा पापों का नाश हो जाता है। यज्ञ न करने वाले मनुष्य के लिए लोक सुखदायक नहीं है।[१९]

पाणिनीय व्याकरण (३/३/९०) में ''यज्'' धातु से यज्-याच्-यत्-विच्छ-प्रच्छ-रक्षों-नङ् प्रत्यय करने पर यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है। ''धातवः अनेकार्थाः'' इस वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार कतिपय आचार्यों ने ''यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'' में ''यज्'' धातु का देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान इन तीन अर्थों में प्रयोग किया है। अर्थात् यज्ञ में देवपूजा होती है, देवतुल्य, ऋषि-महर्षियों का सङ्गतिकरण होता है और दान भी होता है।

कोशकारों के अनुसार - यज्ञ शब्द से सामान्य अभिप्राय है प्राचीन भारतीय आर्यों का एक प्रसिद्ध धार्मिक कृत्य अथवा पूजा व देवसम्बन्धी वह पवित्र कार्य जिसमें देवताओं को प्रसन्न करके मनोवांछित फल की प्राप्ति की जाती है। शब्दकल्पद्रुम में शब्द रत्नावली का उद्धरण देते हुए यज्ञ शब्द के विषय में इस प्रकार कहा गया है। ''सव, अध्वर, यज, सप्ततन्तु, मख, क्रतु, इत्यमरः इष्टि, इष्टम्म्, वितानम, मन्युः, आहवः सवनम्, हवः अभिषवः होम, हवनम्, महः इति शब्दरत्नावली।''[२०] ''शब्दार्थकौस्तुभ'' में यज्ञ को अग्नि एवं विष्णु नाम के साथ तादात्म्य स्थापित कर यज्ञ को भी विष्णु का पर्याय माना है।[२१]

यज्ञ के सामान्य अर्थ से यही स्पष्ट होता है कि यज्ञ का आशय कर्मकाण्ड से है। वैदिक काल में कर्मकाण्ड मानव जीवन का आवश्यक अङ्ग बन चुका था। इसीलिए कतिपय शब्द यज्ञ के पर्यायरूप में प्रयुक्त होने लगे, उनमें कर्म, क्रतु, अध्वर, धर्म, ऋत, उपासना आदि प्रमुख हैं। निघण्टु[२२] में भी इसके लिए यज्ञ, वेन, अध्वर, मेधः, विदर्थ, नार्यः, सवनम्, होता, इष्टि देवता मख, विष्णु, इन्दुः, प्रजापति, धर्म शब्द का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ पर्याय रूप में और कुछ प्रतीक रूप में यज्ञ को स्पष्ट करते हैं।

यज्ञ के भेद - यज्ञ के व्युत्पत्तिजन्य एवं पर्यायों के अध्ययन से यज्ञ एवं यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों का विवरण उपलब्ध होता है। यज्ञीय विधि-विधानों का यहाँ

स्पष्टीकरण नहीं होता। विधि-विधानों के स्पष्टीकरण के लिए ही यज्ञीय भेदों पर विचार किया जा रहा है किन्तु कहीं-कहीं हमें 'यज्ञ' का तो कहीं 'महायज्ञ' का कथन प्राप्त होता है। अतः यज्ञीय भेदों पर दृष्टिपात के पूर्व यज्ञ और महायज्ञ को समझना अत्यावश्यक है।

व्यष्टि जीव (व्यक्ति) के ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिये किया गया कर्म यज्ञ है और समष्टि जीव (विश्वकल्यार्थ) के लिए किया गया कर्म महायज्ञ है। ''यज्ञ और महायज्ञ के स्वरूप तथा इसकी विशेषता का वर्णन महर्षि भारद्वाज ने इस प्रकार किया है -

''यज्ञ: कर्मसु कौशलम्'' कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं।

''समष्टिसम्बन्धनान्महायज्ञ:'' समष्टि सम्बन्ध होने से उसी को महायज्ञ कहते हैं। इसी बात को अंगिरा ने भी कहा है -

'यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्''।

व्याष्टि-समष्टि सम्बन्ध से यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं। यज्ञ का फल आत्मकल्याण है तथा व्यष्टि सम्बन्ध होने के कारण इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता आ जाती है तथा महायज्ञ का फल विश्वकल्याण है, उसका समष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें नि:स्वार्थता की प्रधानता आ जाती है। यही महायज्ञ की विशेषता है। मनु यज्ञ और महायज्ञ को अन्तर्याग और बहिर्याग की संज्ञा देते हैं।[२३]

ये महायज्ञ पाँच माने गये हैं।

पञ्चमहायज्ञ के सम्पादन की व्यवस्था वैदिक काल से ही चली आ रही है। सभी धर्मग्रन्थों में इनका वर्णन मिलता है।

ये पञ्च महायज्ञ निम्नलिखित है।

(१) ब्रह्म यज्ञ (२) पितृ यज्ञ (३) देव यज्ञ (४) भूत यज्ञ (५) यज्ञ या मनुष्य यज्ञ।[२४]

ब्रह्म यज्ञ - वेदों के पठन-पाठन को ब्रह्म यज्ञ कहते हैं। वेद में कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड में ''ज्ञान'' की ही प्रधानता बतलायी गई है। ज्ञान के ही कारण अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य देह को उत्तम माना गया है।

शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठान में तत्पर रहना ही मनुष्य की मनुष्यता है और जो सदाचार तथा धर्मानुष्ठान में तत्पर रहता हो वहीं मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्व का अधिकरी समझा जाता है। इसके बाद कर्मकाण्ड द्वारा अन्त:करण की शुद्धि हो जाने पर मनुष्य उपासना काण्ड का अधिकारी बनता है, तत्पश्चात् भगवत् कृपा से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्यों का सामान्य उन्नतिक्रम है। क्रमिक उन्नति में ज्ञान का प्राधान्य है, अत: सभी अवस्थाओं में ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसलिए प्रथमावस्था में ज्ञान के बिना असदाचरण का परित्याग तथा धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

''बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति''।[२५]

इस उपदेश के अनुसार बलवान इन्द्रियसमूह धर्मानुष्ठान में बाधक हैं, इन्द्रियाँ प्रथमावस्था में मनुष्य को अपनी और प्रवृत्त करती हैं न कि धर्मानुष्ठान में। इसी समय माता-पिता तथा

गुरुजन भी धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त तथा अधर्माचरण में निवृत्त करते हैं। इसी प्रकार सभी अवस्थाओं में ज्ञान की प्रधानता सिद्ध होती है, अतवए स्वाध्याय (वेद शास्त्रों का पठन-पाठन) करना चाहिए। ब्रह्मयज्ञ करने वाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षि गण का अनृणी और कृतज्ञ हो जाता है।

पितृयज्ञ - पितरों के लिये किया जाने वाला श्राद्धादि पितृयज्ञ है। पितृयज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित होता है - तर्पण द्वारा, दैनिक बलिहरण द्वारा और श्राद्ध द्वारा। जिसमें बलि का शेषांश पितरों को दिया जाता है। उसे तर्पण तथा दैनिक बलिहरण, जिसमें कम से कम एक ब्राह्मण को खिलाया जाता है।[२६] प्रतिदिन के श्राद्ध में पिण्डदान नहीं होता है और पार्वण श्राद्ध की विधि एवं नियमों का पालन ही होता है। परम कृपालु पितरों की तृप्ति के लिए तथा उनके सम्मान के लिए "पितृयज्ञ" करना नितान्त आवश्यक है। पितृयज्ञ से समस्त लोकों की तृप्ति और पितरों की तुष्टि की होती है।

देवयज्ञ - देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा डालने से होता है।[२७] धर्मशास्त्रों के अनुसार देवता का नाम लेकर "स्वाहा" शब्द उच्चारण के साथ अग्नि में हवि या कम से कम एक समिधा डालना देवयज्ञ है। मनु ने होम को देवयज्ञ कहा है।[२८] सूर्य, अग्नि, होम के देव (सूर्य या अग्नि एवं प्रजापति) सोम, वनस्पति, अग्नि एवं सोम, इन्द्र एवं अग्नि, द्यौ एवं पृथ्वी, धनवन्तरि, इन्द्र, विश्वदेवा, ब्रह्मा आदि देवयज्ञ के देवता हैं।[२९]

स्मृतियों ने होम एवं देवपूजा में अन्तर बताया है। याज्ञवल्क्य तर्पण तक देवपूजा की चर्चा करने के उपरान्त पंच यज्ञों में होम को सम्मिलित करते हैं। मनु ने ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों में नित्य स्नान, देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण शिव और विष्णु आदि देव प्रतिमाओं का प्रात: तथा सायंकाल हवन आदि का विधान किया है।[३०] देवयज्ञ से देवता तृप्त होते हैं।

भूतयज्ञ - कृमि, कीट, पतङ्ग, पशु और पक्षी आदि की तृप्ति हेतु किया गया कर्म को "भूतयज्ञ" कहते हैं। ईश्वररचित सृष्टि के किसी भी अङ्ग की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टि के सिर्फ एक ही अङ्ग की सहायता से समस्त अङ्गों की सहायता समझी जाती है। अत: भूतयज्ञ भी परम धर्म है। प्रत्येक प्राणी अपने सुख के लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीर यात्रा नहीं चल साकती। प्रत्येक मनुष्य के नि:श्वास, प्रश्वास, भोजन, प्राशन, विहार, संचार आद में अगणित जीवों की हिंसा होती है निरामिष भोजन कने वाले लोगों के भोजन के समय भी अगणित जीवों की प्राण-वियोग होता है। आमिष भोजियों की तो बात ही क्या है? अत: भूतों (जीवों) से उऋण होने के लिये[३१] भूतयज्ञ करना आवश्यक है। इस यज्ञ से कृमि, कीट, पशु-पक्षी आदि को तृप्ति होती है।

नृ-यज्ञ या मनुष्य यज्ञ - नृ यज्ञ से तात्पर्य है - अतिथि का सत्कार या सम्मान करना। मनु[३२], पराशर[३३] एवं मार्कण्डेय पुराण[३४] ने अतिथि की अलग-अलग व्युत्पत्ति की है। मनु के मत से अतिथि उसे कहा जाता है जो पूरे दिन नहीं रुकता है या अतिथि वह ब्राह्मण हो जो एक रात्रि के लिए रुकता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने इसकी व्याख्या में कहा है कि वही व्यक्ति अतिथि है जो दूसरे ग्राम का है, एक ही रात्रि रहने के लिये सन्ध्याकाल में पहुँचता है। वह जो खाने के लिये पहले से ही आमन्त्रित है, अतिथि नहीं कहलाता। अतिथि सत्कार वर्णों के अनुसार होना चाहिए। मनु के मत से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मणों के अतिथि नहीं हो सकते। यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण के यहाँ अतिथि रूप में चला जाता है। तो उसका सम्मान ब्राह्मण अतिथि के

उपरान्त किया जाना चाहिए तथा वैश्य एवं शूद्र को भोजन घर के नौकरों के साथ दिया जाना चाहिए।[३५]

धर्मशास्त्र में अतिथि सत्कार के कुछ नियम भी बताये गये हैं, जैसे आगे बढ़कर स्वागत करना, पैर धोने के लिए जल देना, आसन देना, दीपक जलाकर रख देना, भोजन एवं ठहरने का स्थान देना, व्यक्तिगत ध्यान देना, सोने के लिए बिछावन देना, जाते समय कुछ दूर तक पहुँचा देना।[३६] और यदि कुछ भी न हो तो उसे जल, निवास, घास एवं मीठी बोली से सम्मान देना चाहिए।

उक्त निरुपण से स्पष्ट है कि ये पञ्चमहायज्ञ मानव के ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को प्रदान करने वाले धार्मिक अनुष्ठान है। इन पञ्चमहायज्ञों का भौतिक स्वरूप देश, काल, सापेक्ष हैं; किन्तु इन यज्ञों से प्राप्त होने वाला फल सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य है। यही कारण है कि आज भी किसी न किसी रूप में मानव समाज में इनकी परम्परा येन-केन प्रकारेण सतत् सञ्चरित हो रही है। आज भी शिष्ट समाज में स्वाध्याय के अन्तर्गत धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन होता है, यह ब्रह्म यज्ञ का ही रूप है। प्राय: लोग अपने पितृगणों के निमित्त कुछ ऐसे कार्य सम्पादित करते रहते हैं जिनसे उनको यह बोध होता है कि इससे मेरे पितृगण की आत्मा को शान्ति मिलेगी; यथा - पितरों के प्रतीक चिन्हों पर माल्यार्पण करना एवं उनके द्वारा बताये गये कार्यों को सम्पादित करना आदि। देव यज्ञ के अन्तर्गत देवताओं के निमित्त किए जाने वाले अनुष्ठान,यथा-दीप प्रज्ज्वलित करना, नैवेद्य अर्पित करना आदि कर्म को ले सकते हैं। भूत यज्ञ की परम्परा आज भी समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलित है, यथा - चीटियों, पक्षियों, मछलियों आदि जीवों को चारा देना आदि। समाज में सभी के घरों में निरन्तर अतिथि देवो भव का आदर्श आज भी चरितार्थ हो रहा है। वास्तव में वैदिक धर्म यज्ञमूलक धर्म है।

पञ्चमहायज्ञों के स्वरूप पर तात्विक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव जीवन को दिव्य धरातल पर ले जाना ही वैदिक यज्ञों का मूल उद्देश्य है।

संदर्भ :

१. ऋग्वेद, १/१२/१, २/१२/१, १०/९/१३ पर सायण भाष्य।
२. वही, १/२/४ पर सायण भाष्य।
३. वही, १/११/४, ९/४६/३, १०/२८/७ पर सायण भाष्य।
४. वही, १/१०/४, १/११/४ पर सायण भाष्य।
५. ऋग्वेद, ४/२३/८ - यज्ञेभिरद्भुतक्रतुम्।
६. ऋग्वेद, १/९३/३ - अग्नीषोमो या आहुति यो वा दाशाद्धवष्कृतिम्।
स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत्।।
७. श०ब्रा० १/७/१/५.
८. श०ब्रा० ३/९/४/२३ - अथ यस्माद्यज्ञो नाम। ध्वन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्येन तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते स यज्जायते तस्माद्यज्ञो हवै नामैतद्यज्ञ इति।।

९. वही, ३/२/२/९ - अग्निहवेय यज्ञः। १०. वही, १/१/२/१३, ५/४/५/१४.

११. वही, ११/६/३/९. १२. वही, १/३/२/१.

१३. ग्रोवर, उषा - सिम्बोलिजम इन दि आरण्यकास् एण्ड इम्पैक्ट आन दि उपनिषद्स, पृ० ११९-१२४, १५४-१६१.

१४. छान्दोग्योपनिषद् ४/१६/१.

१५. नि० ३/४/१९ - यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः यचून्यो भवतित वा यजुर्भिरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णा जिन इत्यौपमन्यवः यजूष्येनं नयन्तीति वा।

१६. विष्णु पुरा० १/६/७ - यज्ञानिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह।
चातुर्वर्ण्यं महाभागयज्ञ साधनमुत्तमम्।

१७. मत्स्य पुरा० १४४/४४ - देवनां द्रव्यहविषां, ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।

१८. गीता - ३/१०, ११, १२, १३. १९. वही, ४/३०.

२०. शब्द कल्पद्रुम्, पृ० ६. २१. शब्दार्थ कौस्तुम्भ, पृ० ९८४.

२२. निघण्टु, ३/१७. २३. मनुस्मृति ४/८४-८७

२४. शतपथ ब्राह्मण ११/५/५/१ - भूतयज्ञः मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञः देवयज्ञौ ब्रह्मयज्ञ इति।

२५. मनुस्मृति २/२/५.

२६. वही, ३/८२-८३ - पृष्ठवास्तुनि कुर्वीते बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्व दक्षिणतो हरेत्।।

२७. तै०आर० २/१०. २८. मनुस्मृति ३/७०.

२९. याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय १००. ३०. मनुस्मति २/१७६.

३१. याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि देवयज्ञ से बचे हुए अन्न को जीवों के लिये भूमि पर डाल देना चाहिये और वह अन्न पशु-पक्षी एवं गो आदि को देना चाहिए।
देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्।
अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसैभ्यश्च निःक्षिपेत्।।

३२. एकरात्रं तु निवसन्नतिथिब्राह्मणः स्मृतः।

३३. पराशर स्मृति १/४२. ३४. मा०पु० २९/२-९.

३५. मनुस्मृति ३/११०, ११२. ३६. वही, ३/९९.

✸

वैदिक यज्ञ परम्परा एवं महत्त्व

राघवेन्द्र सिंह*

वैदिक यज्ञों का सम्पादन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था। यज्ञ को देवताओं की प्रशस्ति कहा गया है।[1] एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि यज्ञ से देवता बलवान होते हैं।[2] यज्ञ शब्द से सामान्यत: यह अभिप्राय लिया जाता है कि विधि विधान से कुछ मंत्रों के उच्चारण के साथ जौ, तिल, घी एवं शक्कर आदि की अग्नि में आहुति देना। कीथ ने यज्ञ को देवताओं को प्रसन्न करने का एक साधन माना है।[3] दूसरी ओर आप्टे महोदय की धारणा है कि ''इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऋग्वैदिक देवों में भी मानवीय कमजोरियां निहित थीं एवं उपहार और मिथ्या प्रशंसा से वे अधिक प्रभावी हो जाते थे। देवों की अच्छी हवि प्रदान करने से दैवी कृपा प्राप्त होती है।[4] वैदिक ग्रन्थों के सामान्य अध्ययन से पाठक यज्ञ का यही अभिप्राय ले पाते हैं। किन्तु इस तथ्य की विस्तृत व्याख्या की जानी अपेक्षित है। वस्तुत: यज्ञ शब्द के विश्लेषण से इसके अन्तर्निहित सामाजिक दायित्वों की ओर हमारा ध्यान जाता है। 'यज्' धातु से नङ् प्रत्यय करने पर 'यज्ञ' शब्द बनता है। पाणिनी ने 'यज्ञ' का प्रयोग देव पूजा संगतिकरण एवं दान तीनों अर्थों में किया है।- ''यज देव पूजा संगतिकरण दानेषु।''

कुछ विद्वानों ने यज्ञ से तात्पर्य- ''संग्रह का देवताओं के लिए'' समाज के लिए उत्सर्ग, लिया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यज्ञ में संग्रहीत वस्तुओं का त्याग किया जाता है। यहां सवाल उठता है कि त्याग किसके लिए किया जाय? पाणिनी आदि विद्वानों ने देवताओं को प्रथम स्थान पर रखा है। दूसरे शब्दों में हमारे अतिरिक्त संग्रह का देवताओं के लिए त्याग यज्ञ माना जायेगा। किन्तु यहां यह शंका पैदा होती है कि देवताओं के लिए मानव द्वारा संग्रहीत वस्तुओं के त्याग करने की क्या आवश्यकता है? सम्भवत: इसके पीछे मौलिक भावना यह थी कि यज्ञादि में हवि प्रदान किये जाने से उत्पन्न धुएं एवं ऊर्जा से वायु प्रदूषण नहीं होता अर्थात् वायु प्रदूषण को रोकने के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ किये जाने से वातावरण स्वच्छ होता है, जिससे प्राकृतिक व्यवस्था में भी स्वच्छता बढ़ती है। देवताओं का मौलिक कर्त्तव्य सृष्टि की प्राकृतिक व्यवस्था को बनाये रखना था। वरुण की धारणा से यह तथ्य स्पष्ट होता है। प्राकृतिक स्वच्छता को देवों के दिव्य प्रभाव में अभिवृद्धि कहा गया। वस्तुत: प्रकृति से ही हमें जीवित रहने के समस्त साधन उपलब्ध होते है।

एक विचाराधारा के अनुसार यज्ञ के धुएं को वर्षा लाने वाला भी माना गया। महाभारत, मनुस्मृति, भागवत आदि में इसका उल्लेख आया है। इस तरह यज्ञ वर्षा को आमन्त्रित कर लोक कल्याण करते हैं। बिना वर्षा के मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। लोग यज्ञ करेंगे अर्थात् हमारे अतिरिक्त संग्रह को यज्ञ में हवि प्रदान करेंगे तो न केवल वायु प्रदूषण समाप्त होगा बल्कि वर्षा भी होगी। इस तरह यज्ञ में हमारे संग्रह के समर्पण का परिणाम होगा प्रकृति

* *पुस्तकालयाध्यक्ष, राजकीय महाविद्यालय मगरहाँ, मीरजापुर*

में स्वच्छता एवं नियमित वर्षा, जिससे प्रकृति की व्यवस्था बनी रहेगी और प्रकृति की व्यवस्था बनाए रखना देवताओं का भी कर्त्तव्य था।

हमारे संग्रह का देवताओं के बाद जिनके लिए समर्पण किया जाना है, वह है मानव जाति। मानव जगत के लिए किन-किन वस्तुओं का त्याग किया जाए वह यज्ञ माना जाएगा? पाणिनी ने दान का उल्लेख किया है और मनुष्य के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करना ही दान कहा है जिसे यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। मनु ने भी पांच महायज्ञों में अन्तिम 'मनुष्य यज्ञ' को महत्वपूर्ण स्थान पर रखा है। वस्तुत: एक दूसरे के लिए त्याग के अभाव में विश्व व्यवस्था को बनाए नहीं रखा जा सकता। प्राकृतिक जगत मानव जाति के लिए हवा, पानी, प्रकाश, अन्न, फल आदि उपलब्ध करवाता है। प्रकृति यह सब प्रदान करना छोड़ दे तो विश्व में मनुष्य एवं जीव जगत का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। उसी प्रकार मानव जाति को भी अतिरिक्त संग्रह का त्याग दूसरों के लिए करना चाहिए। समाज एक दूसरे के प्रति समर्पण की भावना से ही संचालित होता है। यज्ञ विधान को पृष्ठभूमि में समर्पण का भाव निहित है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि आवश्यकता से अधिक संग्रह का जिनके लिए जो अपेक्षित हो उसके लिए उसी वस्तु का त्याग करे। यह समर्पण खाद्यान्न, वस्त्र एवं अन्य वस्तु का हो सकता है। राष्ट्र के प्रति प्रेम दूसरों के प्रति सद्भावना एवं स्नेह भी यज्ञ संज्ञा में आता है। भूखे को अन्न देना एक तरह का यज्ञ है तो वस्त्रहीन को वस्त्र देना दूसरी तरह का। ऋग्वेद में आया है कि ब्रह्म ने समर्पण किया जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वैदिक आर्य नितांत प्रवृत्तिमार्गी थे, उनके जीवन में सन्यास एवं गृहत्याग का कोई स्थान न था, नहीं मोक्ष के प्रति आतुरता थी। आर्यो का ऐहिक जीवन में अनुराग था जिसे वे उल्लासमय बनाना चाहते थे। जीवन को सुखमय बनाने हेतु देवताओं से कुछ कामना करते थे, किन्तु उनकी कामना पुत्र-पौत्र, धन-धान्य तक सीमित थी। इसके बदले प्रतिदान स्वरूप समर्पण या त्याग की भावना भी रखते थे। प्रकृति से हवा, पानी, प्रकाश, धन-धान्य आदि मिलते थे जो जीवन के अस्तित्व के लिए नितान्त आवश्यक थे। अत: आर्यजनों की धारणा थी कि उन्हें देव जगत, प्राकृतिक जगत तथा मानव जगत के लिए आवश्यकतानुसार त्याग करना चाहिए। समाज एक दूसरे पर आधारित है उसी प्रकार देव जगत एवं मानव जगत के मध्य एक दूसरे के प्रति समर्पण से विश्व व्यवस्था बनी रह सकती है। इसी समर्पण की भावना को यज्ञ की संज्ञा दी जा सकती है। वरुण आदि देवों को सत्य एवं नैतिकता से प्रसन्न होने वाला कहा गया है। किन्तु उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ग ऋषियों की इस मूल भावना को ग्रहण नहीं कर पाये तथा 'यज्ञ' परम्परा में अनेक दोष व्याप्त हो गये। बड़े यज्ञों में तीन-तीन वेदियाँ एवं अनेक पुरोहितों की आवश्यकता होने लगीं। परवर्ती यज्ञों में मुख्य पुरोहित को होत्री कहा गया जो सूक्त का पाठ करता था तथा अध्वर्यु यज्ञ को हवि प्रदान करते हुए धीरे-धीरे मंत्रोच्चारग करता था जिससे मंत्र के अवमूल्यन से अनिष्ट न हों 'उद्गात्री' लगभग सात पुरोहितों के साथ लय में गाता था। ऋग्वेद में उल्लिखित बड़े यज्ञों में सोमयज्ञ महत्वपूर्ण यज्ञ थे।

कुछ विद्वान वैदिक यज्ञों में पशु बलि दिये जाने का समर्थन करते हैं। किन्तु यह अत्यन्त विवादास्पद तथ्य है। क्योंकि जिस 'आप्री' सूक्त के आधार पर इसको प्रमाणित किया जाता है उसका अभिप्राय पूर्णत: स्पष्ट नही है। जहां तक मनुष्य बलि का उल्लेख प्रथम मण्डल के २४ वें सूक्त में खोजने का प्रयास किया गया है, वह मात्र परिकल्पना है। उस सूक्त से यह ज्ञात

नहीं होता कि शुनःशेप की बलि दी जा रही थी।[५] अधिकांश विद्वान इस तथ्य से सहमत नहीं है कि उस काल में बलि दी जाती थी।[६]

ऋग्वेद में स्वर्ग-नरक का अस्पष्ट उल्लेख मिलता है किन्तु पाप कर्म करने वाले मनुष्य को नरक प्राप्त होता है और उन्हें अन्धकूप का कष्ट भोगना होता है, ऐसा उल्लेख आया है।[७] अमरत्व का अभिज्ञान भी आर्यो को था। वैदिकजन आत्मवादी थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर विवरण मिलता है- श्वास युक्त जीवन अपने घर में अविचल रूप में रहता है, मरण धर्म वालों के अन्न से युक्त होता हुआ वह अमर जीव स्वधा भक्षण करता हुआ रहता है।[८] कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वैदिक काल में मृत शरीर जलाया जाता था किन्तु उसके अवशेष गाड़ दिये जाते थे।[९] यम का उल्लेख भी हुआ है, उसे मृत्यु का देवता कहा गया है।

ऋग्वेद के अन्तिम मंत्र में अपनी सम्पत्ति में से गरीबों को प्रदान करने तथा अमीरों से भूखों को खिलाने का जोरदान आग्रह किया गया है।[१०] इस महत्त्वपूर्ण ऋचा में आधुनिक जन-कल्याण अथवा समाजवादी भावनाओं का संकेत मिलता है।[११] इस मंत्र से प्रतिध्वनित होता है कि धर्म या देवत्व पर किसी जाति या वर्ग का आधिपत्य नहीं था बल्कि देवता सबको सुलभ थे। वहाँ कोई ऊँच-नीच अथवा छोटे-बड़े का भाव नहीं था। यही भाव हमारी संस्कृति का आधार रहा है।

वैदिक युग में अपेक्षाकृत बड़े यज्ञों हेतु जटिल यज्ञ प्रणाली का समावेश हो गया था। मनुष्य द्वारा सम्पादित किये जाने वाले तीन ऋणों की अवधारणा का भी विकास हुआ। यज्ञों का सम्पादन देव ऋण को चुकाने का एक साधन माना जाने लगा। यज्ञों को सृष्टि में व्याप्त नियमितता का संचालक तथा इसका मूल कहा गया है।[१२] यह सत्य है कि यज्ञ की मूल भावना अर्थात् दूसरों के लिए समर्पण से ही सृष्टि का संचालन होता है, उचित विचार था। लेकिन सम्पादित सज्ञों में उस भावना का स्थान नहीं रहा। कई प्रकार के यज्ञों में अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि राजनीतिक महत्व के यज्ञ थे। इनका सम्पादन राजाओं द्वारा सार्वभौम पद की प्राप्ति हेतु किया जाता था। इस युग में ऋग्वैदिक कालीन यज्ञों की सहजता का धीरे-धीरे लोप होने लगा। प्रारम्भिक अवस्था में यज्ञ समाज एवं देवजगत के मध्य पारस्परिक समर्पण के प्रतीक थे, किंतु बाद में वे राजनीतिक प्रभाव एवं ऐश्वर्य के प्रतीक बन गये।

सन्दर्भ :

१. ऋग्वेद १/१८१/१, अयं वो यज्ञो आकृत प्रशस्ति।

२. वही, २/२/१, यज्ञेन वर्धत जात वेदसं।

३. कीथ, कैम्बिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ९५.

४. रमेश चंद्र मजूमदार (संपा०) द वैदिक एज, पृ० ३८०.

५. ऋग्वेद १/२४/२, स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं चदृशेयं मातरंच।

६. कीथ, वही, १, पृ० ९५. ७. ऋग्वेद, ९/७३/९.

८. वही, २/१६४/९, जीवामृतस्य चरित स्वधाभिरमर्त्यो मृर्त्येना सयोनि।

९. कीथ, वही, १, पृ० ९६. १०. ऋग्वेद, १०/१९१/३.

११. मजूमदार, आर०सी०, प्राचीन भारत, पृ० ५३.

१२. तैतरीय ब्राह्मण ३/९/५/, यज्ञो वै भुवनस्य नाभि।

✸

वैदिक धर्म की निरन्तरता : भारतीय पुनर्जागरण के सन्दर्भ में

पूनम पाण्डेय*

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। प्राचीन काल से आज तक भारतीय संस्कृति अपने समन्वयात्मक गुणों, अपने नैतिक मूल्यों के लिए विश्वविख्यात रही है। यह एक विचारणीय विषय है कि भारतीय संस्कृति में ऐसा क्या है, जो इसकी निरन्तरता को आज तक बनाये हुए है। यद्यपि यह एक शाश्वत सत्य है कि इस भौतिक जगत में जिसका उद्भव हुआ है, उसका अन्त भी सुनिश्चित है। किन्तु भारतीय संस्कृति इस तथ्य से परे है। भारतीय सभ्यता के विकास से लेकर आज तक हमारी संस्कृति ने बहुत से उतार-चढ़ाव देखे हैं, विदेशी आक्रमणों के रूप में आये बहुत से झंझावातों को झेला है। कई बार वक्त के थपेड़ों की मार से उसके रंग की चमक कुछ फीकी भी पड़ी है, पर विलुप्त होने से पहले ही उसने अपनी मलिनता को दूर कर पुन: अपनी रोशनी से सम्पूर्ण विश्व को चकाचौंध कर दिया। भारतीय संस्कृति की इस निरन्तरता का मूल है 'वैदिक धर्म'।

वैदिक धर्म से तात्पर्य है वेदों के आधार पर आचरित व अनुसरित धर्म। आज हम वेद के नाम से चार मंत्र संहिताओं को लेते हैं, जो हमारी सारी क्रियाओं के मूल है। वेद हिन्दू जाति की सबसे पुरानी व सबसे पवित्र पुस्तक है। वह न तो 'कुरान' की तरह धर्म पुस्तक है और न 'बाइबिल' की तरह महपुरूषों की वाणियों का संग्रहमात्र ही; बल्कि वह तो एक सम्पूर्ण साहित्य है। दार्शनिकों का अभिमत है कि जिस प्रकार लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए चक्षुओं की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अलौकिक तत्वों के रहस्य को जानने के लिए वेद की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पितृगण, देवताओं व मनुष्यों का सनातत व सर्वदा विद्यमान रहने वाला चक्षु वेद है। वेदों से उत्पन्न वैदिक धर्म दिव्य व अलौकिक है, जिससे प्रकृति व सृष्टि भी सम्पृक्त है। वैदिक धर्म जितना आध्यात्मिक आधार पर आरोपित है, उतना ही व्यावहारिक आधार पर भी। यही कारण है कि उसकी निरन्तरता आज भी बनी हुयी है और आगे भी बनी रहेगी।

यदि हम भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में देखें तो हमे कई घटनायें ऐसी प्राप्त होंगी जिन्होंने अलग-अलग युगों में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर समाज को पोषित किया है। १९वीं शताब्दी में भारत में हुआ पुनर्जागरण भी इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। इस काल में भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला, संस्कृति समय के थपेड़ों से धूमिल पड़ चुकी थी। भारतीय समाज दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। ब्रिटिश शासन के शोषण व अत्याचारो से पीड़ित जनता कराह रही थी। वही दूसरी और मैक्समूलर जैसे कुछ विदेशी विद्वान भारतीय धर्म व

* *वारिष्ठ प्रवक्ता, इतिहास, बसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी*

संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। वैदिक धर्म की सार्वकालिक प्रासंगिकता तथा गूढ़ रहस्यों के प्रति बरबस ही उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा और उन्होंने वैदिक धर्म का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसी प्रकार राजा राम मोहन् रॉय् का भी उदय हुआ, जिन्होंने सुषुप्त भारतीय जनता को नींद से झकझोरा।

राजा राम मोहन रॉय व वैदिक धर्म-राजा राम मोहन रॉय को भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का अग्रदूत माना जाता है। वे हेगेल के समकालीन थे। उन्होंने धर्मदर्शन का विज्ञान के रूप में अध्ययन किया। उन्हें पराभौतिकी तत्वशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। अपनी विवेचनात्मक बौद्धिकता तथा सामाजिक हेतुवाद के कारण ही वे भारतीय पुनर्जागरण के पथ प्रदर्शक बन गये। उन्होंने एक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए १८२८ ई० में उन्होंने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। यद्यपि परम्परागत हिन्दुत्व के लिए उनके अन्दर भक्तिमूलक श्रद्धा की भावना नहीं थी, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वे वैदिक धर्म के विरोधी थे। उन्होंने कभी वैदिक कालीन सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट नहीं किया। बल्कि उनके सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन का आधार वैदिक परम्परायें ही थीं। चूँकि इस काल में परम्परागत हिन्दू धर्म में बहुत सारी बुराइयाँ आ चुकी थीं, जिन कुत्सित प्रथाओं ने उनके मन के गहरा आघात पहुँचाया। साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा तथा सती प्रथा व दास प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों ने उन्हें झकझोर कर रख दिया था। उन्होंने परम्परावादिता का विरोध किया। उनका मानना था कि परम्परा में अन्ध श्रद्धा का लाभ उठाकर बहुत सारे अविवेकपूर्ण कार्यों को पवित्र बना दिया जाता है, जबकि सामान्य ऐतिहासिक विश्लेषण से ही यह सिद्ध हो सकता है कि वे अविवेकपूर्ण कार्य हाल ही के उपज है। "उनका कहना था कि यदि आप परम्परा को सर्वोपरि मानते है तब तो कर्म काण्ड व मूर्ति को छोड़कर शुद्ध ब्रह्म की पूजा करना सर्वथा आवश्यक है क्योंकि शुद्ध बह्म की पूजा ही आपके धर्म की सबसे प्राचीन परम्परा है।"[१] उनका यह विचार वैदिक धार्मिक परम्परा के प्रति उनके समर्थन का द्योतक है।

इसी प्रकार तात्कालिक समाज में प्रचलित 'सती प्रथा' के विरूद्ध उन्होंने जो अभियान प्रारम्भ किया उसका आधार वैदिक समाज ही था। सोफिया फालेट के शब्दों में "राजा राम मोहन रॉय ने हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अपने गम्भीर ज्ञान के आधार पर यह प्रमाणित किया कि सती प्रथा धर्म संगत नहीं है।"[२] सती प्रथाा एक शास्त्र विकृत कुसंस्कार है, इस सम्बन्ध में १८२९ में उन्होंने एक पुस्तिका भी लिखी। श्रीमती फ्रांसिस के मार्टिन ने बंगाल हरकारा नामक समाचारपत्र में लिखा था कि- "महान हिन्दू दार्शनिक राम मोहन रॉय की विशेष सहायता के बिना शायद कभी भी अंग्रेज सरकार के लिए कानूनन सती प्रथा रद् करना सम्भव नहीं होता, परन्तु उनकी यह देन किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी।"[३] तात्कालिक समाज में प्रचलित अन्य कुरीतियों जैसे स्त्री अशिक्षा, जाति प्रथा, अस्पृश्यता, विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति न देना जैसी परम्पराओं के विरूद्ध भी उनहोंने कठोर शब्दों में विरोध प्रकट किया और इसके लिए भी उन्होंने वैदिक समाज व्यवस्था को ही आधार बनाया। इस रूप में उन्होंने वैदिक कालीन धर्म व समाज व्यवस्था का समर्थन किया।

राम मोहन रॉय भारत में ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे तथा निकट भविष्य में भी भारत व ब्रिटेन के सम्बन्धें को लाभदायक मानते थे। उनके इस विचार के कारण विद्वानों द्वारा उनकी

कटु आलोचना की गयी है तथा उन्हें राष्ट्र विरोधी तक कहा गया है। किन्तु वे भारतीय स्वतंत्रता के विरोधी कदापि नहीं थे। यह तो उनकी दूरदर्शिता थी, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि "धर्म व समाज सुधार की अनुपस्थिति में केवल राजनीतिक विकास का कोई मूल्य नहीं रहेगा। चाहे राजनीतिक स्तर पर हम मुक्त ही क्यों न हो जायें, पर यदि समाज का सुधार नहीं होगा तथा धर्मिक अन्धविश्वासों व पाखण्डों से हम ऊपर नहीं उठेंगे तो राजनीति खोखली होगी।" वे ये भी भली-भाँति जानते थे कि ब्रिटिश शासन के सहयोग के बिना भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। इसीलिए वे भारत में ब्रिटिश शासन के समर्थक थे।

उन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बहुत बल दिया। उनका मानना था कि स्वतंत्रता मनुष्य का अमूल्य धन है। वे सृजनात्मक आत्मा के अविचल स्वतंत्रता के मूल्य को भली-भांति समझते थे। इसी रूप में वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता के भी समर्थक थे। भारतीय स्वतंत्रता को राजा राम मोहन रॉय की देन का मूल्यांकन करते हुए विपिन चन्द्र पाल ने लिखा है कि "राय पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता का संदेश दिया। उनके लोग इस स्वतंत्रता को खो बैठे थे। इस बात से उनको गहरा दुख हुआ। बाद मे जब ब्रिटिश संस्कृति तथा चरित्र से उनका घनिष्ठ परिचय हुआ तो उन्हें लगा कि अंग्रेज अधिक बुद्धिमान तथा आचरण में अधिक दृढ़ व संयमित है, इसलिए राय का झुकाव उनके पक्ष में हो गया-------। किन्तु वे इस विचार को कभी सहन नहीं कर सकते थे कि भारतीय जनता के उद्धार के लिए भारत का अनन्त काल तक ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत रहना आवश्यक है।"[४]

वास्तव में राम मोहन रॉय मानवतावादी थे तथा सार्वभौम धर्म के समर्थक थे। वे मानव जाति को एक परिवार तथा विभिन्न राष्ट्रों व जातियों को उसकी शाखायें मानते थे। वे नानक, कबीर, जायसी व चैतन्य के समन्वय के समर्थक थे। इसी रूप में उन्होंने 'वैदिक धर्म' का अध्ययन किया तथा उसका प्रचार-प्रसार किया। राम मोहन रॉय के विचार उस सेतु के समान थे, जो सुषुप्त भारतीय समाज को जागृत कर अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला था। प्रकाश में जाकर सही मार्ग को तलाशने के दायित्व का निर्वहन भी उन्होंने स्वीकार किया। यह कार्य अत्यधिक जटिल था। इसे पूर्ण करने के लिए पर्याप्त साधन व समर्थन भी उनके पास नहीं था। इसी कारण उन्हें कटु आलोचना का पात्र भी बनना पड़ां इस सारे कार्यो को करने के लिए उन्होंने 'वैदिक धर्म' को आधार मानकर ही अपने विचार प्रस्तुत किये। भले ही वे पूर्णरूपेण वैदिक धर्म के समर्थक नहीं थे, किन्तु वे वैदिक धर्म के विरोधी भी नहीं थे। इस रूप में उन्होंने वैदिक धर्म की निरन्तरता को कायम रखने में निश्चित रूप से सहयोग किया।

स्वामी दयानन्द एवं वैदिक धर्म- वैदिक धर्म को आधार बनाकर भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत के रूप में जिस कार्य का प्रारम्भ राजा राम मोहन रॉय ने किया था, उसे सम्पुष्ट कर जन-जन तक पहुँचाने का कार्य स्वामी दयानन्द ने किया। इस काल में दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ व असह्य वेदना को झेलता हुआ भारतीय समाज मूल भारतीय धर्म व दर्शन को भूल चुका था। स्वामी दयानन्द ने "वेदों की ओर लौटो" का नारा देकर निष्प्राण होते भारतीय समाज में नये जोश का संचार कर दिया। वे निर्भीक सन्देशवाहक, उग्राभिभाषी तथा उच्च कोटि के समाज सुधारक होने के साथ-साथ वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा उत्कृष्ट नैयायिक भी थे। उन्होंने वैदिक धर्म के आइने में न सिर्फ भारतीय धर्म व दर्शन को सम्पृक्त कर सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया बल्कि भारतीय जनमानस में राष्ट्रवाद का बिगुल भी फूँक दिया। उनकी

रचना 'सत्यार्थ प्रकाश'' से उनके विचारों के सन्दर्भ में हमें विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। १८७५ में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप में पुन: स्थापना करना था क्योंकि तात्कालिक भारतीय समाज में प्रचलित हिन्दू धर्म व सामाजिक व्यवस्था में बहुत सी विकृतियाँ आ चुकी थी, जो हमारे देश को कमजोर और खोखला कर रही थीं।

स्वामी जी का वेदों में अटूट विश्वास था और वे इन्हें अपौरूषेय मानते थे। वे जीवन की समस्त समस्याओं का वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर समाधान करना चाहते थे। उनका कथन था कि वेद शाश्वत, शुद्ध तथा आदि ज्ञान के स्रोत है। उनका दावा था कि वैदिक ज्ञान की पुरातन संहिताओं में स्वयं ईश्वर की ही वाणी निहित है। उन्होंने असंदिग्ध रूप से घोषणा की कि वेदों में आध्यात्मिक ज्ञान तथा वैज्ञानिक भौतिक ज्ञान दोनों के रहस्यों का समावेश है। उनकी मानयता थी कि हिन्दू धर्म व वेद चिरन्तन, अपरिवर्तनीय, अकाट्य और ईश्वरीय हैं तथा केवल वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वदेशिक है।

स्वामी जी का सामाजिक दर्शन भी वेदों पर आधारित था। वे भारतीय समाज में प्रचलित जाति प्रथा के कटु आलोचक थे तथा वैदिक कालीन धर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के पोषक थे। उनका निश्चित मत था कि मनुष्य अपने विकास के अनुकूल साधनों व विधियों के चयन में स्वतंत्र है, किन्तु समाज से सम्बन्धित कार्यों में वह पराधीन है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि प्रत्येक को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और विकास को ध्यान में रखना चाहिए जिससे अन्त में वह सार्वलौकिक कल्याण का परिवर्धन कर सके। भारत के सामाजिक इतिहास में वह पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़ने, ऊँची शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा अन्य सभी प़क्षों से ऊँची जाति तथा पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया। वे समाज में स्त्रियों की गिरी हुई दशा को राष्ट्र के पतन के लिए एक उत्तरदायी कारण मानते थे और इसीलिए उन्होंने पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, बहुविवाह, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति, शाश्वत वैधव्य आदि जैसी सामाजिक बुराईयों की कटु आलोचना की।

स्वामी जी भारतीय चारित्रिक की दुर्बलताओं को देश के पतन के लिए उत्तरदायी कारण मानते थे। अत: उन्होंने उदासीनता, निष्क्रियता, आलस्य तथा भाग्यार्पण के स्थान पर शक्ति की सवोच्चता, पराक्रम, उत्साह तथा उत्तरदायित्व की सक्रिय भावना की शिक्षा दी। अपनी पुस्तक ''सत्यार्थ प्रकाश'' में उन्होंने लिखा है कि भारत के पतन के मुख्य कारण है: ''पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, छूआछूत, जाति प्रथा, बाल विवाह जिसमें स्त्री व पुरुष को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार नहीं होता, इन्द्रिय परायणता, असत्यता तथा अन्य बुरी आदतें, वेदाध्ययन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ।'' अत: दयानन्द जी ने व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया।

वास्तव में वे तत्कालीन भारत की जर्जरित हो रही सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के स्थान पर वैदिक संस्कृति की शुद्ध भावना को पुन: जीवित करना चाहते थे। वे जन्मजात स्वभाव से ही अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाले थे। उनका कथन था: ''संसार अज्ञान तथा अन्धविश्वास की शृंखला को तोड़ने तथा दासों को मुक्त करने के लिए आया हूँ।''[५] वास्तव में दयानन्द जी के वेदवाद में राष्ट्रीय भावना निहित थी।

चूँकि दयानन्द जी के जीवनकाल में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आधीन शासन में था। १८५७के संग्राम की विफलता के फलस्वरूप अंग्रेजी शासन सर्वत्र सुदृढ़ हो गया था। इसके अतिरिक्त ईसाई सभ्यता देश की पुरानी संस्कृति पर प्रहार कर रही थी। जैसा कि लाला लाजपत राय ने अपनी पुस्तक 'आर्य समाज' में उद्धृत किया है कि ''दयानन्द को ईसाइयत के प्रसार से भय था, क्योंकि वे समझते थे कि किसी विदेशी पंथ को अंगीकार कर लेने से राष्ट्रीय भावना जिसका वे पोषण करना चाहते थे, संकट में पड़ जायेगी।'' स्वामी जी यह मानते थे कि धर्म ने ही भारत की महान विपत्तियों के समय रक्षा की है, इसीलिए उन्होंने वेदों के पुरातन आदर्शवाद को पुनर्जीवित करने का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। इसके लिए उन्होंने विवेकशून्य अन्धविश्वासों तथा परम्परावाद के विरुद्ध वीरतापूर्वक संघर्ष किया और विवेक एवं सत्य की पूजा करने पर बल दिया।

भारत के लिए उनके मन के गहरा अनुराग तथा उत्कट प्रेम था। अपनी रचनाओं में उन्होंने देश की राजनीतिक दासता पर शोक प्रकट किया है। आधुनिक भारत के वे पहले भारतीय थे जिन्होंने राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक के रूप में गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा लेकर 'स्वराज्य' का नारा लगाया। उनका कहना था- ''सुशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता है।'' उनका मानना था कि अपने स्वत्व और अधिकारों की रक्षा के लिए भौतिक बल आवश्यक है। अत: उन्होंने भारतीयों के 'शारीरिक सौष्ठव' पर विशेष बल दिया। इसके लिए व्यायाम व प्राणायाम को नित्यकर्म में सम्मिलित करना आवश्यक बताया। उनका मानना था कि कमजोर और विकलांग नागरिकों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती है। फलस्वरूप हिन्दू धर्म के अनुयायियों में एक नया आत्मविश्वास, आत्मपरीक्षण तथा आत्मशुद्धि की भावना जागृत हुयी।

दयानन्द जी के राष्ट्र प्रेम का ही परिणाम आर्य समाज द्वारा चलाया गया 'शुद्धि आन्दोलन' था जिसके अन्तर्गत लोगों को अन्य धर्मों से हिन्दूधर्म में लाने का पहली बार प्रयत्न किया गया। परिणामत: ऐसे बहुत सारे भारतीय, जिन्होंने विभिन्न कारणों से बौद्ध, इस्लाम धर्म को अंगीभूत कर लिया था, उनके लिए पुन हिन्दू धर्म से वापस लौटने का मार्ग प्रशस्त हुआ। वह प्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारतीयों को 'स्वदेशी का पाठ पढ़ाया, जिसकी प्रेरणा से आगे चलकर तिलक ने 'स्वदेशी व बहिष्कार आन्दोलन चलाया तथा बाद में गाँधी जी ने इसी 'स्वदेशी' को अपने आन्दोलनों का आधार बनाया, जिसका अन्तिम व सुखद परिणाम १९४७ ई० में भारतीय स्वतन्त्रता के रूप में भारतीयों को प्राप्त हुआ।

स्वामी विवेकानन्द एवं वैदिक धर्म- आर्य समाजी आन्दोलन के समकालीन ही एक और सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलन भी भारत में हुआ, वह था रामकृष्ण आन्दोलन। इसके प्रणेता रामकृष्ण परमहंस जी थे, किन्तु आन्दोलन के रूप में इसे प्रचारित करने का श्रेय उनके शिष्य विवेकानन्द जी को है। यह आन्दोलन भी पूर्णत: वैदिक धर्म के आदर्शों पर आधारित था। स्वामी रामकृष्ण जी को भारतीय विचार व संस्कृति में पूर्ण आस्था थी, परन्तु वे सभी धर्मों को सत्य मानते थे। वे मूर्तिपूजा में विश्वास रखते थे और उसे शाश्वत, सर्वशक्तिमान ईश्वर को प्राप्त करने का एक साधन मानते थे। वह ईश्वर प्राप्ति के लिए उसके प्रति नि:स्वार्थ और अनन्य भक्ति में आस्था रखते थे तथा कर्मकाण्डों के विरोधी थे। उन्होंने तीनों प्रकार की तान्त्रिक, वैष्णव व अद्वैत साधना की और अन्त में निर्विकल्प समाधि की स्थिति को प्राप्त कर 'परमहंस' कहे गये। स्वामी विवेकानन्द ऐसे योग्य गुरू के योग्य शिष्य थे।

विवेकानन्द जी का व्यक्तित्व शक्तिशाली, तेजस्वी तथा सर्वतोन्मुखी था। उनके अन्दर रहस्यात्मक अनुभूति भी थी तथा अद्वैत वेदान्तवादियों के परमार्थ सत् के साथ उनका सामंजस्य भी था। वे एक मनीषी भी थे और आध्यात्मवादी वेदान्त के रहस्यों, यूरोपीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित थे तथा मनुष्य के कष्टों का निवारण करने के लिए उनके मन के ज्वलन्त उत्साह था। उन्होंने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति को भारत के पुरुद्धार के कार्य में लगा दिया उनका व्यक्तित्व दो प्रकार से अद्भुत था- प्रथम उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, दूसरे उनका मन देश के जीवन में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक तथाा नैतिक बुराईयों को देखकर छटपटाया करता था। इसलिए उन्होंने भारत के पतन के प्रमुख कारणों को ढूँढा और उनके निराकरण पर बल दिया। उनके अनुसार पतन के ये कारण थे- छुआछूत, श्रद्धा का अभाव, अंग्रेजियत व पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति के प्रति अत्यधिक आकर्षण, बेईमानी, शारीरिक विकास की उपेक्षा, छात्र भावना का पतन और कुछ सीखने के प्रति उदासीनता, भय-ग्रंथी अथवा स्वयं को हीन मानने की मनोदशा, मौलिकता तथा साहस की कमी, आलस्य, संकीर्ण दृष्टिकोण, दुर्बलता, पिछड़ापन तथा धर्म की उपेक्षा। उन्होंने भारत में व्याप्त अस्पृश्यता व रूढ़िवादिता पर कटु प्रहार किया। आत्मा को छू देने वाले शब्दों में उन्होंने कहा- "-------- भारत के करोड़ों गरीबों के दुख व पीड़ा के लिए कितने लोग असल में रोते हैं? क्या हम मनुष्य है? हम उनकी जीविका व उन्नति के लिए क्या कर रहे हैं? हम उन्हें छूते भी नहीं और उनकी संगति से दूर भागते हैं।----- हमारा सनातन धर्म कैसा तुच्छ व भ्रष्ट हो गया है। अब हमारा धर्म किसमें रह गया है? केवल छुआछूत में और कहीं नहीं।"[६] ये सबसे बड़े समाजवादी व राष्ट्रवादी थे जिन्होंने अमीर व गरीब के भेद को ठुकराकर दलितों को सीने से लगाने का न सिर्फ सन्देश दिया बल्कि स्वयं के जीवन में यह करके भी दिखाया। उन्होंने बाल विवाह, शाश्वत वैधव्य, जाति प्रथा जैसी प्रचलित कुरीतियों का विरोध किया। वास्तव में वे वैदिक कालीन सामाजिक परम्पराओं के पोषक थे।

विवेकानन्द जी ने हिन्दू धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में प्रमाणित करने का कार्य किया। वे हिन्दू धर्म को सभी धर्मों की जननी मानते थे। उन्हें हिन्दू धर्म की महानता और सार्वदेशिकता में अखण्ड विश्वास था और वे कहते अघाते नहीं थे कि "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो।"[८] परन्तु उन्हें इस बात की पीड़ा थी कि पाखण्डी पण्डितों और पुरोहितों ने धर्म के नाम पर स्वार्थ का विकास कर हिन्दू धर्म को कलंकित कर दिया है। वे वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म तक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। विवेकानन्द जी की परिभाषा के अनुसार "धर्म वह नैतिक बल है जो व्यक्ति व राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है।"[८] उन्होने भारतीय समाज को शक्ति व निर्भयता का सन्देश दिया। उन्होंने गरजते हुए शब्दों में कहा था- "शक्ति जीवन और दौर्बल्य मृत्यु है।" उनका विचार था कि भारतीय संस्कृति की नींव आध्यात्मिक है इसलिए पश्चिम के लिए उसका विशेष ध्येय, संदेश है।[९] पश्चिम के लोग भौतिक, शारीरिक तथा व्यापारिक सन्तोष और सफलताओं में आश्यकता से अधिक व्यस्त है। इसलिए पश्चिमी संस्कृति में उन गम्भीर धार्मिक मूल्यों को समाविष्ट करना आवश्यक है जिसका पोषण और समर्थन पूर्व के ऋषियों-मुनियों ने किया है। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि अन्ततोगत्वा भारतीय विचाधारा इंग्लैण्ड की विजय कर लेगी।[१०] उनका कथन था कि भारत की प्रतिभा मुख्यत: दर्शन तथा धर्म में व्यक्त हुई है। भारतीय संस्कृति के नेताओं का प्रधान उद्देश्य उन शाश्वत सत्यों का साक्षात्कार करना रहा है; जिसका प्रतिपादन धर्मग्रन्थों में किया गया है। यद्यपि वे भारत की सांस्कृतिक महानता के

स्पष्टवादी प्रचारक थे, किन्तु साथ ही साथ उन्होंने प्रचलित सामाजिक अनुदारता के विरुद्ध विध्वंसकारी योद्धा की भाँति संघर्ष भी किया।

वास्तव में विवेकानन्द जी ने उपेक्षित तथा आलोचना के पात्र बने हिन्दू धर्म को एक नवीन धर्म के रूप में प्रचारित किया। उनका विश्वास था कि "आध्यात्म विद्या के सन्दर्भ में पृथ्वी का कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं का मार्गदर्शन नहीं कर सकता है। १८९३ ई० में शिकागो में हुयी 'धर्मों की संसद' में न सिर्फ भारत के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने भाग लिया बल्कि अपनी विद्वतापूर्ण विवेचना के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को उन्होंने साबित भी कर दिया। यहाँ दिये अपने वक्तव्य के एक अंश में उन्होंने कहा था, "... हिन्दू जाति ने अपने धर्म अपौरुषेय वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह हास्यास्पद मालूम हो और सोचें कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। परन्तु वेद का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य जाति उसे भूल जाय, तो भी यह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक यही बात आध्यात्मिक जगत को चलाने वाले नियमों के सम्बन्ध में भी है।[११] यहाँ उनके भाषण का मूल यह था कि हमें भौतिकवाद तथा आध्यात्मकवाद के बीच एक स्वस्थ सन्तुलन स्थापित करना है। उन्होंने समस्त संसार के लिए ऐसी संस्कृति की परिकल्पना की जिसमें पश्चिम के भौतिकवाद तथा पूर्व के आध्यात्मवाद का सामंजस्य हो, जो समस्त संसार को प्रसन्नता दे। इस प्रकार जिस समय भारत का बौद्धिक वर्ग पश्चिम का अनुकरण करने में व्यस्त था, उस समय उन्होंने निर्भीकतापूर्वक यह घोषणा करके कि पश्चिम को भारत से बहुत कुछ सीखना है, राष्ट्रवाद व देशभक्ति की एक लहर भारतवासियों में उत्पन्न कर दी। उनका मानना था कि भारत में दृढ़ व स्थायी राष्ट्रवाद का निर्माण धर्म के आधार पर ही किया जा सकता है, क्योंकि राष्ट्र के अवयवी विकास के लिए आवश्यक है कि लोगों में उदारता, ब्रह्मचर्य, प्रेम, त्याग तथा निग्रह का गुण विद्यमान हो। जिस युग में विश्व संसयवाद और भौतिकतावाद से पीड़ित था, उस समय अद्वैत वेदान्ती के रूप में विवेकानन्द जी ने हिन्दू धर्म को आधार बनाकर सार्वभौम धार्मिक भावना को पुनर्जीवित करने का सन्देश दिया।

डॉ० एनी बेसेण्ट तथा वैदिक धर्म :- स्वामी दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द जी ने धूल पड़ चुकी भारतीय धर्म व संस्कृति की चमक को इस तरह निखारा कि भारतीय तो क्या विदेशी भी वैदिक धर्म व संस्कृति से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सके। कई विदेशी तो ऐसे भी थे, जिन्होंने भारतीय धर्म व संस्कृति का न सिर्फ अध्ययन किया, बल्कि उसे ग्रहण कर उसका प्रचार-प्रसार भी किया। थिओसॉफिकल सोसाइटी ऐसी ही एक संस्था थी, जो उन पश्चिमी विद्वानों के द्वारा स्थापित की गयी थी, जो भारतीय संस्कृति और विचारों से बहुत प्रभावित थे। १८७५ ई० में मैडम एच०पी० ब्लावेट्स्की नामक एक जर्मन-रूसी रक्त की महिला ने इस सोसाइटी की नींव अमेरिका में रखी थी। तदनन्तर कर्नल एम०एस० ऑलकॉट भी उनसे जा मिले। १८८२ ई० में उन्होंने अपनी सोसाइटी का मुख्य कार्यालय मद्रास के अड्यार क्षेत्र में स्थापित किया। डॉ० एनी बेसेन्ट, जो कि एक आयरिश महिला थी, जिनका ईसाई मत से विश्वास उठ गया था, १८८२ में इस संस्था के सम्पर्क में आयी और इसकी सदस्या बन गयी। १८९१ में मैडम ब्लावेट्स्की की मृत्यु के पश्चात् वे भारत आयीं और कर्नल आल्कॉट की मृत्यु

के पश्चात् १९०७ में वे इसकी अध्यक्षा बनीं तथा मृत्यु पर्यन्त १९३३ तक इस पद पर बनी रही। इस संस्था को डॉ० बेसेण्ट ने अत्यधिक लोकप्रिय बनाया।

डा० एनी बेसेण्ट को भारत के प्राचीन धर्म में अगाध विश्वास था। भारतीय विचार व संस्कृति से वे भली-भाँति परिचित थीं। धीरे-धीरे वह पूरी तरह से भारती हो गयीं - न केवल विचारों से अपितु वस्त्र, भोजन, मेल-मिलाप और सामाजिक शिष्टाचार से भी। भारत में थियोसॉफिकल सोसाइटी उनकी देख-रेख में हिन्दू पुर्नजागरण का अन्दोलन बन गयी। वे परम्परागत हिन्दू धर्म के व्याख्यान देती हुयी तथा शिक्षण संस्थायें स्थापित करती हुयी सारे भारत में घूमती रहीं, वैदिक व उपनिषदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया तथा समूचे हिन्दू धर्म का विकास किया, जिसमें वेद, उपनिषद्, पुराण, महाकाव्य, कथा वार्ता आदि सभी सम्मिलित थे। उन्होंने हिन्दुत्व के दर्शन, नीति, पूजा-विधि, योग, अवतारवाद, देववाद आदि सभी का समर्थन किया तथा हिन्दू संस्कृति की महानता का उद्घाटन करने के अथक प्रयास किये। दूसरे देशों के स्त्री-पुरुषों को हिन्दू दर्शन और संस्कृति के पक्ष में प्रभावित करने में उनकी प्रमुख भूमिका थी और वह भी ऐसे समय में जब भारत का युवा स्वयं अपने ही धर्म और संस्कृति से अपरिचित हो गया थ। उन्होंने धर्म व संस्कृति की एक सार्वदेशिक पाठ्यपुस्तक तैयार की जिसमें सभी धर्मों की तुलना में हिन्दू (वैदिक) धर्म में सत्य अधिक पाया जाता है। उन्होंने भारतीयों में आत्मविश्वास तथा राष्ट्र निर्माण की भावना जागृत की। उनके द्वारा भारतीयों की शिक्षा के लिए ही १८९८ में बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की नींव रखी गयी, जहाँ हिन्दू धर्म व पाश्चात्य वैज्ञानिक विषय पढ़ाये जाते थे। आगे चलकर १९१६ में यही बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया। इतना ही नहीं उन्होंने भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा भगवद्गीता के अध्ययन के लिए 'हिंट्स ऑन द स्टडी आफ द भगवद्गीता' नामक पुस्तक की रचना भी की, जो हिन्दू धर्म व दर्शन में उनकी गम्भीर आस्था का प्रमाण है।

वे भारत को अपी मातृभूमि कहती थीं। एक विदेशी होने के बावजूद डॉ० एनी बेसेण्ट ने तात्कालिक भारतीय समाज में प्रचलित कुरीतियों तथा महिलाओं की दीन-हीन दशा के विरुद्ध भी आवाज उठायी। उनके सहयोग से ही भारतीय नारी अपनी स्वतन्त्रता, अपने अधिकार और अपने उचित स्थान को पाने की दिशा में आगे बढ़ी। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि नारी को अपना पुराना (वैदिक कालीन) गौरव दिये बिना तथा उसके अधिकारों की समुचित रक्षा किये बिना भारत वास्तविक अर्थों में कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उनकी प्रेरणा से ही ''वीमेन्स इन्डियन एसोसियेशन'' की स्थापना हुयी, जिसकी सर्वप्रथम अध्यक्षा वे स्वयं बनीं। इसके साथ-साथ अल्प-आयु में लड़के-लड़कियों के विवाह की परम्परा, बाल वैधव्य, जाति प्रथा, अस्पश्यता जैसी कुरीतियों की उन्होंने कटु आलोचना की। वे वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था की समर्थक थीं। उन्होंने सच्चे हृदय से हिन्दू समाज को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया और इसके लिए डॉ० भगवानदास की सहायता से उन्होंने ''सनातन धर्म सीरिज'' के शीर्षक से हिन्दू धर्म पर पाठ्य पूस्तकें भी लिखीं। उन्होंने हिन्दुत्व का गौरवमान किया तथा भारतीय सभ्यता को आधुनिक युग की बरसाती सभ्यताओं से अधिक श्रेष्ठ मानकर अभिनन्दित किया।

भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रति अदम्य प्रेम के कारण ही उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहे भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलनों में भी बढ़-चढ़कर भाग लिया। भारतीय राष्ट्रवाद तथा राजनीति पर उन्होंने दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे- 'इण्डिया ए नेशन' और 'हाउ इण्डिया फाट फॉर फीडम'। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारतीय राष्ट्रवाद को धार्मिक दिशा देने की सिफारिश की। १९१३ से १९१९ तक वे भारतीय राजनीति में सक्रिय रहीं तथा १९१६ में तिलक के

साथ मिलकर उन्होंने होमरूल आन्दोलन भी चलाया। डॉ० बेसेण्ट यह मानने को तैयार नहीं थीं कि भारत को राष्ट्र बनने का पाठ पश्चिम ने सिखाया था, बल्कि उनका मानना था कि "यह तो अतीत से ही एक राष्ट्र था। इसके सम्पूर्ण साहित्य, दर्शन व कलाओं में जीवन्त राष्ट्रीय भावना की गहरी तथा व्यापक तरंग विद्यमान रही है। विश्व में अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ है, किन्तु कालान्तर में वे भूमिगत हो गयी। किन्तु भारत अपने राष्ट्रवाद के धार्मिक स्रोतों के प्रति वफादार बना रहा, इसलिए उसकी प्राणशक्ति अक्षुण्ण रही, और वह अपनी खोयी हुयी शक्ति को पुनः प्राप्त करने के योग्य बना रहा। यह कहना 'मूर्खतापूर्ण' तथा 'बेहूदा' है कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय ब्रिटिश शासन का परिणाम है।"[१२] १९१७ में आयोजित कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था कि "---शीघ्र ही हम भारत को गर्वीला, आत्मविश्वासी, शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र देखेंगे, वह एशिया का वैभव व विश्व का प्रकाश तथा वरदान बनेगा। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र पर 'दं इण्डियन आइडियल्स' नामक पुस्तक की रचना भी की।

इस प्रकार भारतीय पुर्नजागरण के सन्दर्भ में उद्धृत वैदिक धर्म व संस्कृति की निरन्तरता के सन्दर्भ में उपर्युक्त युग पुरुषों के विचार तो एक उदाहरण मात्र है। इस काल में अपने विचारों से इन विचारकों ने सुषुप्त भारतीय संस्कृति में नये प्राण फूँके जिसका एक महत्वपूर्ण परिणाम भारत की स्वतन्त्रता थी। फलतः हम कह सकते हैं कि वैदिक धर्म की प्रासंगिकता तो बीते हुए प्रत्येक काल में सर्वसिद्ध हो चुकी है। आने वाले कालों में भी निश्चित रूप से इसके महत्व में कोई कमी नहीं आयेगी। जब तक पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, जल का अस्तित्व रहेगा, वैदिक धर्म की निरन्तरता बनी रहेगी।

सन्दर्भ :

१. वी०एस० नरवणे - आधुनिक भारतीय चिन्तन, पृ० ३२.
२. राजा राम मोहन राय द्वितीय जन्म वार्षिक समारोह समिति पुस्तिका, पृ० ७६.
३. वही, पृ० ७६.
४. विपिन चन्द्र पाल, "Ram Mohan as Reconstructor of Indian life and Society", Calcutta Municipal Gazettee के दिसम्बर, १९२८ के अंक में प्रकाशित।
५. योगी दयानन्द की आत्मकथा।
६. स्वामी विवेकानन्द पत्रावली, प्रथम भाग, पृ० ९८.
७. स्वामी विवेकानन्द पत्रावली, द्वितीय भाग, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ० ८०.
8. 'The Mission of Vedanta' नामक व्याख्यान से The Complete Works of Swami Vivekananda, जिल्द ३, पृ० १९०.
9. The Complete Works of Swami Vivekananda, जिल्द ५, पृ० १२०-२१.
१०. शिकागो वक्तृता, स्वामी विवेकानन्द, पृ० १८.
11. "India's Mission", Sunday Times, लन्दन; The Complete Works of Swami Vivekananda, जिल्द ५ में पुर्नमुद्रित (मायावती मेमोरियल संस्करण १९३६), पृ० ११८-२४.
१२. एनी बेसेण्ट - "Shall India Live or Die?" १९२५ पृ० ३८.

✱

वैदिक काल में तन्त्र चित्रण

मोहन सिंह मावड़ी*

भारतीय संस्कृति वेदों पर आधारित है। तान्त्रिक क्रिया-कलापों को वेदों में भी महत्त्व दिया गया है। तन्त्र एक ऐसी विधा है जो आध्यात्मिक क्षेत्र में मार्ग प्रशस्त करने का एक समुचित साधन है। इस विधा से तन्त्र अपने मौलिक स्वरूप में मानव उत्थान हेतु अग्रसर रहा है।

वेद की भाँति तन्त्र क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक ही है। शिव समवेत शक्ति के रूप में हैं - ज्ञान एवं क्रिया। ज्ञानरूपिणी शक्ति पर और अपर भेद से द्विविध है। पर-ज्ञान बोधात्मक तथा अपर ज्ञान वागात्मक है। वागात्मक शास्त्र ज्ञान रूप से प्रतिष्ठित है। बोधात्मक पर-ज्ञान वागात्मक अपर-ज्ञान शब्द पर आरूढ़ होकर अर्थ-प्रकाश में प्रवृत्त होता है। सात्वत संहिता में पर-ज्ञान को शिव की साक्षात् शक्ति और अपर ज्ञान को तन्त्र कहा जाता है।[1] तन्त्रों का और वेद का लक्ष्य एक ही है - आत्मलाभ। वेद प्राण और मन्त्र को स्वीकार करते हैं। साधना के अंग के रूप में यम-नियम जैसे निरोध मार्ग को स्वीकार करते हैं। तन्त्र विसर्ग को और भोग को तान्त्रिक साधना इन्द्रियों को चंचल करके प्रारम्भ होती है, वैदिक साधन इन्द्रियों को निरोध मार्ग से निष्क्रिय कर देने से होती है। वेद योग-मार्ग है और तन्त्र भोग-मार्ग। वेद और वेदान्त व उपनिषद् इन्द्र को महिमा सम्पन्न सर्वोच्च नियमन-संचालन शक्ति का अधिष्ठाता देव मानते हैं।[2]

वेदों के विभिन्न सूत्रों में अग्नि के मस्तिष्क में ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। तान्त्रिक की त्राटक क्रिया करते समय आँखे दीपक की लौ पर केन्द्रित हो जाती हैं। अग्नि की ऊपर उठती लपटें अथवा दीपक की लौ, कुछ लोगों के मस्तक (माथे) पर विचित्र सा प्रभाव उत्पन्न करती हैं। ऐसे प्रतीत होता है जैसे मस्तक को कोई ईथरनुमा द्रव माथे के मध्य की दोनों खड़ी लकीरों के बीच लहर मार रहा है।[3] ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से मानी जाती है। वेद में अग्नि के मन्त्र भी बहुत हैं। अग्नि की सात जिह्वाएँ निम्नलिखित हैं - काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, धूम्रवर्णा, उग्रा, और प्रदीप्ता। यह दक्षिण-पूर्व कोण के अधिष्ठाता देवता हैं।[4] वस्तुत: भावी विश्व की रूपरेखा जहाँ बनती है - जानी जाती है, वह सूक्ष्माकृति सम्पन्न अभेद का रूप वस्तु तत्व ही तन्त्र है। अनन्तर वही वस्तु तत्व जब कुछ पूर्व दिशा में उन्मिषित होता है, तब भेद और अभेद रूप को प्राप्त करके भावी प्रसार अथवा फैलाव का मध्यावस्थात्मक ठाठ या तन्त्र कहलाता है और भेदात्मकपूर्ण प्रसार तो तन्त्र है ही।[5]

आश्वलायन एवं कात्यायन श्रौत्र सूत्रों में कर्मात्मक अंगों की संहति ही तन्त्र है अर्थात् आशत् उपकारक कर्मों का सकृत् अनुष्ठान ही तन्त्र कहा गया है।[6] वाचस्पत्यम् में तन्त्र के अर्थ- कुटुम्ब भरणादि कृत्य, सिद्धान्त, औषधि, प्रधान, परिच्छद, वेदशाखाभेद, हेतु, उभयार्थक,

*विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग, डी०एस०बी० परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल (उत्तराखण्ड)

प्रयोग, इतिकर्त्तव्यता, तन्तुवाय, राष्ट्र, परच्छन्दानुगम, स्वराष्ट्र चिन्ता, प्रबन्ध, शपथ, धन, गृह, वयन, साधन, कुल, शिवादिशास्त्र भेद आदि बताये गये हैं।[७]

ब्रह्माण्डीय वव्यस्था के इस विश्वास को लिये हुए तान्त्रिक योगी रहस्यात्मकता का अनुभव करता है। वह रहस्य के साथ रहता है, रहस्य में रहता है। तान्त्रिक कला ने इसी के तत्व को ग्रहण करने और चाक्षुष आकृतियों द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। जब तक उपासक इसमें पूर्ण रूप से एकात्म नहीं होता, वह इस रहस्य को नहीं समझ सकता। अत: प्रकृति के निरन्तर चिन्तन से अपने तथा विश्व के प्रति उपासक की दृष्टि बदल जाती है।[८] शक्ति का अर्थ है तन्त्र शास्त्रों के विभिन्न पक्षों को पूर्ण रूप से सम्पन्न करने की साधना। यह साधना ही तन्त्र साधना है। यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र की साधनायें शक्तियों का प्रतीक हैं और अलग-अलग कार्यों हेतु ऋषियों के वरदान स्वरूप प्राप्त की गयी हैं। साधक तन्त्र साधना सम्पन्न कर अपना जीवन धन्य करता है और जीवन में जिस तत्त्व की कमी होती है; उस कमी को पूरा करने के लिए क्षमता प्राप्त कर लेता है।[९]

वेदों में प्रकृति की उपासना को बढ़ावा देकर तांत्रिक सिद्धान्तों को वर्णित किया गया है। यह भी सत्य है कि तन्त्र हिन्दू धर्म के उस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं जिससे वेदों का प्रतिनिधित्व हुआ है।

वैदिक काल से प्रचलित श्री सत्यनारायण तन्त्र वर्तमान में श्री सत्यनारायण कथा (पूजा) के रूप में प्रचलित है। सत्यनारायण तन्त्र को साक्षात् वेदों से उत्पन्न माना जाता है। सत्यनारायण तन्त्र के द्वारा ऐश्वर्य एवं समृद्धि के प्रति मनोकामना पूर्ति हेतु यन्त्र चित्रित करके पूजा की जाती है। चित्र संख्या - १

अपार विश्व ब्रह्माण्ड की उस अदृश्य, किन्तु सर्वव्यापी एवं सर्व समर्थवान् शक्ति का नाम ही ईश्वर है, जो इसके अणु-अणु का नियन्त्रण करती है। शब्द व अर्थ की महिमा को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकता, किन्तु स्वयं में निर्गूढ़ उसके अपार वैभव एवं ऐश्वर्य को तो इंगित करता ही है। उसी प्रकार अगणित कुन्दकलियों की मालाओं से संयुक्त नीलाम्बारा सन्ध्या सुन्दरी, उषा की नव अरूण आभा से प्रदीप्त रूप-राशि में पुष्प वैभव, गगनाओं की मरकत मणियों के क्रीड़ास्थल सदृश पूर्वादल से आच्छादित पृथ्वी का अँचल, कोमल कान्ति, शशि-श्यामला, कमल-सुगन्ध से उन्मत्त, किसी अज्ञात सत्ता का आभास कला, साहित्य, संगीत, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं ध्वनि के असंख्य रूपों द्वारा तो होता ही है।

भारत में तन्त्र का प्रचलन अति प्राचीन है। यहाँ ऐसी अलौकिक शक्तियाँ विद्यमान हैं जिन्हें समस्त संसार ने स्वीकारा है। सफलतादायक विश्वास में अटूट आस्था होती है इसीलिए उसे अन्ध-विश्वास कहा जाता है। यहाँ के ब्रह्मवाद को विज्ञान ने भी आभास किया जिससे शक्ति एवं आध्यात्मिक चेतना जागृत होने का आधार है। साधक स्वयं साधना के चमत्कार से विज्ञ रहते हैं। यहाँ धर्म एवं संस्कृति में आध्यात्म की स्वीकृति है कि सृष्टिक्रम की एक ईश्वरीय व्यवस्था विद्यमान है। तद्नुसार विश्व के नियन्त्रण हेतु समय-समय पर वह विशेष रूप से अवतरित होकर धारा पर प्रकट होते रहे हैं। इस प्रकार ईश्वर के अवतरित होने को 'अवतार' की संज्ञा दी गई है। ऐसे अवतारों में तीन रूप सर्वाधिक प्राचीन एवं समर्थ हैं - ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश। इन तीन रूपों को ईश्वर का साक्षात् प्रतिरूप माना जाता है। ये तीनों अवतार आदि

देव के रूप में स्वीकार हैं। भारतीय मान्यता यह है कि इन तीनों शक्तियों ने भू-लोक पर विभिन्न रूप धारण करके अनेक अवतारों के माध्यम से पौराणिक सन्दर्भों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। ब्रह्म सृजन के अधिपति, विष्णु सृष्टि पालक एवं शिव काल व्यवस्था के स्वामी हैं। शिव के अनेक नाम हैं, जिनमें ओंकार, शंकर शम्भु, महादेव, महेश्वर, त्रिलोचन, कापालिक भूतेश, मृत्युंजय, अनन्त आदि हैं।

सन्दर्भ :

१. दीक्षित, गोपीनाथ : उद्धरण तन्त्र महाविज्ञान - पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

२. शास्त्री, गोविन्द : तन्त्र विज्ञान, पृ० १३६, साधना पॉकेट बुक्स, ३९, यू०ए० बैंग्लो रोड, दिल्ली-११०००७.

३. खन्ना, नवीन : कादम्बिनी, नवम्बर १९९६ पृ० २०३ (विज्ञान की परख पर योग और तान्त्रिक साधना), हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली

४. पाठक, रामचन्द्र : आदर्श हिन्दी शब्द कोश, पृ० ११, भार्गव बुक डिपो, चौक, वाराणसी (१९७६)

५. अवस्थी, डॉ० शिवशंकर : मन्त्र और मतृकाओं का रहस्य, पृ० १२, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी (उ०प्र०)

६. ऋग्वेद : दशम मण्डल - ऋचा - ७१, वैदिक सम्शोधन मण्डल पूना (महाराष्ट्र) ४११००९.

७. वाचस्पत्यम् : पृ० ३२२५, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, पो०बॉ० - ८, वाराणसी (उ०प्र०) १९६२

८. अग्रवाल, गिर्राज किशोर : कला निबन्ध, पृ १९७, ललित कला प्रकाशन, साकेत कालोनी, अलीगढ़ (उ०प्र०)

९. बहल, तान्त्रिक : मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र द्वारा शारीरिक चिकित्सा पृ० ७९, राजा पॉकेट बुक्स ३३०/१, बुराड़ी, दिल्ली - ११००८४.

वैदिक रुद्र (शैव) परम्परा का उद्भव एवम् विकास

जागृति सोनकर*

देवता के रूप में प्राचीन काल से ही सम्पूर्ण भारत तथा विदेशों में पूजित रहे। शिव को सृष्टिकर्ता तथा संहारकर्ता के रूप में माना जाता है। सम्पूर्ण भारत में प्राप्त साक्ष्य सामग्रियों के आधार पर शिव पूजा का काल सैन्धव सभ्यता के काल से वर्तमान काल तक माना जाता है। भारत में शिव मूर्ति रूप में पूजित होने के संदर्भ में विभिन्न कालों के विषय में प्राप्त साक्ष्य सामग्रियों पर प्रथमतः विचार किया जाना विषयानुकूल होगा :-

१. भारत में शिव मूर्ति पूजा तथा लिंग पूजा की प्राचीनता -

क) सैन्धव काल - भारत में शिव प्रतिमा की पूजा अर्चना के संदर्भ में विभिन्न ऐतिहासिक साक्ष्य सामग्रियों के आधार पर विद्वान मनीषियों का अभिमत है कि यह सैन्धव काल से प्रचलित थी। इस संदर्भ में समय-समय पर विभिन्न स्थानों मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, उत्तर में कालीबंगा (जिला गंगानगर राजस्थान) दक्षिण में लोथल (गुजरात), पश्चिम में ब्लूचिस्तान एवं मकरान, तथा पूर्व में गंगा घाटी तथा झोब, कुल्ली, मेंही, सिसवाल, माहेश्वर, आवरा, कायथा, एरण आदि स्थानों से सैन्धव सभ्यता के साक्ष्य सामग्रियों में पाषाण तथा सीप और मिट्टी के बहुसंख्यक लिंग और वर्तुलाकार छल्ले मिले हैं। जिनमें से कुछ लिंगों के शीर्ष भाग नोंकदार तथा कुछ के गोल आकार के हैं, साथ ही इनका माप भी भिन्न-भिन्न है जिनमें कुछ लिंग एक इंच, कुछ २ इंच तथा ४ फुट या लगभग डेढ़ मीटर ऊँचे हैं। इन स्थानों से प्राप्त वर्तुलाकार छल्लों का तादात्म "योनि" (भग) से स्थापित किया है। मार्शल महोदय का भी लिंग पूजा के विषय में मानना है कि लिंगाकार तथा चपटे छिद्रयुक्त, वर्तुलाकार जो पत्थर आदि के मिले हैं, उनसे योनि पीठ की परिकल्पना की जा सकती है - Marshall "Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol. I, p. 59[१] जिन्हें शिव और शक्ति के प्रतीक स्वरूप तथा शिव के साथ शक्ति का सम्बन्ध अविच्छिन्न भाव रूप माना है। हड़प्पा से प्राप्त भग्न मूर्ति के विषय में कतिपय विद्वानों का अनुमान है, कि इस प्रतिमा में ऊर्ध्वलिंग का अंकन था जो अब भग्न है। इस प्रतिमा मुद्रा की भंगिमा से स्पष्ट होता है कि नृत्य के यत्न स्वरूप इसका अंकन किया गया होगा। (रमा नाथ सिंह - "भारतीय मूर्ति कला" पृष्ठ - २९)।[२]

दूसरा साक्ष्य स्वरूप मोहनजोदड़ों से प्राप्त मोहर चौकी के ऊपर योग मुद्रा में त्रिमुख शृंग मुकुट युक्त मानवीय आकृति दक्षिण पार्श्व में गज और शार्दूल तथा वाम पार्श्व में गण्डक (गेंडा) और महिष का अंकन है। आसन के नीचे दो मृग खड़े हैं। इसे मार्शल महोदय ने "शिव के पशुपति व महायोगी स्वरूप की परिकल्पना के रूप में माना है जो शिव-प्रतिमा की पूजा अर्चना के भाव व्यक्त करता है। (Marshall-Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol. I, p. 12, figs. 17, 22)[३]

शोध छात्रा, C/o श्री रमा शंकर, उपनिदेशक संस्कृति विभाग, लखनऊ

ख) वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल - वैदिक काल के साक्ष्य के रूप में ऋग्वेद के मण्डल-८, सूक्त-६९, ऋचा-१२ में वर्णित ''सूर्म्यमृसुशिरामिव'' वाक्य की व्याख्या करते हुये विद्वान वेलेन्टाइन ने छिद्र युक्त धातु प्रतिमा के निर्माण स्वरूप को स्वीकार किया है।[४] इस परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों के सूक्त तथा ऋचाओं को आधार स्वरूप लेते हुए वेंकटेश्वर तथा बलिसेन आदि विभिन्न विद्वानों ने वैदिक देवताओं के मानवीय अथवा पशुपति प्रतिमा स्वरूप की स्थापना का प्रयास किया है। यथा - रूद्र के 'कपर्दिन' नाम में उनके सिर की जटाओं का अनुमान किया है।

ऋग्वेद के मण्डल - ७, सूक्त - २१, ऋचा - ५, में वर्णित 'शिष्णदेव:' शब्द का तादात्म लिंग पूजा से स्थापित किया है।[५] मूरदेव: शब्द से विद्वानों ने शक्ति पूजा अर्चना से सम्बन्ध स्थापित किया है।

उत्तर वैदिक काल में साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर प्रयुक्त शब्द यथा संदृश, प्रतिकृति प्रतिमा, अर्चा आदि को आधार स्वरूप मानते हुए रुद्र शिव रूप में पूजित होने लगे। शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेही संहिता अध्याय-१६ में 'शत-रूद्रियाँ' का विवरण प्राप्त होता है। जिनमें सौ रूद्रों के नामों का उल्लेख है।[६] महर्षि वात्स्यायन ने अपने न्याय दर्शन भाष्य में वेदों और पुराणों का आर्विभाव काल समान माना है।[७] यदि उक्त आधार को साक्ष्य माना जाये तो 'लिंग पुराण' के मूल कथा के अनुसार प्रलय काल में सम्पूर्ण सृष्टि जिनमें लीन होती है तथा पुन: सृष्टि काल में जिससे सृजन होता है उसे लिंग कहते हैं।

लयं गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यत:।
सृष्टिकाले पुन: सृष्टिस्तम्भलिंङ मुदाहतर्म्।।
लिंग पुराण-९९-८८

रामायण तथा महाभारत काल में अनेक शिव पूजा अर्चना के सम्बन्ध में साक्ष्य प्राप्त होते हैं। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण में भी 'लिंग' पूजा अर्चना का सुस्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। रामायण के उत्तर काण्ड (११-३१-४२) में रावण द्वारा शिव के पूजा अर्चना करने तथा राम द्वारा लंका गमन से पूर्व सेतु निर्माण, के पूर्व समुद्र तट पर शिव लिंग प्रतिष्ठापित कर शिव पूजा अर्चना के विषय में वृतान्त प्राप्त होता है।[९] इसी प्रकार महाभारत में अनुशासन पर्व १४,२३३-३५ - पृष्ठ - ५४९४ में उपमन्यु के माता के मुख से वर्णित कथन में शिव पूजा अर्चना के भाव प्राप्त होते हैं -

न शङ्खाङ्का न चक्रङ्का न वज्राङ्का यत: प्रजा:।

लिङ्गाङ्काश्च भगाङ्काश्च, तस्माद् माहेश्वरी प्रजा:।।२३३।।

देव्या: कारणरूपभावजनिता: सर्वा भगाङ्का: स्त्रियो।

लिङ्गेनाऽपि हरस्य सर्वपुरुषा: प्रत्यक्षचिह्नीकृता:।।२३४।।

ग) छठी शताब्दी ई०पू० से अब तक - इस काल में शिव पूजा अर्चना के सम्बन्ध में विचारणीय होगा कि कुरूवंश के अंतिम शासक निचक्षु ने मानवीय तथा दैवीय विपत्तियों से पराभूत होकर अपने पूर्वजों की राजधानी हस्तिनापुर छोड़कर कौशाम्बी जाकर रहने लगे तथा इन्हीं के उत्तराधिकारियों ने कालान्तर में अपनी राज्य सत्ता स्थापित किया।[११] छठीं शताब्दी

ई०पू० में वत्सराज उदयन इसी वंश का राजा था चूंकि युधिष्ठिर के वंशजों का कालान्तर में स्थायी रूप से बस जाने पर उनकी कुल भावनाओं में शिव पूजा अर्चना के दार्शनिक भाव अवश्य ही रहे होंगे।[१२]

उत्तर मौर्य काल में इलाहाबाद जनपद के भीटा से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ई०पू० का लेख युक्त मुख लिंग जिसकी संरचना के आधार स्वरूप यदि माना जाये तो निश्चित ही पूर्व काल तथा वर्तमान में शिव पूजा अर्चना का भाव निर्द्वन्द रूप से माना जा सकता है। "Marshall Excavations at Bhita, ARASI; 1911-22pp. 29-94"[१३] कालान्तर में शुंग काल, कुषाण काल, गुप्त काल एवं इसके बाद में शिव पूजा तथा उनके विभिन्न स्वरूपों की प्रतिमाएं विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। जो इन कालों के साक्ष्य स्वरूप शिव पूजा अर्चना के भाव को सुस्पष्ट करती है।

१२वीं शताब्दी के पश्चात् अब तक शिव प्रतिमा तथा शिव लिंग की पूजा अर्चना के सम्बन्ध में मण्डल के विभिन्न जनपदों में अनेक मंदिर निर्मित किये गये तथा वर्तमान में भी मंदिरों का निर्माण कर शिव लिंग तथा शिव परिवार से सम्बन्धित विभिन्न प्रतिमाओं की स्थापना की गयी है। ज्ञातव्य हो कि शिव लिंग की स्थापना में पीठ सहित शिव लिंग को दर्शाया गया है। कहीं-कहीं शिव लिंग तथा योनिपीठ भाग के ऊपर सर्प का अंकन भी दिखाया जाता है। लिंग मुखों का भी अंकन किया जाता है। आधुनिक काल की संरचनाओं में ये सभी तथ्य दृष्टिगत होते हैं। जिससे यह प्रतीत होता है कि आधुनिक काल में शिव लिंग तथा पीठ भाग का अंकन मध्यकाल की कला से पृथक दिखाई पड़ता है। शैव मूर्तियों के विभिन्न स्वरूपों का अंकन प्राप्त होता है जिसमें आधुनिक कला का समावेश स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचित होता है। नवीन कला तो परिलक्षित है परन्तु प्राचीन शिल्प शास्त्र के आधार पर प्रतिमा लक्षण सा दिखाई पड़ता है।

(२) विभिन्न सर्वेक्षण तथा उत्खनन द्वारा लखनऊ मण्डल के जनपदों के शैव पुरास्थल-

लखनऊ मण्डल के अन्तर्गत आने वाले जनपदों में भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश सरकार के पुरातत्व विभाग आदि स्रोतों द्वारा प्राप्त शैव पुरास्थलों का निम्नलिखित रूप से संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है :-

(i) जनपद लखनऊ - राज्य पुरातत्व विभाग द्वारा कराये गये सर्वेक्षणों के अन्तर्गत जनपद लखनऊ तहसील - मलिहाबाद, विकास खण्ड - माल के अन्तर्गत स्थित - वीरपुर ग्राम के मध्य स्थित टीला से प्राचीन मंदिर जो कदाचित ईटों की सहायता से निर्मित किये गये थे। यहां के भग्नावशेष तथा खण्डित प्रतिमाएं मिली हैं। मुख्य रूप से शिव नटराज की विभिन्न मुद्राएँ और निचले भाग में भार पुत्रक एवं द्वार पार्श्व में शूलधारी त्रिशिख शैव गण आदि द्वार शाखाओं पर बने हुए हैं। यहीं एक विशाल उतरंग के ललाट बिम्ब पर नटराज शिव की अष्टभुजी प्रतिमा उल्लेखनीय है। इनके पार्श्व में नन्दी, मुरली वादक तथा शैव गण का निरूपण है। शैलीगत आधार पर इन प्रतिमाओं का काल लगभग ९वीं शताब्दी ई०पू० माना गया है। देवराज ठाकुर नामक मंदिर के समीप जानकीचरण बाबा के चबूतरे के पास स्लेटी बलुए पत्थर का एक पंचशाखा प्रवेश द्वार का खण्डित भाग रखी है जिसके रूप शाखा में शिव का अंकन है। ग्राम ससपन के सर्वेक्षण में यंत्र-तंत्र कुषाणकालीन मृण मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[१४]

लखनऊ में मोहनलालगंज तहसील के अन्तर्गत हुलासखेड़ा नामक गाँव में उत्खनन कार्य उत्तर प्रदेश पुरातत्व विभाग द्वारा कराया गया। यहाँ अनेक पुरावशेष विभिन्न कालों के प्राप्त हुये हैं। यहाँ से एक मुख लिंग गुप्त काल का प्राप्त हुआ है।[१५]

(ii) जनपद रायबरेली - उत्तर प्रदेश पुरातत्व विभाग द्वारा ग्राम स्तरीय सर्वेक्षण विकास खण्ड शिव गण, महराज गंज एवं हरचन्दपुर का कराया गया। ५६ ग्रामों से अनेक महत्वपूर्ण स्मारक/पुरास्थल प्रकाश में आये। कोटवा, राजापुर, ओसाह, पिन्डौली, अटरा, महराजगंज, पाराकला, सलेथ आदि ग्रामों से उत्तर मध्यकालीन देवालय एवं देव प्रतिमाएं प्रकाश में आयी है।[१६]

(iii) जनपद लखीमपुर - जिले में पाल, बरवर, मकसूदपुर, बड़खर आदि ग्रामों के सर्वेक्षण से अनेक मध्यकालीन प्रस्तर प्रतिमाओं के भग्नावशेष पाये गये हैं। यहाँ से शिव मंदिर साक्ष्य प्राप्त हुए है।[१७]

(iv) जनपद हरदोई - सण्डीला तहसील के अन्तर्गत ग्राम सोनिकपुर के पश्चिम में बाणासुर के किले के नाम से विख्यात प्राचीन टीले के अलग-अलग स्थलों पर लाल बलुए पत्थर द्वारा निर्मित तीन शिव लिंग मिले हैं।[१८]

(v) इस जिले के अन्तर्गत अजगैन नामक स्थान से तीन किलोमीटर दूरी पर परसन्दनखेड़ा नामक पुरास्थल से कुषाण कालीन मूर्तियाँ तथा लगभग चौदहवीं शताब्दी के उमा महेश्वर की पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है।[१९]

(vi) जनपद सीतापुर - सीतापुर जनपद के अन्तर्गत नैमिषारण्य जो महर्षियों की साधनापूर्ण तथा देवासुर संग्राम में महर्षि दधीचि की तपस्थली व अस्थिदान एवं प्रख्यात विद्या केन्द्र जिसका कि विवरण विभिन्न पौराणिक कथाओं में प्राप्त होता है इस पुण्यस्थल से अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। ललिता देवी मंदिर के प्रांगण में उमा महेश्वर प्रतिमा अथवा रावणानुग्रह प्रतिमा जो लगभग १०वीं शताब्दी की है। चक्रतीर्थ के पास भैरव प्रतिमा लगभग १०वीं शताब्दी की है। नीमसार के पास गोमती नदी के तट पर स्थित देव-देवेश्वर मंदिर इनमें विशाल आर्घा युक्त शिवलिंग स्थापित है। इस मंदिर के परिसर तथा इसके पीछे बने दो मंदिरों के आस-पास ९वीं-१०वीं शताब्दी की खण्डित प्रतिमाएँ रखी हैं। कुछ दूरी पर स्थित गोडाराव टीले के पास लगभग १०वीं शताब्दी का एक पंचलिंग स्थापित है।[२०]

राजकीय संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत शैव प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण

राजकीय संग्रहालय लखनऊ उ०प्र० में विभिन्न कालों की शैव प्रतिमाएं तथा मुखलिंग संग्रहीत हैं। अब तक का प्राप्त प्राचीनतम मुख लिंग जिसे इलाहाबाद जनपद के अन्तर्गत भीय नामक ग्राम से प्राप्त कर लाया गया था, यहाँ रखा हुआ है जो लगभग १-२ शताब्दी ई०पू० का माना जाता है तथा अन्य विभिन्न प्रकार की प्रतिमाएँ भी यहाँ प्रदर्शित है।

महत्वपूर्ण प्राप्त प्रतिमाओं का विवरण -

(१) सीतापुर जनपद का महत्वपूर्ण शिव लिंग - जनपद सीतापुर के अन्तर्गत मानापुर ग्राम में स्थित मंदिर में शिव लिंग स्थापित है इस शिव लिंग में विष्णु भाग तथा रूद्र

भाग सुस्पष्ट रूप से दर्शित है। अष्टकोणीय विष्णु भाग के ठीक ऊपर की ओर गोलाकार रूद्र भाग में दो भुजी कटि भाग तक शिव प्रतिमा का अंकन है। शिव लिंग के आकार में भारीपन तथा चौड़ाई के साथ सीमित अलंकरण को दृष्टिगत रखते हुये इसे मध्यकाल में माना जा सकता है। इसका आकार लगभग ३३ × २० सेंटीमीटर है।



चित्र सं० - १ - शिव मुख लिंग

(२) उन्नाव जनपद का पंचमुखी शिवलिंग - उन्नाव जनपद के अन्तर्गत ग्राम पुतान मोहान के शिव मंदिर में स्थापित पंच-मुखी शिव लिंग जो अलंकृत अर्घा पर स्थापित है। शिव लिंग में चारों दिशाओं में शिव के चतुर्मुख का अंकन है तथा पांचवाँ मुख लिंग के शीर्ष भाग पर बना हुआ है। इस शिव लिंग की प्रमुख विशेषता यह है कि दो मुखों के मध्य फर्णयुक्त सर्प का अंकन है तथा लिंग के शिरोभाग पर शिवमुख का अंकन है। केश पीछे की ओर हैं, कला की दृष्टि से कलाकार का भाव उन शिव लिंगों की ओर इंगित करता है जिसके शिरोभाग पर शिव मुख अथवा प्रतिमा का अंकन है। इस संदर्भ में इलाहाबाद जनपद के ग्राम भीटा से प्राप्त मुखलिंग जो लगभग १-२ शताब्दी ई०पू० का है इस लिंग पर भी शिव के दो भुजी आवाक्ष प्रतिमा का अंकन, शिरो भाग पर मिलता है। आधुनिक काल का यह पंचमुखी शिवलिंग प्रतिमा विज्ञान में नवीन अथवा आधुनिक कला-भाव को दर्शित करता है।

सामग्री - काला पाषाण, आकार - लगभग ८३ × ८५ सेंटीमीटर आधुनिक काल।



चित्र सं० - २ - पंचमुखी शिवलिंग

संदर्भ :

१. Marshall-Mohenjodro and Indus civilization, vol. 1, p 59.

२. रमानाथ मिश्र, "भारतीय मूर्तिकला" - पृष्ठ संख्या - २९.

३. Marshall-Mohenjodaro and Indus Civilization, vol. 1, p. 52, pl. 12, figs 17, 22.

४. ऋग्वेद मण्डल - ८, सूक्त - ६९, ऋचा - १२.

५. वही, मण्डल - ७, सूक्त - २१, ऋचा - ५.

६. शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेयी संहिता अध्याय - १६.

७. महर्षि वात्स्यायन का न्याय दर्शन भाष्य।

८. लिंग पुराण - ९९/८.

९. रामायण के उत्तर काण्ड (vii-31-42)

१०. महाभारत में अनुशासन पर्व - १४.२३३-३५, पृ० ५४९४.

११. ज्योति प्रसाद जैन - "हस्तिनापुर" अध्याय - ३, प्रथम संस्करण - सम्पादक - प्रो० के०डी० बाजपेयी

१२. देखिए - पार्जीटर - "ऐंश्यिण्ट इंडियन हिस्टोरीकल ट्रेडीशन (१९२२) - पृ० संख्या - २८५.

१३. Marshall, Excavationis at Bhita, ARASI. 1911-22, pp. 29-94.

१४. पुरातत्व: समीक्षा - वर्ष - १९८७ - ८८-८९, पृ० सं० १-३.

१५. संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अंक ३५-३६, जून-दिसम्बर - १९८५, शीर्षक- हुलास खेड़ा उत्खनन - १९८३-८४, डा० राकेश तिवारी एवं राकेश श्रीवास्तव, पृ०सं० - ५९-६३.

१६. वही, वर्ष १९९६-९७, पृ०सं० - ३.

१७. वही, समीक्षा - वर्ष १९९१-९२, पृ०सं० - २.

१८. वही, समीक्षा - वर्ष १९९१-९२, पृ०सं० - ३.

१९. पुरातत्व : समीक्षा - वर्ष १९९२-९३, पृ०सं० - २.

२०. संग्रहालय-पुरातत्व पत्रिका, अंक ३७, जून, १९८६ - "प्रारम्भिक पुराणों की तिथि एवं नैमिषारण्य का पुरातत्व : तुलनात्मक विवेचना" - डॉ० अम्बिका प्रसाद सिंह।

❋

वैदिक सरस्वती के विकास की निरंतरता : पुराणों के विशेष परिप्रेक्ष्य में

अनिल कुमार*

प्रस्तुत शोध पत्र में वैदिक काल से पुराणों तक सरस्वती के विकास की निरंतरता को बताने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में सरस्वती को नदी रूप में मान्यता मिलती है। इसके बाद उत्तरवैदिक काल में सरस्वती को नदी और देवी के रूप में मान्यता मिलती है। महाकाव्यों में भी यही स्थिति है। विशेषत: पुराणों तक आते-आते सरस्वती का वाणी और विद्या के अलावा बुद्धि और सर्वकलाओं की देवी रूप में निरंतर विकास होता गया।

सर्वप्रथम ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तीसरे सूक्त के दशवे मंत्र से सरस्वती के नदी रूप का बोध होता है, परन्तु बारहवें मंत्र में इन्हें जलराशि औ सम्पूर्ण ज्ञान को उत्पन्न करने वाली देवी कहा गया है।[1] ऋग्वेद में वर्णित यह एक मात्र ऐसी नदी है जो बुद्धि को निखारती है। जो कवि यशस्वी नहीं है उन्हें यशस्वी बना सकती है। ऋग्वेद में वाक् सूक्त आता है जिसमें कहा गया है कि वाक् माता है। हमारे चिन्तन में वाणी (विशेष रूप से मन से पवित्र और स्फूर्त वाणी) एक विराट संयोजक व्यापार है। वह कहती है कि[2] -

मया सो अन्नमति यो वियश्यति य: प्राणिति यहूँ शुणोत्युक्तम्।
अमन्त वो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।।

जो कोई भी श्वांस लेता है, देखता है, सुनता है, अन्त खाता है, वह काम मेरे द्वारा ही करता है। जो मेरा महत्व नहीं समझते वे नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वाक् जीवन में है - प्राण की तरह, नदी की तरह। ऋग्वेद की तरह। ऋग्वेद के एक मंत्र में धनदात्री, अन्नदात्री, यज्ञ की कामनाओं को पूर्ण करने वाली कहा गया है।[3]

उत्तरवैदिक काल में धीरे-धीरे सरस्वती का स्वतंत्र रूप से विकास ज्ञानदात्री के रूप में होता गया, वाक् से वाग्देवी और ज्ञान की देवी बन गयी। यजुर्वेद में सरस्वती को वाक्देवी, अश्विन की पत्नी, इन्द्र की चिकित्सक के रूप में, धन व ज्ञान के स्रोत के रूप में माना गया है। अथर्ववेद में सरस्वती आक्रोश देवी, जल की अधिष्ठात्री देवी, उर्वरा की प्रेरिका, वाक् की अधिष्ठात्री कहा गया है। और इनका संबंध वाक् शक्ति को बुलाने के लिए कहा गया है।[4]

ब्राह्मण साहित्य में सरस्वती का वाग्देवी रूप और भी अधिक स्पष्ट रूप से मिलने लगता है। इस काल में वाणी और सरस्वती में पूर्ण समन्वय स्थापित हो जाता है। (वाग्वैसरस्वती)[5] और सरस्वती का वर्णन समृद्धिदात्री के रूप में मिलने लगता है।[6] उपनिषद्काल में सरस्वती का वर्णन कामधेनू के तुल्य आनंददायक और अन्न व बल की प्रदाता, काव्य की अधिष्ठात्री[7] देवी, वाग्देवी के रूप में मिलता है।[8]

* *शोध छात्र, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, का०हि०वि०वि०, वाराणसी*

महाकाव्यों के अंतर्गत रामायण में सरस्वती के नदी रूप और वाणी अथवा वाक्देवी के रूप में उल्लेख मिलता है। सरस्वती के नदी रूप का प्रसंग भरत के कैकेय राज्य (ननिहाल) से अयोध्या लौटने में आता है जिसमें उल्लेख है कि वे सरस्वती और गंगा के संगम पर होते हुए मत्स्य देशों के उत्तर भागों को देखते हुए वरुण वन में जा पहुँचे।[९] यहाँ भगवान राम की जिह्वा पर सरस्वती के वास का उल्लेख है। जब सीता को अपनी पवित्रता करने के लिए अग्नि में प्रवेश को राम ने कहा। तब ब्रह्मा देवताओं के साधुवाद देते समय राम से बोले कि वे (ब्रह्मा) उनके (राम के) हृदय रूप है और देवी सरस्वती उनकी (राम की) जिह्वा हैं तथा सब देवता उनकी (राम की) रोमावली हैं।[१०]

महाभारत के प्रत्येक पर्व के प्रारम्भ में नारायण के साथ देवी सरस्वती की स्तुति की गयी है -

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं नरं चैव जयमुदीरयेत्।।

लोमश ऋषि युधिष्ठिर को तीर्थों के माहात्म्य के बारे में बताते हैं कि सरस्वती अत्यन्त पवित्र नदी है जिसमें स्नान करने से सब पापों की मुक्ति मिलती है।[११] महाभारत में देवी सरस्वती की पूजा के भी संकेत मिलता है। कृष्ण नारद से प्रश्न पूछते है कि किन-किन देवी-देवताओं की पूजा करते है। नारद ने बहुत से देवी-देवताओं के नाम बताते हैं जिसमें एक नाम देवी सरस्वती का भी है।[१२] महाभारत का युद्ध आरम्भ होने से पहले अर्जुन के स्तुति में दुर्गा का एक नाम सरस्वती का भी उल्लेख मिलता है।[१३]

पुराणों में सरस्वती की अवधारणा व्यापक रूप से वर्णन मिलने लगता है। कभी-कभी 'सरस्वती'' और ''भारती'' दो अलग-अलग देवियों का उल्लेख मिलता है किन्तु इन दोनों देवियों की अवधारणा और प्रकृति समान है। सरस्वती में ही भारती अर्न्तनिहित है। इस तरह पुराणों में सरस्वती का दूसरा पर्याय भारती नाम है और इसी देवी के दो नाम - ''सरस्वती'' और ''वाग्देवी'' हो गये। इनके ''वाक्'' नाम सर्वप्रथम ब्राह्मण साहित्य में विशेषकर ऐतरेय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इसके बाद पुनः आगे चलकर पुराणों में इनका पूर्ण रूप से 'वाग्देवता' या 'वाग्देवी' के रूप में पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो गया। किसी-किसी जगह तो (उदाहरणार्थ भागवतपुराण और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण) 'वाक्'' अथवा 'वाणी' सरस्वती का तात्पर्य ही सरस्वती से है।[१४] अर्थात् 'वाक्' अथवा 'वाणी' को सरस्वती का पर्याय कहा जा सकता है।

पुराणों में निश्चित रूप से प्रेरणादायिनी, ज्ञानाधिदेवी और विद्या की देवी के रूप में वर्णन मिलता है।[१५] इनका वाहन 'हंस' ज्ञान का प्रतीक है। इससे स्पष्ट है कि सरस्वती हंस पर आरुढ़ होकर जहां-जहां विचरण करती है, वहां-वहां ज्ञान प्रवाहित होता है। वामनपुराण में ऋषि वशिष्ठ सरस्वती की महिमा का वर्णन करते हुए इन्हें अपनी ईच्छा से विचरण करने वाली और बादलों से जल उत्पन्न करने वाली देवी कहा है।[१६] स्कन्दपुराण में की सरस्वती को 'वृष्टि' नाम से संबोधित किया गया है।[१७] वामनपुराण में ऋषि मार्कण्डेय इनको निखिल विश्व की जननी और वेदों का मूल कहा है।[१८] .... पुराण में सरस्वती की प्रशंसा करते समय देवताओं ने विभिन्न विज्ञानों और विषयों की देवी कहा है तथा इनका परिचय समुन्द्र तक बहकर जाने वाली पवित्र नदी के रूप में दिया हैं।[१९] देवीभागवतपुराण[२०] और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण[२१] में सरस्वती के कुछ

पर्यायवाची शब्द उल्लिखित है- भारती-भारत में प्रचारित होने के कारण, ब्राह्मी-ब्रह्मा की पत्नी होने के कारण, वाणी-वाणी की अधिष्ठात्री देवी होने के कारण, सरस्वती-देवता सरस्वान् से संबंध होने के कारण सरस्वती कहलाती आदि।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पुराणों में वर्णित सरस्वती के मूल स्वरूप का आधार वैदिक रूप ही है और इनको नदी या जल देवी तथा वाणी की देवी कहा गया है एवं ब्रह्मा की पत्नी भी कहा गया है।

पुराणों में सरस्वती के उत्पत्ति के विषय में प्रायः अनेक प्रतीकात्मक या लाक्षणिक लोक कथाओं के रूप में उल्लिखित है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण तथा देवीभागवतपुराण में देवी सरस्वती उन पाँच स्वरूपों में से एक है जिनका प्रकृति तत्व के रूप में पुरुष के साथ सहकारिता हैं। सृष्टि के निर्माण के लिए आत्मा ने दो रूप धारण किये-दाहिना भाग पुरुष तथा वाम भाग प्रकृति कहलायी। श्रीकृष्ण अर्थात् 'पारब्रह्म पुरुष' की ईच्छा (सृष्टि) के संपादन के लिए प्रकृति ने पांच रूपों में अपने को व्यक्त किया, जिनके नाम दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री है।[२२] उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि सृष्टि के पांच तत्वों में सरस्वती भी एक है। इसी पुराण में सरस्वती के उत्पत्ति के विषय में एक दूसरी कथा आती है- सृष्टि के निर्माण के समय कृष्ण की शक्ति की जिह्वा से सुन्दर पीत वस्त्र धारण किए हुए आभूषणों से सुसज्जित हाथ में वीणा तथा पुस्तक लिए हुए श्वेत वर्ण की एक कन्या उत्पन्न हुई जो सर्वशास्त्रों की अधिष्ठात्र सरस्वती या वाणी थी।[२३] वायुपुराण[२४] में एक कथा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार ब्रह्मा के शेष से एक पुरूष उत्पन्न हुआ, जिसका आधा भाग पुरूष और आधा भाग नारी का था। ये वास्तव में अर्द्धनारीश्वर शिव थे। ब्रह्मा के कहने पर उन्होंने अपने शरीर को दो भागों में विभाजित किया। उनके शरीर के पुरूष और नारी का भाग अलग-अलग होकर एक पूर्ण पुरूष और पूर्ण नारी के रूप में हो गये। ब्रह्मा के आज्ञानुसार पूर्ण पुरूष अपने शरीर को ग्यारह भागों में विभाजित किया। यही ग्यारह भाग ग्यारह रूद्र कहलायें। इसी प्रकार ब्रह्मा की आज्ञानुसार पूर्ण नारी ने भी अपने शरीर को दो भागों में विभाजित की। पहले दाहिने भाग से श्वेत नारी और दूसरे बायें भाग से श्याम नारी के रूप में विभाजित हुई। यही श्वेत भाग जिसका वास्तविक नाम गौरी है, सरस्वती कहलायीं। श्याम भाग काली या दुर्गा कहलाया। वायुपुराण की दूसरी कथानुसार जब 'विश्वरूप' नामक तैतीसवां कल्प प्रारम्भ हुआ तब ब्रह्मा के मन में सृष्टि रचना का विचार उत्पन्न हुआ। इसलिए उन्हें एक संतान की चिंता हुई। स्वयं ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न होने के कारण वे ब्रह्मा की संतान कहलायीं इनका रूप चार मुख, चार सींग, चार नेत्र, चार दांत और हाथों वाली गौ का था। यह गौ स्वयं "प्रकृति" थी- वह प्रकृति जो सम्पूर्ण विश्व की मूल स्रोत है या दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण विश्व की माता है।[२५] सरस्वती का यह "गौ" रूप भी महत्वपूर्ण माना गया परन्तु इस रूप में सरस्वती का मूर्तिकरण नहीं हुआ।

मत्स्यपुराण[२६] के अनुसार सरस्वती ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुई उनकी पुत्री है।

मार्कण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य के 'प्राधानिक रहस्य'[२७] में देवी का उल्लेख मिलता है। देवी महालक्ष्मी तीन गुणों से युक्त थी। जिनके तीन गुणों से तीन देवियों यथा सात्त्विक गुण से सरस्वती, राजसी गुण से लक्ष्मी, और तामसी गुण से काली की सृष्टि हुई। ये ही देवियां लोक में महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली के नाम से पूजी जाती है।

पुराणों में सरस्वती के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं। मत्स्यपुराण में देहसंसूता, शतरूपा, सावित्री, गायत्री और ब्रह्माणी का उल्लेख है।[२८] मार्कण्डेय पुराण के प्राधानिक रहस्य में महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा घी, ईश्वरी, सरस्वती के नाम गिनाये गये है।[२९] स्कन्दपुराण में इन्हें 'शारदा' नाम से संबोधित किया गया है।[३०] किन्तु सरस्वती रहस्योंपनिषद् के अनुसार "शारदा" नाम देवी के एक विशेष रूप का है, जो कश्मीर में निवास करती है। ये सरस्वती की बहनें है तथा विद्यादेवी के रूप में पूज्य हैं। महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्नी, कामधेनु, वेदगार्भा, घी ईश्वरी, सरस्वती के नाम गिनाये है।[३१] ब्रह्मपुराण में सरस्वती, सावित्री और गायत्री को ब्रह्मा की पांच पुत्रियों में से तीन कहा गया हैं।[३२] स्कन्दपुराण के सरस्वती स्तोत्र में भी गायत्री दोनों ही सरस्वती के पर्यायवाची के रूप में वर्णित है।[३३] सरस्वती स्तोत्र[३४] तथा स्कन्दपुराण[३५] में लक्ष्मी को सरस्वती का पर्यायवाची कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न पुराणों में सरस्वती के नाम का अनेक पर्यायवाची मिलता है।

सरस्वती देवी के घोर स्वरूप वर्णन पुराणों में मिलता है। वायुपुराण में सरस्वती को 'महानाटा' कहा गया है।[३६] ब्रह्माण्ड पुराण[३७] के ललितापाख्यान में सरस्वती नौ मातृदेवियों में एक है। इस प्रकार इसको भय उत्पन्न करने वाली देवियों यथा चण्डिका, भैरवी काली आदि की श्रेणी में भी रखा जा सकता है। कथानुसार जब ललिता देवी अपने महान् रथ पर सवार होकर मण्डासुर नामक दैत्य से युद्ध करने गयी। उनके सहयोगी शक्तियों में सरस्वती भी थी जिनके नेत्र क्रोध से लाल माला और चक्र से युक्त कुमारी कन्या के रूप में थी।[३८] सरस्वती के समान ही वाक् की देवी (वागधीक्चरा) और पुस्तक लिए हुए (वीणापुस्तक शोभिता), हाथों में तीर-धनुष (वाणाकर्मुकपाणय) और शरीर पर कवच धारण किये प्रदर्शित है।[३९] इस प्रकार स्पष्ट है कि पुराणकारों ने सरस्वती के वाक् शक्ति, ज्ञान व विद्या की अधिष्ठात्री देवी के साथ-साथ देवताओं को वाणी शक्ति के रूप में भी उल्लेख किया है।

मार्कण्डेयपुराण के दुर्गासप्तशती में दुर्गा से ही महासरस्वती का उत्पत्ति बताया गया है। दुर्गासप्तशती के अनुसार ज्ञान की देवी नहीं बल्कि असुरनिहन्ता है। शुम्भनिशुम्भ वध में दुर्गा की सहायता हेतु युद्ध में गयी थी। इन सबके बावजूद भी इनको सत्व गुण की देवी माना गया है।[४०] देवीभागवत पुराण में इन्हें महामाया देवी, बुद्धि और ज्ञान की देवी के अलावा वाग्देवी के रूप में भी उल्लेख मिलता है।[४१]

सर्वप्रथम सरस्वती की पूजा ब्रह्मा के द्वारा और फिर तीनों लोकों में सब देवताओं, ऋषियों तथा अन्य लोगों द्वारा हुई।[४२] देवी सरस्वती का सामान्य पूजा हमेशा होता रहता है परन्तु कुछ विशेष अवसरों पर सरस्वती पूजन माघ मास के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को तथा शिशु के विद्यारम्भ के दिन सरस्वती पूजन होनी चाहिए।[४३] स्कन्दपुराण के अनुसार सरस्वती को मूर्ति पूजा प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को करनी चाहिए।[४४] इनकी पूजा के लिए श्वेत पुष्प, अक्षत के लिए श्वेत चावल श्वेत चन्दन, दूध इत्यादि वस्तुए आवश्यक है।[४५] सरस्वती के श्वेत वर्ष जो कि सत्व गुण का प्रतीक है की ध्यान में रखकर सरस्वती के पूजा प्रसाधन में श्वेत पुष्पादि वस्तुओं के ही प्रयोग का अनुमोदन किया गया है। इनकी पूजा मुख्यत: 'स्तवन' ध्यान, कवच एवं मंत्र जाप के रूप में होती है और सरस्वती ध्यान करने का विधान बताया गया है।[४६] पुराणों में आठ शब्दों वाले सरस्वती मंत्र-

"श्री ह्रीं सरस्वतै स्वाहा" की बड़ी प्रशंसा की गयी है। इसकी सिद्धि चार लाख जप से होती है।[४७] स्कन्दपुराण की सूत संहिता के अनुसार देवी के सिर पर जटा, मुकुट और उसके अंदर अर्धचन्द्र प्रदर्शित है। इन्हें नीले रंग के कण्ठ और तीन नेत्रों वाली बताया गया है।[४८] मुख्यत: सरस्वती का यह रूप शिव से उनके सम्बन्ध का द्योतक है।

मार्कण्डेय पुराण के देवी माघत्म्य में इनके चारों हाथों में क्रमश: अंकुश, वीणा, अक्षमाला और पुस्तक बताया गया है।[४९] विष्णुधर्मोन्तरपुराण में सरस्वती मूर्ति का वर्णन है। सरस्वती अपने दोनों पैरों पर खड़ी और प्रसन्न मुख होनी चाहिए तथा प्रतिमा सब आभूषणों से भूषित होना चाहिए। इस पुराण में सरस्वती की चतुर्भुजी मूर्ति का वर्णन दो स्थानों पर मिलता है। एक स्थान पर सरस्वती को समस्त आभूषणों से अलंकृत, चन्द्रमा समान मुख वाली तथा सम्पाद-मुद्रा स्थिति में बताया गया है और उनके दो दांये हाथों को क्रमश: पुस्तक एवं अक्षमाला और बायें हाथों को क्रमश: वीणा[५०] एवं कमण्डलु से युक्त बताया गया है।[५१] दूसरे स्थान पर देवी के एक हाथ में वीणा की जगह त्रिशूल का उल्लेख है, शेष तीन हाथों में आमुध पूर्ववत् है। यहां पर सरस्वती के आमुधों का क्रम अक्षमाला, त्रिशूल, पुस्तक और कमण्डलू है।[५२] सामान्यत: सरस्वती ढंग पर आरूढ़ चार हाथों वाली होती है जिनके हाथों में क्रमश: दाये दोनों हाथों में पुस्तक व अक्षमाला और बायें दोनों हाथों में वीणा एवं कमण्डल होता है। वस्त्र पीला होता है।

वासंतिक माहौल में पूरा देश सरस्वतीमय हो जाता है। विद्यालय परिचरों में माँ सरस्वती की प्रतिमा स्थापित करके छात्र-छात्राएं, अध्यापक, विद्वान गण वैदिक मंत्रोचार विधि से पूजा करते है। सरस्वती पण्डाल में सरस्वती प्रतिमा स्थापित की जाती है। बसन्त पञ्चमी के दिन पूर्व चतुर्थी को संयम पूर्वक नहाकर शक्तिपूर्वक कलश की स्थापना करें। गणेश, शंकर, विष्णु, नारद, सूर्य आदि की पूजा के बाद सरस्वती की पूजा करने का विधान है। उक्त अवसर पर सरस्वती देवी को बसन्ती रंग का वस्त्र तथा पुष्प चढ़ाया जाता है। नवरात्र के भीतर ही सरस्वती शमन का व्रत आता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक सरस्वती के विकास की निरंतरता विशेषकर पुराणों में निश्चित रूप से परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ :

१. ऋग्वेद, १/३/ १०-१३.

२. हिन्दुस्तान, दैनिक समाचार पत्र, सुबह-ए-बनारस, १९.०१.२००७, pp. १.

३. ऋग्वेद, १/३/१०. ४. अथर्ववेद, ३/२०/७.

५. गोपथ ब्राह्मण, २/१/२९.

६. शतपथ ब्राह्मण, ११/४/३/७; ११/४/३/१६.

७. सरस्वती, रहस्योपनिशद्, ५/११. ८. पाराशर गृह्यसूत्र, २/४/८.

९. बाल्मिकी रामायण, २.७१.५ १०. बाल्मिकी रामायण, ६.१२०.२४.

११. महाभारत, २.९, कालिंदी विदिशा वेष्वा नर्मदा वेद वाहिनी।
विपाशा च शतदुश्चाद्रभागा सरस्वती।।

१२. महाभारत, ७.१३.३१. १३. महाभारत, ३२२१-२२२.

१४. वाग्देवतया : स्तवनं, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, २.५.१.

१५. ज्ञानाधिदेवी, वही, २.५.११.

१६. त्यमेव कामदा देवि मेघेषु सृजमे पयः, वामन पुराण, ४०-४१.

१७. वृष्टि, स्कन्दपुराण, ६.४६.२८.

१८. सर्वास्त्वापस्तवमेवेति। वामनपुराण, ४०-४१.

१९. पद्मपुराण, ५.२७.११. २०. देवीभागवतपुराण, ९.८२.३.

२१. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, २.७.२-३. २२. वही, २.१.१, २.४.४.

२३. वही, २.२.५४-५५. २४. १.९.६७.

२५. वायुपुराण, १.२३.३४.

ब्राह्मणः पुत्रकामनस्य ध्यामतः परमेष्ठितः प्रादुर्भूता महानाद विश्वरूपा सरस्वती।

२६. मत्स्य पुराण, ३.३०.

२७. प्राधानिक रहस्य, मार्कण्डेयपुराण, ३.४.७.

सर्वस्याधा महालक्ष्मी स्त्रिगुण परमेश्वरी।

शून्य तदखिलं लोकं विलोक्य परमेश्वरी।

बभार परमं रुपं तमसा केवलेन हि।।

२८. मत्स्य पुराण, ३.३१-३२.

२९. मार्कण्डेयपुराण, प्राधानिक रहस्य, श्लोक १६.

३०. स्कन्दपुराण, ७.३३.८७.

नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनी।

३१. रहस्योपनिषद्, ३.१८.

३२. ब्रह्मपुराण, १०२.२.३.

सावित्री चैव गायत्री श्रद्धा मेधा सरस्वती।

एता मम सुता ज्येष्ठा धर्मसंस्थानहेतवः।।

३३. स्कन्दपुराण, ६.४६. ३४. पद्मपुराण, ५.२७.११६-११७.

३५. स्कन्दपुराण, ६.४६.२२. ३६. वायुपुराण, १.२३.३४.

३७. ब्रह्माण्डपुराण, ४.१९.६९.

लक्ष्मीः सरस्वती गौरी चण्डिका त्रिपुराम्बिका।

चैखो भैरवी काली महाशास्त्री च भातरः।।

३८. ब्रह्माण्ड पुराण, ४.१९.६९.

अथचक्र श्येन्द्रस्य चतुर्थ पूर्वसंश्रिताः।

३९. वैकृतिक रहस्य, १४ इत्यादि।

गौरीदेहात्समुद्रभुता य सत्वैकगुणाश्रया।

साक्षात्सरस्वती प्रोक्ता शुम्भासुरनिर्बाहवी।।

४०. मार्कण्डेयपुराण, ८५.१४.
४१. देवीभागवत पुराण, ५.१९.५४.
४२. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, २.१.१२१.
४३. वही, १२.४.२३-२४.
४४. स्कन्दपुराण, ६.४६.३७ व ३९.
४५. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, २.४.३९.
४६. वही, २.४.४६-४८.
४७. वही, २.४.५३.
४८. स्कन्दपुराण, सूत संहिता
जटाजूट धरा शुद्धा चन्द्रार्थ कृतशेखरा।
पुण्डरीकसमासीना नीतग्रीवा त्रिलोचना।।
४९. मार्कण्डेयपुराण, प्रा०र० १५.
५०. मोइनर, विलियम्स, एम०; ए संस्कृत डिक्शनरी, आक्सफोर्ड, १९५६, pp. १०११.
५१. वि०ध०पु०, ३.६४.१-३.
५२. वही, ३.७३.२५.

✸

भारतीय संस्कृति में वेद

इन्द्र बहादुर सिंह*

वेद भारतीय परम्परा में प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले अनन्त ज्ञान-राशि के अक्षय भण्डार हैं। वैदिक ज्ञान-ज्योति से आज विश्व का मानव मात्र ज्योतिवमान हो रहा है। इस वैदिक साहित्य का अपना अभूतपूर्व गौरव है, अपनी पृथक परम्परायें एवं मान्यतायें हैं, जो कि आज भी भारतीय संस्कृति को अनुप्राणित कर रही हैं। भारतीयों के अन्तरतम का परिपूर्ण ज्ञान करने के लिये सहस्त्राब्दियों से प्रचलित इस महान साहित्य का जब तक रसास्वादन नहीं कर लिया जाता, तब तक वह ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। मनुस्मृतिकार ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि -

"धर्मम् जिज्ञास्यमानानां प्रमाण परम श्रुति:।[१]

धर्म-विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिये श्रुति ही प्रमाण है।

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" "सर्व ज्ञान मयो हि स:"

चातुर्वर्ण्य त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमा: पृथक।

भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात प्रसिद्धयनि।।[२]

वेद धर्म का मूल और समस्त ज्ञान से युक्त है। चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबका परिज्ञान वेद से होता है। ऊपर के उद्धरणों से भारतीय जीवन में वेदों की महनीय महत्ता का स्वत: आभास मिल जाता है। वैदिक संहितायें चार हैं - (i) ऋग्वेद संहिता (ii) यजुर्वेद संहिता (iii) सामवेद संहिता (iv) अथर्ववेद संहिता

रचना-विधान एवं समय के आधार पर वेदों की रचना प्राचीनतम है। वैदिक साहित्य एक विशाल साहित्य है। भारतीय ज्ञान का यह एक आगार है। विश्व-संस्कृतियों का मार्गदर्शक है। पुराण और धर्मशास्त्र का विस्तृत साहित्य भी चाहे उसका प्रतिपाद्य कुछ भी हो, बराबर वेदों की महिमा के गीत गाता है। यही बात रामायण और महाभारत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भागवत का निर्माण वेदों और उपनिषदों के सार के रूप में हुआ है। लौकिक साहित्य की कथाओं के मूल श्रोत वैदिक आख्यान ही हैं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सन्त तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस में वैदिक साहित्य के महत्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मैंने 'नानापुराण निगमागम सम्मत" ही अपने काव्य का निर्माण किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि वेद भारतीय ही नहीं, विश्व के मनीषियों के लिये ज्ञानश्रोत रहे हैं। भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता और अपने बहुमुखी व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्व है। यह न केवल अपने सुगथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अति प्राचीन परम्परा के

*पुस्तकालायाध्यक्ष, एम०बी०एस०पी०जी० कालेज, गंगापुर, वाराणसी

कारण ही तथा न केवल अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण ही, अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा का सदा से अत्यधिक महत्व रहा है और बराबर रहेगा।

आज निश्चित हो चुका है कि पहले वैदिक देवतओं के पीछे प्राकृतिक शक्तियाँ थी, जिन्हें बाद में भुला दिया गया है। अनेक मंत्र सूर्यदेव, अग्निदेव, भूमिदेवी, उषादेव, वायुदेव के लिये नहीं अपितु प्राकृतिक शक्ति के रूप में जाज्वल्यमान सूर्य चन्द्र, देदीप्यमान अग्नि आदि के लिये समर्पित है।

बादलों से चमकती बिजली, दिवस का प्रकाश एवं रात्रि का नक्षत्र पूर्ण आकाश, गरजते हुये तूफान, मेघ, नदियों में प्रवाहित जलराशि, दमकती उषा, फूलों-फलों से भरी हुई वसुधा आदि इन प्राकृतिक शक्तियों की ही स्तुति, पूजा एवं प्रशंसा की गई है। आगे यही प्राकृतिक तत्व पौराणिक देवताओं के रूप में परिवर्तित हो गये। उदाहरण के लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौ, महत, वायु, आप, उषा, पृथ्वी आदि। इस प्रकार ऋग्वेद के महत्वपूर्ण बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं।

वैदिक देवताओं का विग्रह-मानवीय है। उन देवतओं के भी मनुष्यों के समान सिर, आँख, भुजा, हस्त, पाद आदि हैं, किन्तु ये छायात्म हैं जैसा कि अग्नि के स्वरूप वर्णन में अग्नि की ज्वालायें ही उनकी जिह्वा हैं, सूर्य की रश्मियाँ ही उनकी भुजायें हैं। तात्कालिक भारतीयों की देवताओं के सम्बन्ध में यह आस्था दृढ़ीभूत थी कि देवता उन्हें दीर्घायुष्य एवम् वैभव प्रदान करते हैं, किन्तु इतना होने पर भी देव मन्दिरों की सत्ता अथवा मूर्ति पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है।

वैदिक देवताओं की एक विशिष्ट विशेषता उनकी चारित्रिक उज्ज्वलता में निहित है। वैदिक धर्म में देवियों का स्थान भी सुरक्षित है किन्तु गौड़ रूप में। वे मात्र देवताओं की प्रतिच्छाया हैं। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद का निर्माण विशेष रूप में देवों की स्तुति के लिये हुआ है। ऋग्वेद में सर्वाधिक स्तुति इन्द्र की ही की गई है, इसके लिये लगभग २५०.सूक्तों का निर्माण हुआ है।

वेद भारतीय वाङ्मय की सर्वाधिक प्राचीन एवं अमूल्य निधि हैं किन्तु वैदिक सभ्यता की ज्योति किस काल में इस पवित्र धरा धाम को आलोकित कर उठी, किस समय पावन चरित्र ऋषियों के हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान से ओत-प्रोत दिव्य संदेश देने की कामना जाग उठी और उसके अलोक में सामान्य गूढ़ार्थ विजृम्भित मंत्रों की रचना की गई, इन प्रश्नों का उत्तर अथवा उनके प्रणयन की यथार्थ तिथि का अन्वेषण यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

भारतीय आस्तिक विचारधारा के विद्वान वेदों को अपौरुषेय, अनादि एवम् शाश्वत मानते हैं। उनकी मान्यता है कि विभिन्न कालों में समाधिकालीन महर्षियों के सहज, शुद्ध अन्तःकरण में मंत्रों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन महर्षियों ने मंत्रों का दर्शन किया है, क्योंकि 'ऋषयों मंत्र द्रष्टारः' ऋषि द्रष्ट होते हैं, स्रष्टा नहीं।

इस प्रकार उनके मत में वेदों की रचना का अर्थ होता है ब्रह्म के निःश्वास भूतमंत्रों का ध्यान नेत्रों द्वारा साक्षात्कार।

यहां प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद रचना काल के विषय में किये गये विचारों का उल्लेख समीचीन होगा -

भारतीय विद्वान पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुरैर ने 'वेदकाल-निर्णव' नामक पुस्तक में ज्योतिष गणना के द्वारा यह सिद्ध किया है कि वेदों का निर्माण काल आज से लगभग ३ लाख वर्ष पूर्व का है किन्तु पाश्चात्य विद्वान इस विश्वास में अपना अभिमत प्रगट नहीं करते हैं। उनका यह कहना है कि वेद ईश्वरकृत नहीं हैं, वे ऋषिकृत हैं, उनकी रचना क्रमशः हजारों वर्षों में हुई है।

ईसाइयों की धर्म पुस्तकों में सृष्टि का रचनाकाल लगभग आठ हजार वर्षों का है, इसलिए पाश्चात्य विद्वान वैदिक संस्कृति एवं वैदिक साहित्य को इन आठ हजार वर्षों से ऊपर नहीं ले जाना चाहते हैं, इसलिये वे वेदों के रचनाकाल की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक चार हजार वर्ष तक मानते हैं। एक बात और भी है कि भारतीय आस्था के अनुसार वेद ईश्वर के निःश्वास से समुद्रभूत हैं। उसके विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अपना मत हैं कि जब भाषा का विकास क्रमशः हुआ है फिर वेद के शब्द एवं भाषा एक साथ एक रूप में कैसे आ सकते हैं और वह भी सृष्टि के आदि में। भाषा का विकास एक लम्बी जीवन-यात्रा की अमर कहानी है, इसलिये पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इसी मत के अनुसार ऋग्वेद के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है।

पूना के नारायण मनराव पावगी ने भी भूगर्भशास्त्र के आधार पर ९००० वर्ष पूर्व वेद रचना का समय सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार अमलनेस्कार वेदों के रचनाकाल को ६६,००० वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं, किन्तु अवेस्ता (८०० ई०पू०) की भाषा रचना की समानता के आधार पर वेदों का रचनाकाल ८०० ई०पू० तक मानने वाले भी हैं। वेद रचना-काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुये जीबूहलर ने लिखा है कि शिलालेखों, भाषा साहित्य तथा संस्कृति के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं की अवधि अनेक सदियों की है। इसी प्रकार विण्टरनिट्ज ने विभिन्न मतों का विवेचनात्मक उपसंहार करते हुये लिखा है कि वेदों का कालनिर्धारण संभव नहीं है और अंततः वह २५०० ई०पू० ऋग्वेद का रचनाकाल मानता है। ऋग्वेद के निर्माण काल के विषय में ऊपर कुछ प्रधान एवम् अप्रधान मतों का निर्देश किया है। इन सभी विचारों के होते हुये भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं, इसीलिये फ्रेडरिक श्लेगेज ने लिखा है कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। इसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। इनकी भाषा भारतीयों के लिये भी उतनी ही कठिन है जितनी विदेशियों के लिये।

वेदों के विद्वान वेबर ने भी लिखा है -

"वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। ये उस तिथि के बने हुये हैं जहाँ तक पहुँचने के लिये हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं है। वर्तमान प्रमाण राशि हम लोगों को उस समय के उन्नत शिखर पर पहुँचाने में सर्वदा असमर्थ है। वस्तुतः जब विभिन्न मतों में इतने वर्षों का विशाल अन्तर है फिर एक मत से कैसे निश्चित समय का संकेत किया जा सकता है। हाँ इस विषय में ऐतिहासिक अनुसंधान के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। मोहनजोदड़ों की लिपियाँ ऐतिहासिक अनुसंधान हेतु पर्याप्त उपयुक्त क्षेत्र सिद्ध हो सकती हैं, संभव है ये लिपियां ऐतिहासिक अनुसंधान के द्वारा किसी निश्चित काल निर्धारण की ओर संकेत करें, परन्तु जैसा कि विदित है कि मोहन जोदड़ों की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। यद्यपि कि प्रो० एस०आर० राव ने प्रयास किया है, फिर भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में वांछित सफलता नहीं पाई है।

वेदकाल निर्धारण के समग्र मंथन के उपरान्त इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि वेदों का रचनाकाल अब इतना अर्वाचीन नहीं है जितना कि पहले माना जाता था। पश्चिम के विद्वान भी आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व वेदों का रचनाकाल मानते हैं।

विश्व के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी संदेह के पहुँचते हैं कि विश्व में प्राप्त होने वाली समस्त संस्कृतियों में यदि कोई प्राचीनतम संस्कृति है तो वह वैदिक संस्कृति ही है। संसार के अन्य राष्ट्र जब अज्ञानान्धकार में निमग्न थे, उस समय वैदिक आर्य सम्पूर्ण कला-कौशलों के विशेषज्ञ थे। इस तथ्य को भले ही विश्व के शिक्षाभिमानी दुराग्रह के कारण स्वीकार न करें, किन्तु उन्हें पाश्चात्य आलोचक विण्टरनिट्ज के हृदयोंद्गारों को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये -

If we wish to learn beginning of own Culture, if we wish to understand the oldest Indo-European Culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo-Eurpean people is preserved.

भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति का ही विस्तार है -

आज भी भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति के बहुमुखी, व्यापक तथा शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवन यात्रा कर रही है। इसके तत्व इनमें पुष्ट हैं कि वह विशाल जीवन यात्रा में कभी पथ भ्रष्ट नहीं हुई है। इस संस्कृति के तत्व प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के तत्व हैं जो कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। उस संस्कृति की प्राचीनता की घोषणा विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद स्वयं कर रहे हैं - ''सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा''।

विश्व के द्वारा वरणीय अर्थात् आनन्ददायिनी संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है।

संस्कृति का समानांतर एक अन्य शब्द है - सभ्यता किन्तु सभ्यता एवम् संस्कृति इन दोनों ही शब्दों में अंतर है। सभ्यता से अभिप्राय मानव की भौतिक विचारधारा से तथा संस्कृति शब्द मानव के अंतश्चेतना, आध्यात्मिक एवम् मानसिक क्षेत्र के विकास का सूचक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव जीवन में अध्यात्म का महत्व भी स्वाभाविक है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा तृप्त होती है किन्तु आत्मा अतृप्त ही रहती है। इसी आत्मा से सम्बद्ध विकास के लिये किये गये कार्य संस्कृति के अंतर्गत गृहीत होते हैं। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं हो सकता है, तथा मात्र भोजन से ही अपनी जीवन यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। मन एवम् आत्मा की तृप्ति के लिये मानवीय विकास एवम् उन्नति को हम संस्कृति कहें तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि वैदिक संस्कृति आत्मा से अनुप्राणित है और संसार के सभी देवताओं को एक ही परमात्मा से उद्भूत मानते हुये स्पष्ट कहती है -

''एकम् सत् विप्राह बहुधा वदन्ति।'' यही वैदिक संस्कृति विश्ववारा संस्कृति के विचार को पुष्ट करती है।

वैदिक संस्कृति का लोक कल्याणकारी स्वरूप -

वैदिक संस्कृति में मानव जीवन उल्लासमय तथा आशामय था, निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी, यत्र-तत्र-सर्वत्र वैदिक मंत्रों में यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जिस प्रकार परवर्ती काल में मानव को निराशावादी एवं पलायनवादी तक बनना पड़ा, उसका वैदिक काल में

नामोनिशान न था, वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख का अभाव रूप मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर उसका निश्चित रूप भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व आनन्त्य या निश्रेयस ही कहा जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने सर्वदा प्रकृतिमाता की गोद में क्रीड़ा करने की कामना की है, उनके लालन-पालन तथा पोषण में अमृतत्व के आनन्द की अनुभूति की है। यही नहीं, प्रकृति के विभिन्न तत्वों में निहित प्रसादनी शक्ति के अपने मन में आविर्भूत होने की कामना की है। अथर्ववेद के एक मंत्र में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में -

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुद्धयेम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भयेम शरदः शतम्। भूयसीः शरदः शतम्।

अर्थात् सौ वर्ष से भी अधिक जीने, देखने, सुनने, ज्ञानार्जन करने,[३] बढ़ने, पुष्ट होने और आनन्दमय जीवन की कितनी कमनीय कामना है। "जीवन के विषय में यह सुखद स्वरूप, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा में यह निःसंदेह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्री के जल के समान दिव्य और पवित्र है।" इस सांस्कृतिक अभ्युदयकाल में आर्यजाति उत्साह मय स्वस्थ वातावरण में यशस्वी जीवन की विजय यात्रा में अग्रसर हो रही थी उसका ज़ीवन उस काल में वेद था, कर्मकाण्ड की इस युग में प्रधानता थी, इससे आगे क्रमशः विकासशील वैदिक ऋषि परमात्मा के विभूति रूप सूर्य, वायु उषा आदि देवों के साथ सरल भाव से विचरण करते हुये प्रतीत होते हैं। इसी युग में जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और संगठित करने की प्रवृति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ था।

वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋत और सत्य की भावना है। समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमानुकूल चलायमान है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है कि अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना यही वास्तविक धर्म है, परन्तु वैदिक आदर्श इससे भी आगे बढ़कर ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है - "ऋत वदिष्यामि सत्य वदिष्यामि" यही वैदिक ऋषियों का सम्पूर्ण मानवता के प्रति सतत उद्बोधन है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुये उसके साथ आपनी एक रूपता के अनुभव में ही है। इसी ऋत एवम् सत्य की भावना का बहुत अधिक स्पष्ट एवम् व्यापक रूप अध्यात्म तत्व में भी देख सकते हैं।

वैदिक संस्कृति का दूसरा आधार त्याग भाव है। यह सिद्धान्त जीवन-जलयान के लिये प्रकाश स्तम्भ है, जिसमें जीवन-जलयान "भोगवादरूपी चट्टानों से टकराकर चकनाचूर होने से बच जाय।

वैदिक संस्कृति का तीसरा आधार कर्मवाद है। यह कर्मवाद मानव को कर्मण्यता तथा आशावाद का संदेश देता है। यह कर्म ही जीवन है।

वैदिक संस्कृति का चतुर्थ आधार आत्म-विश्वास है, आत्मा का हनन करना पाप है, यजुर्वेदीय चालीसवें अध्याय का यह मंत्र भी यही कहता है

"असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।[५]

आत्म विश्वास के बिना जीवन व्यर्थ है। इस बौद्धिक एवम् कर्म संघर्षरत युग में मानव की अशान्ति का मूल कारण आत्म-विश्वास की उपेक्षा ही है।

वैदिक संस्कृति का पाँचवा तत्त्व पुनर्जन्मवाद है, यह पारलौकिक भावना ही मानव को शुभ आचरण करने का उपदेश देती है।

वैदिक संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है, इसी आधार पर 'वसुधैव कुटुम्बकम' तथा 'आत्मब्रत्सर्वभूतेषु' की भावना परवर्तीकाल में पल्लवित हुई, जिसका परिणाम राजा एवं रंक (कृष्ण-सुदामा) में स्नेह एवं मैत्री भावना का संचार करता है, जिस प्रकार प्राचीन काल में देव कल्याणकारी विचारों की ही उपासना करते थे, ऐसे ही हम भी बने। यही नहीं, विश्व कल्याण की कामना ही इस संस्कृति का मूलमंत्र है -

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणिक पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग भवेतु।।

हम सभी मिलकर मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना के विस्तार की उपासना करें। इस प्रकार की उदार घोषणायें वैदिक संस्कृति की हैं। विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों में इसका अभाव ही है। उदाहरण यूनान में सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा, ईसा मसीह को सूली पर चढ़ना पड़ा।

समन्वयवाद एवम् विचार सहिष्णुता भी भारतीय संस्कृति का एक आधार है जिसमें आर्य-अनार्य संघर्ष के उपरान्त अनार्यों का मिलन सहिष्णुता का ही परिचायक है। यही कारण है कि भारत अनेक जातियों का एक राष्ट्र है तथा शैव, शाक्त, वैष्णव, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि अनेक धर्मों का एक धर्म है, वह उसी प्रकार जैसे समुद्र नदियों (जल) का घर होता है -

स यथा सर्वासामपां समुद्रमेकायनम् ।

धर्म इस संस्कृति का प्राणभूत सिद्धान्त है, धर्म ही उन्नति का मूल है तथा जन्म-जन्मान्तर का साथी, यह धारणा प्रत्येक भारतीय के हृदय में बद्धमूल है - 'धर्म: सखा परम हो परलोक याने।'' धर्म के बिना कार्य संचालन असंभव है। इस प्रकार इस संस्कृति में ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के साथ व्यक्तिगत जीवन में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति को समान महत्व प्राप्त है।

आशावाद - दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय के साथ ही भारतीय विचारधारा में जीवन क्षण भंगुर एवं नश्वर है, जैसी निराशावादी भावनायें पल्लवित हो चुकी थी, इन भावनाओं ने मानवीय विकास में एक बड़ा व्याघात उपस्थित किया था। किन्तु वैदिक-संस्कृति एवं साहित्य आशावादी भावनाओं से अनुप्राणित है। यत्र-तत्र-सर्वत्र जीवन के अभ्युदय एवं सौ वर्ष जीने की कामना वेदमंत्रों में मिलती है। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति सदैव उत्साहपूर्ण धारणा रही है। समस्त वैदिक साहित्य अमृतमय, प्राण-संजीवन वचनों से सम्भृत है। ''आशा हि परम ज्योति नैराश्यं परमं तम:'' तथा ''चरैवेति'' के रूप में चलते रहने का उपदेश भी वैदिक संस्कृति का ही है। आशय यही है कि दार्शनिक सम्प्रदायों ने निराशावादी भावना का प्रसार यद्यपि किया था, किन्तु वैदिक साहित्य की आशावादी भावना के समक्ष वह पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका।

वैदिक संस्कृति में समस्त मानव मात्र के कल्याण की भावना का समावेग है, स्वस्ति वाचन प्रकरण के संकलित मंत्रों में इसी भावना का पल्लवन हुआ है। अत्यंत विशाल वैदिक

साहित्य सुदीर्घ काल से वेदमंत्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों एवं वेदाङ्गों के कम्रश: विकास के साथ समस्त भारतीय दर्शनों में प्रति फलित हुआ है। इनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग एवं मीमांसा-वेदान्त जैसे आस्तिक दर्शन ही नहीं हैं, अपितु वेदबाह्य नास्तिक दर्शन भी उसमें अनुप्राणित होते रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में निहित ज्ञानतत्व आज भी समस्त वादों में निरन्तर प्रवाहमान और अक्षुण्ण है। इसीलिये मनुजी का यह वाक्य शतप्रतिशत चरितार्थ हो रहा है -

"वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृति शीले च तद्विदाम।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।"
यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।

अर्थात् सम्पूर्ण, वेद को जानने वालों की स्मृति और उनका शील, धार्मिकों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता ये धर्म मूल हैं।

मनुजी सर्वज्ञ हैं, इससे जो कुद जिसका धर्म वेद मे कहा गया है, वहीं उन्होंने कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म की निरन्तरता एक कपोलकल्पना मात्र ही नहीं है, अपितु एक शाश्वत सत्य है, इसलिये हमें किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक अध्ययन के समय इस ध्रुव सत्य को अपने ध्यान से अन्तर्हित नहीं करना चाहिये।

उपरिनिर्दिष्ट तत्व वैदिक संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं। वैदिक संस्कृति मानव की मानवता का संदेश देती है।

वैदिक संस्कृति के तत्व चरमोत्कर्ष के द्योतक हैं, इसीलिये यह संस्कृति विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों को देखते हुये आज भी जीवित है, उसी वैदिक संस्कृति की उत्तराधिकारिणी संस्कृति के लिये महाकवि इकबाल ने उचित ही लिखा है -

यूनान मिश्र रोमां सब मिट गये जहाँ से ।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।।

हमारी यही अमर संस्कृति चिरकाल से विश्व का पथ-प्रदर्शन करती रही है, और आज ही नहीं, भविष्य में भी अक्षुण्ण बनी रहकर विश्व का मार्गदर्शन करे, यही मंगल कामना है।

सन्दर्भ :

१. मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक १३.   २. वही, अध्याय १२, श्लोक ९७.
३. अथर्ववेद, १९वाँ काण्ड, ६७ सूक्त, १-८.
४. मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय, ६वाँ, ७वाँ श्लोक।
५. यजुर्वेद, ४०/१/३.
६. राजकिशोर सिंह, वैदिक साहित्य का इतिहास, पृ० १५.
७. वही, पृ० २०, ४५, ७७, ८३.

✱

ऋग्वेद के मंत्र द्रष्टा ऋषि

जान्हवी शेखर राय*

ऋग्वेद के रचना के संबंध में सभी विद्वानों के विचार एक है कि यह सबसे प्राचीनतम ग्रंथ है। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत के रूप में वेदों का अत्यधिक महत्व है। ऋग्वेद के मंत्र, ऋषियों द्वारा प्रणीत है। मंत्रों के प्रणेता ऋषि एक ही समय में उत्पन्न नही हुए। इनके अनुसार वंश मण्डल सबसे प्राचीन है। इस तथ्य की पुष्टि भाषा शास्त्र एवं ऋग्वेद के मंत्रों की साक्षी द्वारा की जाती है। कुछ स्थानों[२] पर प्राचीन ऋषियों के उल्लेख द्वारा उपरोक्त तथ्य को बल मिलता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है कि संस्कृत के कतिपय कवियों को छोड़कर किसी भी कवि का जीवन वृत नही मिलता, यथा कालिदास, वाल्मीकि, भास, शंकराचार्य एवं वररूचित आद। सूत्रग्रन्थों, आख्यान, ग्रन्थों एवं त्रिवर्ग शास्त्रों के रचयिताओं के जीवन वृत के संबंध में हम आज भी अपरिचित हैं। यश: प्राप्ति इन विद्वान आचार्यों का उद्देश्य अवश्य माना गया है,[३] परंतु इन विद्वानों में याश लोलुपता के दर्शन नहीं होते। यही नही बहुत से ग्रंथों के रचनाकारों के नाम तक ही जानकारी नहीं होती।

वैदिक मंत्र शताब्दियों से मौखिक परंपरा से सुरक्षित चले आते रहे हैं और देवता छन्द के साथ उनके ऋषियों के नाम तक नहीं भूलाए जा सके हैं।

क्या ऋषि इतने यश लोलुप थे जिन्होंने अपने द्वारा रचित मंत्र के साथ अपने नाम को इस प्रकार से संयुक्त कर दिया कि वे विस्मृत नहीं किया जा सकते? भारतीय ऋषियों की निर्लिप्त भावना देखकर यह स्वीकार करना कठीन है। वस्तुत: मंत्रों के साथ जुड़े हुए नाम मंत्रकताओं के नहीं हैं, यथा शत वैखानसा:[४] उर्ध्वग्रावा सर्प[५], कपोत, अनील[६] चक्षु,[७] वागाम्भृणी,[८] पणय: असुरा:,[९] भूतांश,[१०] स्वस्ति,[१३] पर्वत,[१४] जालनद्धा: मत्स्या,[१५] आदि।

यहाँ द्रष्टव्य है कि एक छोटे से सूक्त की रचना १०० वैखानस करें, यह बात संदिग्ध प्रतीत होती है। निर्यक योनि पदार्थों तथा वायु, चक्षु, मत्स्य, स्वस्ति आदि मंत्रों की रचना भी तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। यद्यपि कुछ सूक्तों के विषय में यह कहा जाता है कि इसके अमुक ऋषि है। इस प्रकार के उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि ऋषियों को मंत्रकार मानने की बात खंडित होती है।

यदि ऋषियों को मंत्रकार नहीं माना जाए तब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि सूक्तों के साथ सन्नद्ध ऋषियों के नामों का उनसे क्या संबंध है?

ऋग्वेद के अनुशीलन से उनके विषय की विभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। प्राय: प्रत्येक सूक्त के मंत्र में जो उस विषय में सर्वाधिक प्रकाश डालता है उस सूक्त के साथ संबद्ध ऋषि का नाम

** प्रवक्ता, इतिहास विभाग, जगतपुर पी०जी० कालेज, जगतपुर, वाराणसी*

या पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त होता है। एक ऋषि से संबंधित अनेक सूक्त होने पर ऋषि नाम उस सूक्त में प्रयुक्त होता है जो उन सूक्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली या विषय को स्पष्ट करने वाला हो। कभी-कभी ऋषि नाम सूक्त में अनेक बार प्रयुक्त होता है और ऋषि नाम के साथ उसी अर्थ को व्यक्त करने वाले जब एक या एक से अधिक शब्द आते हैं तो वे सब ऋषि के रूप में पहले परिगृहीत होते हैं। मंत्रों की इस उपरोक्त विशेषता से यह स्पष्ट होता है कि ऋषि मंत्र रचयिता नहीं है। और न ही वे व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

बहुत से ऋषियों के नाम बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं।[१६] मंत्रों में ऋषि नाम के साथ दैवी प्रतिभा एवं दिव्य चक्षुओं[१७] का उल्लेख भी मिलता है। अलौकिक ज्ञान विशिष्ट शक्ति सम्पन्न का उल्लेख भी मिलता है।[१८] अलौकिक फल के रूप में ऋषि परिवर्तन संभव है। उनका कथन है "ऋषियों की मंत्र दृष्टियाँ अभिप्राय भेद पर निर्भर है।[२०]

उपरोक्त विवरणें से यह स्पष्ट है कि ऋषि मंत्रों के रचयिता नहीं है, न वे व्यक्ति हैं। परन्तु यह मंत्रार्थ विचार में ऋषि नामों का विशेष महत्त्व है। वे मंत्रार्थ के साररूप हैं, मंत्रार्थ निकालने की दिशा बतलाते हैं। वैदिक वाणी नित्य एवं शाश्वत है।[२१] इस मंत्र का ऋषि भी विरूप है जो आश्चर्य का विषय है।

यास्क ने ऋषि शब्द को ऋष् गतौ धातु से व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ (ऋषयः मंत्र द्रष्टारः) किया है और उनको साक्षात् कृतधर्मा भी माना है (साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयः बभूवुः) दर्शन पूर्व विद्यमान वस्तु का होता है और दर्शन का अर्थ 'रचना करना नहीं होता है। यास्क ने और भी स्पष्ट कहा है कि ऋषि का अर्थ है देखने वाला। क्योंकि स्वयम्भूवेद तपस्या करते हुए इन ऋषियों के रूप में प्रकट हुआ था। यही ऋषियों का ऋषित्व था।[२२]

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि यास्क भी ऋषि का तात्पर्य मन्त्रार्थ ही लेते थे। उन्होंने ऋषि का ऋषित्व समझने के लिए तर्क का आश्रय लेने की प्रेरणा दी है।

कालान्तर में परवर्ती सभी भारतीय वेद भाष्यकारों ने ऋषियों का मन्त्रद्रष्टा ही माना है, मन्त्रकर्ता नहीं। सायणाचार्य ने वेदों पर भाष्य प्रारंभ करने के पूर्ण भूमिका के रूप में इस संबंध में एक सूत्र 'आख्याप्रवचनात्' का उल्लेख किया है।[२३] पूर्व पक्षियों ने मंत्रों में आये हुए नामों का तो उल्लेख करके वेदों को अनित्य बतलाने का प्रयत्न किया है परन्तु ऋषियों की रचना कहकर अपनी बात पुष्ट करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि वेदविरोधी भी ऋषियों को मंत्र रचयिता नहीं मानते थे।

सायण द्वारा जैमनीय सूत्र का तो स्पष्ट यह अर्थ है कि वसिष्ठ आदि यौगिक शब्द जिन मंत्रों मे आये है। उनका प्रवचन करने वाले ज्ञानी पुरुष उसी नाम से कहे जाने लगे।

हमारे देश में गोत्र परंपरा का प्रारंभ इसी तरह हुआ ज्ञात होता है। गो-वाणी + त्र - त्रायते = वाणी का रक्षक। इस प्रकार मंत्रों के ऋषि अर्थ हैं और उनके अर्थों के ज्ञाता गोत्र। मंत्र का ऋषि नाम आगे चलकर व्यक्तियों के साथ उनके उपनाम के रूप में प्रचलित हुआ।[२४] यास्क ने बिना वेदार्थ जाने वेद पाठ करने वाले को भारवाही पशु या स्थाणु कहा है।[२५] वेद के अर्थ को समझने के लिए मंत्रों के ऋषि, देवता और द्वन्द का ज्ञान होना अनिवार्य है।[२६]

वेदों के आधुनिक भाष्यकारों दयानन्द, श्री अरविन्द आदि ने भी ऋषि का अर्थ मंत्र द्रष्टा ही लिया है मंत्र कर्ता नहीं। श्री अरविन्द का कथन है "ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरूषेय ज्ञान का।[२७]

ऋषि दयानन्द ने अग्नि वायु, आदित्य, अंगिरा को आदि ऋषि माना है। उक्त शब्द वेद में वर्णित ज्ञान, विज्ञान, कर्म, उपासना आदि विषयों के अर्थों को ही व्यक्त करते हैं। इन चार विषयों द्वारा ही तत्त्वार्थ का दर्शन मानव जाति को हुआ है। इसलिए ये ऋषि नाम अर्थ दर्शन के ही प्रज्ञापक हैं। कुछ लोगों के अनुसार आर्षेय शब्द का अर्थ हैं ऋषि संबंधी अर्थात् वेदार्थ सम्बन्धी। इसलिए ऋषि शब्द का अर्थ वेदार्थ करना असंभव नहीं है।[२८]

"अन्ये च दृष्ट लिंगा ऋषयः" इस कथन में यास्क ने इस बात की संभावना को उचित ठहराया है कि जो अर्थ मंत्रों के निकलते हैं वे सब निकलने चाहिए। एक से अधिक ऋषि होने का तात्पर्य यही है।[२९]

अतः यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के मंत्रों के साथ उल्लिखित ऋषि का नाम व्यक्ति वाचक नहीं है, बल्कि वे मंत्रों के अर्थों के परिचायक, सारयुक्त गुणवाचक पद हैं। उनके साथ वंश सूचक पद उस अर्थ की विशेषता प्रकट करने के लिए यौगिक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। ये ऋषि नाम मन्त्रार्थ का दर्शन कराने से ही मंत्रद्रष्टा कहे गये हैं।

वेद या मन्त्र का एक नाम ब्रह्म भी है। निश्चय ही मानव आत्मा ने इन मंत्रों एवं उनके ऋषि रूप अर्थ सूत्रों का सहारा लेक प्राप्त ज्ञान का उपबृंहण किया है। इसीलिए ब्रह्म नाम सर्वथा सार्थक है। शतरूपा प्रकृति का आत्मा (इन्द्र) द्वारा सहस्राक्ष होकर दर्शन इसी उपबृंहण की देन है जिसको प्रेरणा ऋषि नामों से मिली है।

मानव जाति ने इन ऋषिनामों के रूप में अपने पूर्वातपूर्वजों की स्मृति बनाए रखी जो सत्यज्ञान के दृष्टा होने के कारण कालान्त में स्रष्ट भी मान लिए गए। अतः वास्तविक तात्पर्य समझ कर वेदों का अध्ययन आवश्यक है।

सन्दर्भ :

१. ऋग्वेद, ७/३५/१४, ७/३७/४, ७/९७/९ आदि।
२. वही, १/१/२, ८/४३/१३ आदि।
३. काव्य प्रकाश - मम्मवाचार्य।
४. ऋग्वेद, ९/६६.
५. वही, १०/१७५.
६. वही, १०/१६८.
७. वही, १०/१५८.
८. वही, १०/१२५.
९. वही, १०/१०८.
१०. वही, १०/१०६.
११. वही, १०/८३-८४.
१२. वही, १/३३.
१३. वही, ५/५०-५७.
१४. वही, ७/१२.
१५. वही, ८/६६.
१६. वही, ७/३३/७, वसिष्ठाः
१७. वही, ७/३३/७-१३.
१८. वही, ८/८७/४, ७/८८/४.

१९. वही, ३/५३/१२, ७/३३/३ आदि।

२०. निरूक्त यास्क, "एव मुच्चान चैरभिप्रायैर्ऋषीणां मंत्रदृष्टयों भवन्ति"।

२१. ऋग्वेद, ८/७५/६, "वाचा विरूपनित्यया"।

२२. निरूक्त, २/११.

२३. जैमिनीय सूत्र, १/१/३०.

२४. प्रियव्रत वेदवाचस्पति, वेद का राष्ट्रीय गीत, भूमिका, पृ० ७५.

२५. वही, अंविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जद्वापि पापीयाज्जायते तु सः।।

२६. वेद रहस्य, श्री अरविन्द, प्रथम खण्ड, पृ० ११.

२७. गुप्त, डा० सुधीर कुमार, ऋग्वेद के ऋषि एवं दर्शन, पृ० १८.

२८. जैसे - जालनद्धा मत्स्याः।

वेदों में शक्ति

गीता श्रीवास्तव*

प्राचीन भारतीय इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति की संरचना में वैदिक वाङ्मय का प्रमुख स्थान रहा है। धार्मिक स्रोत के रूप में उनके अनुशीलन से जो नवीन तथ्य एवं साक्ष्य उभरकर सामने आते हैं उनके संकलन के आधार पर प्राचीन भारतीय धर्म में शक्ति पूजा के उपास्य देवियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा सकता है। वस्तुत: वैदिक धर्म की निरन्तरता नामक प्रतिपाद्य विषयान्तर्गत आर्यों के जीवन में शक्ति पूजा के अस्तित्व एवं तथ्यात्मक उपादेयता को आलोकित एवं प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है।

प्राचीन भारतीय धार्मिक जगत् में प्रचलित विभिन्न देवियों की उपासना के अन्तर्गत शक्ति देवी की पूजा का प्रमुख स्थान रहा है। इसके पृष्ठभूमि में यह विवेचनीय है कि धार्मिक मान्यता के अनुसार देवताओं के साथ देवियों की भी परिकल्पना की गयी। इसीलिए उनकी पूजा की परम्परा अतीतकालीन रही और निरन्तर प्रवाहमान रही है। इसकी अन्य प्रमुख विशिष्टता यह है कि शक्ति पूजा को भारतीय धर्म एवं जीवन पद्धति की एक केन्द्रबिन्दु मानी गयी। इसी परिवेश में यह विवेचनीय है कि शक्ति को नारी के रूप में अभिव्यंजित किया गया है जिसके दिव्य स्वरूप को धार्मिक जीवन में समाविष्ट किया गया क्योंकि सृष्टि की स्वाभाविक प्रक्रिया में शक्ति देवी के अभूतपूर्व योगदान को स्वीकार किया गया। इससे यह मत प्रतिध्वनित होता है कि संसार की उत्पत्ति का कारण मान कर शक्ति उपासना की परम्परा सदैव विद्यमान रही है।

उपासना के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रतिष्ठा संभवत: उस मातृ शक्ति की थी जिसकी आराधना प्राचीन काल में ईरान से लेकर ईजियन सागर तक के सारे देशों में होती थी। इस मातृ-पूजा के लिए भारत की भूति अत्यन्त उर्वरा सिद्ध हुई इस आधार से ही उठकर शक्ति धर्म ने अपने अत्यन्त क्रियानुष्ठानों की परम्परा खड़ी की।[१] विद्वान का कथन है कि सुदूर अतीत काल से ही भारत 'प्रकृति', 'शक्ति', 'पृथ्वी' और अनेक ग्रामदेवताओं की पूजा-भूमि रहा है। इस मातृ-पूजा ने अम्बा माता आदि अनेक पूजाओं का समय-समय पर रूप धारण किया है।[२]

अतीत काल में शक्ति उपासना की परम्परा मानव जीवन का प्रमुख अंग बन चुका था। इसकी प्राचीनता का आभास हड़प्पा सभ्यता के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त ताम्र लेखों, पत्थर की मूर्तियों, मुहरों, एवं मृण्मूर्तियों से होता है। तत्कालीन अधिकांश मुहरों पर अंकित नारी की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। कतिपय नारी की मृण्मूर्तियों में उन्हें प्राय: नग्न प्रदर्शित की गयी है तथा उनके कमर में पटका और मेखला, गले में हार तथा सिर पर कुल्हाड़ी की आकृति की तरह कोई वस्त्र प्रदर्शित है जिन्हें विद्वानों ने मातृदेवी[३] की मूर्तियाँ मानी हैं। इस प्रकार मातृ-देवी की

रीडर एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी०जी० कालेज, वाराणसी

उपासना की परम्परा एशिया माइनर, मेसोपोटामिया, सीरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, सारस, मिस्र आदि देशों में प्रचलित थी।

वस्तुत: सैन्धव काल में मातृदेवी की उपासना विभिन्न रूपों में की जाती थी। मातृदेवी नारी की ऐसी भी मूर्ति मिली है जिसमें शिशु को स्तनपान कराते हुए प्रदर्शित किया गया है जो जननी के दैवीकरण की प्रतीक है। इस काल में मातृदेवी मानवीय जगत् एवं वास्तविक जगत की सृष्टिकारिणी अधीश्वरी मानी गयी जो उपास्य शक्ति देवी की परिचायक है।[४]

आर्यों के जीवन का प्रयोजन भौतिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक अभिवृद्धि भी था। इसके पृष्ठभूमि में विवेच्य है कि देवता प्रकृति की शक्तियाँ हैं जिनको समर्थ चेतन और असाधारण शक्तिवान कहकर सूक्त माने गये हैं।[५] अतएव ऋग्वैदिक संस्कृति में धर्म एवं दर्शन का विशिष्ट महत्व था। वैदिक धर्म में ईश्वर के सत्य स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। हिन्दुओं के धार्मिक विचारों का स्रोत वेद है। वेदों में वर्णित सभी देवी-देवता परमेश्वरी सत्ता के विभिन्न रूप थे तथा ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के नाम थे।

उपास्य शक्ति देवी के प्रतीक के रूप में कोई न कोई स्वरूप नि:सन्देह प्रचलित रही है। इसका प्रचलन विश्व की प्राय: समस्त संस्कृतियों में विद्यमान रही। इस सम्बन्ध में एन०एन० भट्टाचार्य का कथन उल्लेखनीय है कि वैदिक संस्कृति में प्रचलित मुर्ति-पूजा समाज में पूर्णत: बहिष्कृत हो गयी थी। कतिपय देवताओं ने वैदिक आर्यों के देवमण्डल में प्रवेश पा लिया था, विशेषत: मातृदेवियों में, यथा- अम्बिका, उमा, कात्यायिनी, दुर्गा आदि।[६] सामवेद में स्पष्टत: उल्लिखित है कि ईश्वर ने अपने आपको व्यक्त करने के लिए सृष्टि को पुरुष और प्रकृति दो भागों में विभक्त किया।[७] तत्कालीन लोगों का धर्म अत्यन्त सरल था। प्रकृति के रूप में वे अनेक देवताओं की पूजा करते थे जिनमें शक्ति देवी प्रमुख थीं।[८]

वैदिक धार्मिक क्षेत्र में अनेक देवी-देवताओं का अस्तित्व रहा है। इनमें सर्वप्रथम शक्ति के प्रतीकात्मक स्वरूप में मातृपूजा की परम्परा का आभास वैदिक साहित्य के अध्ययन से होता है। ऋग्वेद में उपास्य शक्ति देवी के रूप में मातृ देवियों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके पृष्ठभूमि में उनकी विशिष्टता के रूप में जगत के उद्भव, पालन एवं संहार का कथानक प्रासंगिक है। ऋग्वेद में शक्ति की उपासना का सम्पूर्ण विवेचन 'देवी सूक्त' के अन्तर्गत मिलता है। इसके अतिरिक्त तत्सम्बन्धित ज्ञान 'रात्रि सूक्त' के अन्तर्गत मिलता है। इसके अतिरिक्त तत्सम्बन्धित ज्ञान 'रात्रि सूक्त' से भी होता है।[९] 'देवी सूक्त' में विवृत कथानक के अनुसार महर्षि अभृण ब्रह्मवादिनी दुहिता 'वाक' स्वयं अपने को संसार के प्रत्येक कार्य के मूल में निहित एकमात्र प्रेरक शक्ति मानते हुए सम्बोधित करती है, "मैं सम्पूर्ण जगत की अधीश्वरी हूँ। अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली साक्षात्कार करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जानने वाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं।"[१०]

ऋग्वेद में सर्वप्रथम उषा, इला, अदिति, सरस्वती, पृथ्वी इत्यादि का विवेचन है तथा अदिति की अवधारणा एक सर्वशक्तिमान मातृदेवी से मिलती-जुलती है। इन्हें विश्वमाता तथा सबकी रक्षक कहा गया है। उसी ग्रंथ में अन्यत्र 'पृथ्वी' की स्तुति एक लघु ऋचा में की गयी है तथा उनका आह्वान सामान्यत: 'द्यौ' के साथ किया गया है।[११] इसी प्रकार ऋग्वेद[१२] में

सरस्वती, इडा, सरण्यू, सूर्या, इन्द्राणी, राका, सिनी वानी, श्रद्धा इत्यादि देवियाँ सन्दर्भित हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में अम्भृण ऋषि की पुत्री का कथन उल्लेखनीय है, "ब्रह्म स्वरूपा मैं रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वदेवता के रूप में विचरण करती हूँ। मैं ही ब्रह्मरूप से मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्नि का आधार हूँ। मैं ही दोनों अश्विनीकुमारों को भी धारण और उनका पोषण करती हूँ। मैं ही शत्रुनाशक, कामादि दोष निर्वतक परम आह्लाददायी, यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिव का भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा, पूषा और भग को भी धारण करती हूँ।"[१३]

ऋग्वेद में अन्यत्र देवी का कथन मिलता है, "मैं जिसे-जिसे चाहती हूँ उसे-उसे श्रेष्ठ बना देती हूँ। उसे ब्रह्मा, ऋषि या उत्तम प्रभावशाली बना देती हूँ।" उपर्युक्त उद्धरणों के अनुशीलन के आधार पर यह मत अभिव्यक्त किया जा सकता है कि वह देवी जन कल्याण हेतु असुरों के संहार में लिप्त रहती है तथा वही जगत की एकमात्र अधीश्वरी है।[१४] इसी परिप्रेक्ष्य में शक्ति देवी की महत्ता का आभास देवी के वक्तव्य से होती है। देवी का यह कथन उल्लेखनीय है, "मैं ही ब्रह्मा के द्वेषियों को मारने के लिए रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ। मैं ही सेनाओं को मैदान में लाकर खड़ी करती हूँ, मैं ही आकाश और पर्वत तथा पृथ्वी पर सशरीर व्याप्त हूँ।"[१५]

यजुर्वेद[१६] में शक्ति देवी के माहात्म्य का संकेत देवी के इन वचनों से होती है, "मैं इस जगत को उत्पन्न करने वाली सविता देवी की उपासना करती हूँ। इस चित् शक्ति रूप गाय का कण्व ऋषि (मुनि) ने दोहन किया था और उसकी हजारों धारा से पृथ्वी रूपी गाय बलवान और हृष्ट-पुष्ट हुई है, जो आद्यशक्ति एकरूपा थी वह बहुरूपा हुई, यह चार अंचल वाली गाय हुई। सूर्य पत्नी बनकर, नव वधू होकर उसने नये-नये जड़ जगत् को उत्पन्न किया और साथ उसके चार जीवों को भी प्रकट किया।"

अथर्ववेद[१७] में शक्ति की स्तुति 'पृथ्वी' देवी के रूप में की गयी है। इसी प्रकार वाजसनेयी संहिता तथा अन्य ग्रंथों में अम्बिका (रुद्र की बहन स्वस) के रूप में शक्ति देवी के रूप में उल्लिखित है।[१८] तैत्तिरीय आरण्यक[१९] में देवी को दुर्गा, वैरोचनी, कात्यायनी तथा कन्याकुमारी नाम से सम्बोधित किया गया है। उपनिषद ग्रंथ में शक्ति उमा हेमवती ब्रह्म विद्या के रूप में उल्लिखित है।[२०] इसी प्रकार उपनिषद में अन्यत्र काली तथा कराली का भी नाम वर्णित है।[२१]

अतः निष्कर्ष रूप में यह उल्लेख संगत है कि वैदिक काल में शक्ति के प्रतीकात्मक रूप में देवी की उपासना की परम्परा प्रचलित थी जो कालान्तर में भी प्रवाहमान रही।[२२] उन्हें ही आदिशक्ति, जगत की अधिष्ठात्री, संहारिणी, सृजनकर्त्री एवं पालनकर्त्री मानी गयी जो उनके विश्व व्यापकता का परिचायक है।

सन्दर्भ :

१. प्रो० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १७-१८.
२. वही, पृ० १७, पा० १३.
३. 'मातृ' शब्द ऋग्वेद १.२४.१ तथा बाद के ग्रंथों - वाजसनेयी संहिता, १३.२१; ऐतरेय ब्राह्मण २.६ तथा अन्य में माता के लिए प्रयुक्त नियमित शब्द है - द्रष्टव्य मैकडोनल एवं कीथ - वैदिक इण्डेक्स, भाग - २, पृ० १६७.

४. सर जॉन मॉर्शल, मोहेनजोदड़ो एण्ड दि डाउस सिविलाइजेशन, भाग-१, पृ० १७०, रैप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-१, पृ० ११८.
५. ग्रिसवोल्ड, रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० २१५ तथा ए०सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० १५७ तथा वाद।
६. एन०एन० भट्टाचार्य, दि इण्डियन मदर गाडेस, पृ० १५२.
७. सामवेद, १५.८.११; तु०की ब्रह्म वैवर्त्तपुराण ७९.८३-८४ जिसमें उक्त तथ्य की पुष्टि की गयी है कि ईश्वर ने स्त्री तत्व उत्पन्न किया, उसे 'प्रकृति' कहा गया, उसे ही 'माया', 'महामाया', अथवा 'शक्ति' शक्ति शब्द से उद्‌बोधित किया गया है।
८. ई० डब्ल्यू० हापकिन्स, रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ० ३१७.
९. ऋग्वेद, १०.१२७, १-८.
१०. वही, १०.१२५.३ : अहं राष्ट्री संगमनी बसूनां विकितुषी प्रथमायज्ञि यानाम्।
तां मा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूयर्याविशयन्तीम् ।।
१०.१२५.६ : अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्माद्विषे शरवे हन्तया।
अहं अनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश।।
११. वही, १.७२.९; ८.९.१०.
१२. वही, २.३२.४ : ५.४२.१२, ७.४९.१, १०.९.१; द्रष्टव्य अथर्ववेद, १२.१, तैत्तिरीय संहिता, १.८.८'१, ऐतरेय ब्राह्मण, २.६.
१३. वही, १०.१०.१२५ : ॐ अहं रुदेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यै विश्व देवैः।
अहं मित्रवरुणोमा विभर्म्यहमिन्द्राणी अहविनोमा।।
अहं सोममाहर्निशं विमर्म्यहं त्वष्टारभूतं पूषणं भगम्।
अहं दद्यामि द्रविणं हविष्मते सुप्रदप्ये यज्ञमानाय सुन्तते।।
१४. वही, ८.५४.४, तु की सामवेद १५.८.११ तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण, ७९.८३-८४.
१५. वही, १.१५.५२.
१६. यजुर्वेद, अग्निरहस्य काण्ड।
१७. अथर्ववेद, १.२.१.
१८. वाजसेनेयी संहिता, ३.५६-५७, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १.६.१०.४-५, शतपथ ब्राह्मण, २.६.२.९, 'अम्बिका वें नामास्य रुद्रस्य स्वसा।'
१९. तैत्तिरीय आरण्यक १०.१८.
२०. केनोपनिषद, ३.२५.
२१. मुण्डकोपनिषद, १.२.२-४.
२२. द्रष्टव्य एन०एन० भट्टाचार्य, दि इण्डियन मदर गाडेस, पृ० १०० तथा बाद।

✱

वेद और पुराण

जय प्रकाश पाठक*

भागवत में जीव गोस्वामी ने 'पुराण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार से किया है - 'पुरणात् पुराणम्' अर्थात् जो 'पूरण करता हो, वह 'पुराण' है।[1] वेद के अर्थ का उपबृंहण (पूरण या पूर्ण) वेद से भिन्न वस्तु के द्वारा कभी भी नहीं किया जा सकता। स्वर्ण कंगन यदि टूट जाये तो स्वर्ण से ही पूर्ण किया जा सकता है, जिस प्रकार, यदि किसी पात्र में आधा दूध भरा हो तो पूरा पात्र भरने के लिए दूध की ही आवश्यकता पड़ती है। दूध के स्थान पर उसका दूसरा विकल्प नहीं हो सकता। यदि दूध के स्थान पर दधि या छाछ भरा जायेगा तो विरोधात्मक स्थिति पैदा हो जायेगी। वहाँ दूध का अस्तित्व ही नष्ट हो जायेगा। इसी तरह वेद और पुराण का भी सम्बन्ध है। वेद की पूर्ति 'पुराण' ही कर सकता है। एतदर्थ 'पुराण' की वेदता सिद्ध होती है।[1] बलदेव उपाध्याय का भी कथन है कि उपर्युक्त व्युत्पत्ति से 'पुराण' की 'वेदता' सिद्ध होती है, अर्थात् वेद से सम्बन्धित तथ्यों का 'पूरण', 'पुराण' से ही किया जा सकता है, अन्य से नहीं।[2] भागवत का कथन है कि ऋक्, यजु:, साम तथा अथर्ववेद क्रमश: ब्रह्मा के प्रमुख मुख से उत्पन्न हुए और पंचम वेद स्वरूप इतिहास-पुराण को अपने चारों मुखों से उत्पन्न किया। यहाँ इतिहास-पुराण को साक्षात् वेद कहा गया है।[3]

वृहदारण्यकोपनिषद्[4] ने 'पुराणेतिहास' को वेदों के सदृश ही माना है।[4] भारतीय संस्कृति के मूल आधार वेद हैं और 'पुराण' उसका कोषागार है। वेदों के अभाव में भारतीय संस्कृति प्राणहीन है। वेदों के ज्ञान के लिए जितने साधन उपलब्ध हैं, उनमें पुराणों की महत्ता सर्वोपरि है, क्योंकि, पुराणों में वेदोक्त सूक्ष्म तत्वों की विस्तार से व्याख्या की गई है। वस्तुत: पुराण वेदों को समझने की कुंजी है। भारतीय संस्कृति के परिशीलनार्थ वेद और वेद मूलक ज्ञान के अध्ययन के लिए पुराणों का अनुशीलन आवश्यक है। सम्प्रति, वेदों की सभी शाखायें नहीं मिलती, तो भी उनके मूल विषय को 'पुराणों' में सजो दिया गया है, जिससे मूल विषय को प्राप्त किया जा सकता है। आज भी अनेक वेद शाखाओं के न मिलने पर भी उनके प्रतिपाद्य विषयों का अनुमान किया जा सकता है। वैदिक कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के अतिरिक्त लोक में प्रचलित तथा उपयोगी अनेकों विषयों का पुराण में समावेश है।

इस प्रकार वेद-वेदांगों, धर्म-दर्शन, भूगोल, खगोल, वास्तु-विद्या, रत्न परीक्षण, इतिहास, काव्य-कला, राजनीति, अध्यात्म-ज्ञान, व्यावहारिक-ज्ञान इत्यादि सर्वविध विद्याओं के विवरणात्मक प्रसंगों के उपस्थापन में पुराणों का वैशिष्ट्य है। पुराणों में तत्व-ज्ञान का सुगम एवम् सुबोध शैली में प्रतिपादन किया गया है। पुराणों में देवों और देवियों की गाथाएं गाई गयी हैं। तपस्या से परम पवित्र, अन्त:करण वाले ऋषियों एवम् मुनियों के आख्यान और उपाख्यान दिये गये हैं। इनमें राजाओं के जीवन-चरित्र चित्रित किए गये हैं।

* *शोध छात्र, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, महामनापुरी कालोनी, वाराणसी*

पुराणों का सर्वग्राहकत्व अनुपम एवं अद्भुत है। इसीलिए पुराण को 'पंचम वेद' माना गया है।[५] पुराणों की वेदता के बारे में 'बृहन्नारदीय पुराण' में बतलाया गया है कि 'रघुनाथ चरित रामायण' की तरह सभी पुराण शतकोटी प्रविस्तर हैं।[६] इसमें भू-लोक के सन्दर्भ में चार लाख श्लोकों का और देव-लोक के सन्दर्भ में सौ करोड़ श्लोक उद्धृत हैं। वेद की ही तरह 'पुराण' भी अनादि हैं, क्योंकि वेदों की ही तरह व्यास रूपधारी भगवान के द्वारा इनका भी आविर्भाव मान्य है। इसी कारण से इतिहास-पुराण का 'वेदोंपबृंहकत्व' है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' कहता है कि वेद के बाद 'पुराण' वाङ्मय का स्थान है।[७] मत्स्य पुराण का मानना है कि सृष्टि के आदि में 'यो ब्राह्मणं विदधातिपूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' अर्थात् परमेश्वर ने प्रथमत: ब्रह्मा को उत्पन्न करके उन्हें वेदों का उपदेश दिया, उसके बाद परेश्वर से वेद-ज्ञान को प्राप्त कर ब्रह्मा ने जिन शास्त्रों का स्मरण किया, उनमें सर्वप्रथम समृत शास्त्र 'पुराण' ही है।[८] शतपथ ब्राह्मण ने 'इतिहास पुराणम्' का उल्लेख किया है।[९] यहाँ 'इतिहास पुराणम्' एक सामासिक शब्द के रूप में है और आगे वर्णित है कि ''परिप्लव के नौवें दिन होता पुरोहित अन्य बातों के साथ इस प्रकार निर्देश देते हैं। 'पुराण वेद है', ऐसा कहते हुए उसे कोई पुराण कहना चाहिए। शांख्यायन श्रौत-सूत्र[१०] एवं आश्वलायन श्रौत सूत्र[११] (ये दोनों सूत्र ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं) के अनुसार परिप्लव के दो दिनों में इतिहास-वेद एवं पुराण-वेद का पाठ होना चाहिए। यहाँ दोनों के मत सम्भवत: एकबचन में प्रयुक्त है, जो 'पुराणम्' ग्रन्थ की ओर संकेत करते हैं। पाण्डुरंग वामन काणे[१२] पतंजलि के महाभाष्य का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि 'पुराण' एकबचन अर्थात् एक ही 'पुराण' रहा होगा। काणे का मत है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र के उद्धरण से ज्ञात होता है कि 'पुराण' पद्य बद्ध थे। विद्यमान 'पुराण' पुराने 'पुराण' का संशोधित रूप है। निरूक्त में यास्काचार्य ने भी भिन्न-भिन्न लक्षणों का उल्लेख किया है। यहाँ 'पुराण' शब्द का तात्पर्य है - जो प्राचीन होता हुआ भी नवीन होता है, अर्थात् जो शास्त्र पुरातन घटनाओं का वर्णन करता हुआ भी वर्तमान और भविष्य की घटनाओं का वर्णन करता है - 'पुरा नवं भवति'[१३]। 'तुड्' आगम का अभाव 'निपात्नात्' सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय होता है, लेकिन नियमत: 'तुट्' का आगम नहीं होता।[१४]

भगवद्गीता में 'अजोनित्य: शाश्वतोऽयं पुराण:' तथा त्वमदिदेव: पुरुष पुराण:' का उल्लेख है, जिसका तात्पर्य 'प्राचीन से है तथा संज्ञा के अर्थ में पुरातन आख्यानों से युक्त सिद्ध होता है।[१५] इस अर्थ में 'पुराण' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।[१६] गोपथ ब्राह्मण में वेदांग के रूप में ब्राह्मण, उपनिषद, कल्प आदि के साथ 'पुराण' का भी उल्लेख है।[१७]

ब्रह्माण्ड पुराण में 'पुराण' का अर्थ 'प्राचीन काल में यह हुआ'[१८] तथा वायु पुराण में 'पुरा अनति' का उल्लेख है। इसकी पुष्टि पद्म पुराण[१९] भी करता है। स्कन्द पुराण में 'पुराण' को वेदों की आत्मा कहा गया है।[२०] स्कन्द पुराण एवम् नारदीय पुराण के सन्दर्भ के साक्ष्य में एस०जी० कांटावाला का निम्नलिखित मत है -

"Puranic tradition is as old as the Vedic tradition and Puranas are said to be the 'soul of vedas' or the quintessence of Vedas, vedangas and

shastras. All this brings the close relationship of Vedas and puranas. Puranas state that for the proper understanding of Vedas knowledge of Itihas and Puranas is necessary"[22]

टी०जी० मेंकड़ का मत उचित जान पड़ता है। मेंकड़ का मत है कि -

"Vedic literature and puranic literature are related with each other and hence it is quite possible that the Puranic version may be helpful for understanding the vadic version"[23]

महाभारत में 'श्रुति-स्मृति को दो नेत्र और पुराण को हृदय की संज्ञा दी गई है। एक नेत्र से हीन मनुष्य काना, दोनों से हीन अन्धा परन्तु पुराण से हीन को हृदय शून्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि एकाक्षी एवं अन्धा, हृदय शून्य से कहीं अच्छा है -

'श्रुति स्मृतौ उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।

एकेन हीन: काण: स्याद् द्वाश्यामन्ध: प्रकीत्तित:।।

पुराणहीनाद् हृच्छन्यात्काणन्धवपि तौ वरौ।

इसी प्रकार महाभारत के आदिपर्व में पुराण को पूर्ण चन्द्र तथा इसकी किरणों को श्रुति कहा गया है।[२४]

एक प्रश्न उठ सकता है कि वेद-पुराण जब अभिन्न है, तो वेद से पुराण भिन्न क्यों हुआ? इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि "स्वर और क्रम का वैलक्षण्य ही इसका मूल कारण है। दोनों ही अनादि है, दोनो ही प्रतिकल्प में आविर्भूत होते हैं - इन अंशों में समानता होने पर भी स्वर और क्रम के वैलक्षण्य से ही परस्पर भेद उत्पन्न है। उसी पुराण में एकादशी व्रत के प्रसंग में बतलाया गया है कि एकादशी व्रत वेद में वर्णित नहीं है। अत: वैदिकों को वह नहीं करना चाहिए। इस आक्षेप पर यही समाधान दिया गया है कि वेद में जो सुस्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता है, वह पुराणोक्त होने से ग्राह्य है, क्योंकि वेद में ग्रह-संचार, काल शुद्धि, तिथियों की क्षय-वृद्धि और पर्व, ग्रह आदि का निर्णय पहले ही किया हुआ है। जो बात वेदों में नहीं है, वह स्मृति में परिलक्षित हो जाती है, जो दोनों में नहीं है, उसका वर्णन पुराण में उपलब्ध हो जाता है।[२५] शिवपुराण में शिव-पार्वती से कहते हैं कि, "मै वेदर्थ की अपेक्षा पुराणार्थ को विशद मानता हूँ।"

पी०एल० वैद्य[२६] महाभारत का सन्दर्भ (१.१.२०४) प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "इतिहास-पुराण की सहायता से ही वेद के गुढ़ व्याख्या को समझा जा सकता है - Obscure passages of vedas could be elaborated with the help of Itihas and Puranas'.

पी०वी० काणे निष्कर्षतया अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि "अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में उल्लिखित 'पुराण' एक पंचम वेद था।' इन्होंने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उद्धरण करते हुए कहा है कि ऋक्०, साम, यजु:, अथर्ववेद एवं इतिहास (वेद) यह सभी वेद है।[२७] इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य-काल तक 'पुराणेतिहास' वेद के समकक्ष था।

सन्दर्भ :

१. जीवगोस्वामी - भागवत - पृष्ठ - १७, कलकत्ता संस्करण -
'इतिहास पुराणभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। इति पुराणमिति चान्यत्र। न चावेदेन वेदस्य बृंहणं सम्भवति, नहि अपूर्णस्य कनक वलयस्यत्रपूर्णा पूरणं युस्यते।

२. बलदेव उपाध्याय - पुराण विमर्श - षष्ठ परिच्छेद - पृष्ठ - २१४। द्रष्टव्य - A note on 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' Arun Bharti (Professor A.N. Jani Febication Volume) ed. by B. Dutta and others, Baroda, 1983, pp. 237-244.

३. भागवत - ३.१२.३९। द्रष्टव्य - रामशंकर भट्टाचार्य : 'इतिहास पुराण का अनुशीलन', पृष्ठ २५, ४६-२३८ 'पुरणात' 'पुराणम्' वाराणसी-१९६३.
"इतिहास पुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः"॥

४. वृहदारण्यकोपनिषद - २/४/१० - एवं वा अरेस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणम्॥

५. छान्दोग्योपनिषद् - ७/१/२ - "सहोवाच ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदार्थर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्"

६. वृहन्नारदीय पुराण - ५/३ - "हरिर्व्यास स्वरूपेण जायते च युगे-युगे।
चतुर्लक्ष प्रमाणेन द्वापरे-द्वापरे सदा।
तदस्टादशधा कृत्वा भूर्लोके निर्दिशत्यपि।

७. श्वेताश्वरोपनिषद् - ६/१८।

८. पद्म पुराण - सृष्टिखण्ड - १/४५ - पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता॥
द्रष्टव्य - स्कन्द पुराण - रेवा खण्ड - उ० १/२४। मत्स्य० ५३/३.

९. शतपथ ब्राह्मण - ११/५/६/८ तथा १३/४/३/१२-१३.

१०. शांख्यायन श्रौत सूत्र - १६/२/२७.

११. आश्वलायन श्रौत सूत्र - १०/७.

१२. पाण्डुरंग वामन काणे - धर्म शास्त्र का इतिहास - प्रथम भाग - हिन्दी अनुवाद, द्वारा - अरूण कश्यप चौबे - पृष्ठ - ४८.

१३. निरूक्त - ३.४.१९ - 'पुरा नवं भवति'।

१४. पाणिनी - २/१/४९ - 'पूर्वकालैक सर्वजरत् पुराणं नव केवलाः समानाधिकरणेन'।
वही - ४/३/१०५ - 'पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु'।

१५. भगवद्गीता - २/२० तथा १९/३८.

१६. अथर्ववेद - ११/७/२४ - "ऋच : सामानि छन्दासि पुराण ... दिविश्रितः॥

१७. गोपथ ब्राह्मण - १/२/१०.

१८. ब्रह्माण्ड पुराण - १/१/१६३.

१९. पद्म० - ५/२/५३ द्रष्टव्य वायु भी।

२०. स्कन्द० रेवा खण्ड - १.२२ - "आत्मा पुराणं वेदनाम्"।

२१. नारदीय० - १/१-२१ 'सर्ववेद वेदांग शास्त्राणां सारभूतम्'। द्रष्टव्य - अन्यत्र - १/१/६१ 'सर्ववेदार्थ साराणि पुराणनीति'। १-२४-१७ 'वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे नात्रसंशयः'। द्रष्टव्य - भागवत - १.१.३.

22. S.G. Kantawala : "Legends in Puranas" page 3, Nag Pub. 1995.

23. T.G. Menkar - The Upbrihana and Rigveda Interpretation, 1975, Ahmedabad, pp. 8, 10, 16, See. R.C. Hazra. Studies in the Puranic Records on Hindu Ritas and Costoms University of Dacca, 1940, pp. 5-16.

द्रष्टव्य एस०के० लाल 'वेद और पुराण को एक ही स्थान तक पहुँचने के लिए दो रास्तों से तुलना किया है - "This is a two way traffic" (see in Vedic - Puranic Vinculum Purana, Vol. - XXXIV - No. 1, January, 1982, p. 91).

२४. महाभारत - आदिपर्व - क्रिटिकल एडिसन - पृष्ठ - ८८५ - "पुराणपूर्ण चन्द्रेण ऋति ज्योत्सना प्रकाशिना। नृणां कुसुम सौम्यानां कृतंबुद्धि प्रयोजनम्"।

२५. बलदेव उपाध्याय - पृष्ठ - २१६ - द्रष्टव्य - शिवपुराण, उत्तरार्थ - अध्याय - २४-

'न वेदे ग्रह संचारो न शुद्धि कालबोधिनी।

तिथि प्रद्धिक्षयोवापि न पर्वग्रह निर्णयः॥

....

वेदाः प्रतिष्ठिताः सम्यक् पुराणे नात्र संशयः॥

26. P.L. Vaidya, Harivansa, Cr. Ed. BORI, Poona, 1969, Vol. I, Introduction, PL.

२७. पी०वी० काणे - वही - खण्ड, पृष्ठ - ३७५, हिन्दी अनुदित - अरूण चौबे कश्यप।

✱

वेदों में सम्प्राप्त एवं मनोरंजन के साधन

जी० एल० मीना*

वैदिक काल में जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न कलाओं एवं मनोविनोद के साधनों का वर्णन मिलता है, जिनमें वास्तुकला, संगीत एवं नृत्य, खेलकूद, गीत एवं जुआ, गाथा, आख्यान, रथदौड़, घुड़दौड़ आदि से उन्हें बहुत मनोरंजन होता था। प्रस्तुत लेख के माध्यम से प्रयुक्त कला एवं मनोरंजन के साधनों पर अनुचिन्तन, अवगाहन एवं अनुशीलन कर वर्तमान मानव जीवन की गाम्भीर्यता व व्यस्थता को कम करने एवं उनकी वास्तविक आनन्दानुभुति के लिए एक समीक्षात्मक अध्ययन है।

कला - कला शब्द 'कल' धातु से अच् + टाप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है 'शब्द करना, बजना, और गिनना।[1] किसी वस्तु का छोटा खण्ड, टुकड़ा, लवमात्र।[2] जिस कर्म को मूक व्यक्ति भी कर सके, समझ सके वह कर्म कला है।[3] अर्थात् श्रव्य कला (संगीत आदि) तथा दृष्यकला (चित्र आदि) कलाओं से मूक व्यक्ति भी अपने हृदय की अव्यक्त भावनाएं प्रकट कर सके वही कला है।

कला शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, छान्दोग्योपनिषद[5] आदि अनेक वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेद में कला शब्द व्याज के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा छान्दोग्योपनिषद में ब्रह्म के 'पाद' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण, श्रदा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, नाम, लोक, कम, मन्त्र, तप, वीर्य, अन्न, मन, इन्द्रिय और पृथ्वी नाम से सोलह कलाओं का वर्णन है। जिस प्रकार रथ चक्र की नाभि में अराये स्थित रहते हैं उसी प्रकार पुरूष में सोलह कलाएं स्थित रहती है।[6] राशि का तीसवा भाग अंश और अंश के साठवें भाग को कला ज्योतिष शास्त्र मानता है।[7] उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कला को मुख्यत: पाँच भागों में बाटा जा सकता है। वास्तुकला, संगीत कला, चित्र कला, नाट्य कला, एवं युद्ध कला-

वास्तु कला - ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'हर्म्य' एवं अट्टालिकायें[8] आयसपुर,[9] सहस्रस्तम्भवाले प्रसाद,[10] शीतताप,[11] लकड़ी ईंट व पत्थर के भवन,[12] लौहनिर्मितशतगुण दुर्ग,[13] सहस्रद्वारगृह,[14] लौहमयनगर,[15] शतद्वारापुरी[16]। इनके काष्टनिर्मित भवन[17] भी होते थे। इन भवनों में बड़े-बड़े खम्बे होते थे जिन पर उनकी छते स्थित होती थी। मित्र व वरूण सहस्रखम्बों वाले भवनों में निवास करते थे।[18] उस समय के वास्तुकारों में वास्तोपति[19] एवं ऋभु[20] का नामोल्लेख मिलता है। वैदिक युग में वास्तुकलाा लौकिक एवं धार्मिक रूपों में विद्यमान थी, जिसमे दुर्गनिर्माण, पुरप्रकल्पना तथा गृह निर्माण लौकिक कला के रूपों में अस्तित्व में थी। वेदी, यूप, आवसथ, श्मशान एवं चिति आदि धार्मिक वास्तुकला के रूप थे।

*प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, संहिता एवं संस्कृत, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पुर - ऋग्वेद में पुर शब्द का अर्थ 'दुर्ग' पाया जाता है जिसमें राज व उसके सेवक निवास करते थे। दुर्ग के स्वामी को 'पुरपति'[२१] कहा जाता था। चतुर्थ मण्डल में लौहनिर्मित पुरों का उल्लेख है।[२२] सातवें मण्डल में सौ दीवारों वाले पुरों का जिक्र किया गया है।[२३] श्वेताश्वेतरोपनिषद एवं कठोपनिषद में नौ एवं ग्यारह द्वारों वाले पुरो का वर्णन है।[२४]

गृहनिर्माण - गृहनिर्माण सम्बन्ध में अथर्ववेद का 'शालासूक्त' उपलब्द है। इसमें द्विपक्षा चतुष्पक्षा, षटपक्षा, शालाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें 'पत्नीनांसदनम्'[२५] का भी उल्लेख है। तैत्तिरीय आरण्यक में अन्नागार अथवा कोषागार शब्दों का वर्णन है।[२६] इन्द्र द्वारा दिवोदास को पत्थर के बने हुए सौ किले दिये जाने[२७] एवं ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में लौहे से निर्मित सौ नगरों का भी उल्लेख है।[२८] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में मनुष्य गृह निर्माण की कला में पूर्णतया कुशल एवं दक्ष थे।

वेदी - यज्ञ सम्पादन एवं देवताओं से सम्बन्धित सम्पूर्ण कार्य वेदी पर ही सम्पन्न होते थे।[२९] वेदी तीन वलिस्त से निर्मित होती थी।[३०] यह सामने से चौड़ी, मध्य में सकरी और शेष में वरीयसी श्रेष्ठ समझी जाती थी।[३१] इसका निर्माण ईटों के प्रयोग से एवं आकार गरूड़ तथा वर्गाकार लिये होता था।

यूप - वैदिक युग में घर के दरवाजे की 'आगल' को यूप कहा जाता था। 'यूप' खादिर की लकड़ी से बनाया जाता था।[३२] वेदी की पूर्वदिशा में इसकी स्थापना की जाती थी।

आवसथ - आतिथ्य सत्कार के लिए निर्मित भवन को आवसथ कहा जाता था।[३३] इससे अतिथियों के स्वागत की पूरी सामग्रियों का संकलन रहता था।

चिति - चिति शब्द से 'अग्नि प्रज्वलित' अर्थ लगाया जाता है। यह पुरूष के बराबर क्षेत्रफल में बनायी जाती थी।[३४] वैदिक युग में प्रत्येक वस्तु को बनाने वाले अलग-अलग कलाकार होते थे यथा-मणिकार, हिरण्यकार, धनुष्कार, कुम्हार, लुहार आदि।

चित्रकला - ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में अग्निदेव का चित्र चर्म पर निर्मित होने का सुल्लेख सम्प्राप्त होता है।[३५] इससे चित्रकला का उद्भव वैदिक कला में परिपुष्ट होता है तथा कई प्रकार के चित्रों के प्रचलन के संकेत मिलते है। जो इस प्रकार है- भित्ति चित्र, फलक चित्र, भूमि चित्र, पत्र चित्र, पट चित्र, अङ् चित्र, ग्रन्थ तथा छवि चित्र आदि।

संगीत कला - सामवेद के साममन्त्रों की गायन विधि संगीतकला की प्राचीनता को स्वतः सिद्ध करती है।[३६] ऋग्वेद में वाद्ययन्त्र-दुन्दुभि,[३७] कर्करी,[३८] क्षोणी,[३९] आदि का उल्लेख मिलता है, जिनका क्रमशः युद्ध एवं शांति के समय, बजाने वाला यंत्र, आर्यो की बांसुरी, मरूतो का वाद्य और वीणा[४१] अर्थ प्रयुक्त हुये है। यजुर्वेद में भी वीणावादन शखहन, पाणिहन (नगाड़ा बजाने वाला) आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[४२]

ऋग्वेद में 'सातस्त्रियों द्वारा इन्द्र के लिए सोमरस निकालते समय गीत गाने का भी वर्णन प्राप्त होता है।[४३] पद्यात्मकगीतों को गाथा कहा जाता था, एवं गाने वाले को 'गाथिन' कहा जाता था।[४४] ऋग्वेद में 'गाथापति' 'गाथानी'; 'ऋजुगाथा' शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।[४५] अतः उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता हैं कि वैदिक युग में संगीत कला पूर्ण विकास हो गया था।

नाट्य कला - वैदिक काल के मन्त्रदृष्टा ऋषि ने पूर्व दिशा में 'उषा' के प्रात:कालिन विस्तार की तुलना रंगमंच पर नर्तकी के उल्लास पूर्ण नृत्य करने का भी प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद बांस पर नृत्य[४६] करने का तथा युद्ध के समय इन्द्र के हर्षातिरेक से नाचने[४७] के संकेत प्राप्त होते हैं। नर्तिका को 'नृतु' कहते थे जो कि नाचते समय सुन्दर वस्त्र पहनती थी।[४८] देवताओं के नाच करने का उल्लेख भी मिलता है।[४९] यजुर्वेद में आठ दासी कन्यायों के सिर पर जल के घड़े रखकर वाद्य संगीत के साथ 'माणीलि' गीत गाने तथा नृत्य के उल्लेख मिलता है।[५०] अथर्ववेद में ऋषि कहता है कि 'जहा' मानव आनन्दित होकर उमंग से गाते और नाचते है वह भूमि वंदनीय है।[५१] उपरोक्त दृष्टान्तों से सुस्पष्ट होता है कि नाट्यकला वैदिक काल में चरमोत्कर्ष पर थी।

युद्धकला - वैदिक काल में शत्रुओं के दमन करने की कला की विधि पूर्वक शिक्षा देने, आयुधों में धनुषबाण, गद्दा एवं वाहनों में रथ आदि का कई जगह वर्णन इस कला की प्राचीनता को सिद्ध करते है। उस समय-चक्र, त्रिशूल, परशु, खड़ग और बरछा प्रमुख आयुध थे। इस प्रकार वैदिककाल में, आखेटकला वस्त्राभूषणकला, विहारकला, तथा मल्लकला आदि अनेक कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

मनोरंजन - ऋग्वेद में धुड़दौड़,[५२] अथर्ववेद में रथ दौड़,[५३] आदि अनेक मनोविनोदों का सुस्पष्ट उल्लेख वैदिक कालीन मनोरंजन परम्परा के पूर्ण विकास की ओर संकेत करते है। शतपथ ब्राह्मण में 'देवताओं की दौड़' प्रतियोगिता का उल्लेख आया है।[५४] गड्ढा खोदकर 'हिरण' और शेर को पकड़ने[५५] आखेट, पाश में चिड़िया पकड़ना[५६] आदि मनोरंजन दृष्टान्त मिलते है।

सूर्य की पूत्री सूर्या ने अश्विनी कुमारों का वरण रथदौड़ में ही किया था। जिस स्थान पर यह दौड़ सम्पन्न होती थी उसे अजि[५७] तथा काष्ठा[५८] कहते थे। ऋग्वेद में रथदौड़ विजयी को पारितोषिक 'कार' तथा मर[५९] शब्द प्रयुक्त किया हुये है। रथदौड़ तथा घुड़दौड़ संचालकों को आजिकृत या आजिपश्त कहा जाता था।[६०] ऋग्वेद में जुएं को 'अक्ष', जुआरी को 'नेता' कहा गया है।[६१] जुआरी द्वारा अपना घरद्वार, धन, खेत, तथा अपनी पत्नी की दांव पर लगाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[६२] मेले तमाशों का आयोजन वैदिक कालीन मनोरंजन के आयाम थे। ऋग्वेद में मेले के लिए 'समन' तथा स्त्रियों बच्चों आदि सजधजकर आनन्द उठाने का वर्णन किया गया है।[६३] अनेक स्थलों पर नृत्य, गीत, संवाद, आख्यान, गाथा, तथा इन्द्रजाल[६४] आदि क्रिड़ाओं द्वारा मनोरंजन के प्रमाण उपलब्ध होते है।

अत: वैदिक कालीन लोग अपने जीवन में कला एवं मनोरंजन का महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। वे दोनो का समादर करते थे। क्योंकि वे सुविदित थे कि कला एवं मनोरंजन जीवन में उपयोगी तो है ही जीवन निर्माण भी करते है। ये दोनों मानव की चिरस्थायी कीर्ति और संस्कृति की सनातन धरोहर ही नही उसकी प्रेरणा भी है। ये मानव में स्फूर्ति प्रदान करते है, प्रोत्साहित करते है और शिक्षित करते है। कला एवं मनोरंजन अनेकता को एकता में बांधने वाले महान शक्ति स्रोत है। मानव के जीवन पर इनका प्रभाव हमेशा व्याप्त रहता है। ये दोनों भूत भविष्य की अपेक्षा नही करते बल्कि सदा जीवन के प्रति जागरूकता प्रदान करते है। अत: इनका सर्वकालिक आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सात्विक महत्व सिद्ध होता है।

संदर्भ :

१. अमरकोष सं० शिवदन्त (निर्णयसागर), पृ० ४३१
२. संस्कृत-हिन्दी कोष-वामन शिवराम आप्टे पृ० २५२
३. शुक्रनीति,-४/६५
४. ऋ०, ८/४७/१६ 'यथा कलां यथा शकमथ ऋणं स न यामसि।'
५. छान्दोग्योपनिषद-४/५/२
६. अरा इव रथनाऔ कला यास्मिन प्रतिष्ठिता-प्रश्नोपनिषद् तं वैद्यं पुरूषं यथा मा वा मृत्यु: परिव्यवथा।
७. राशोस्विंशद्भागो श: तस्यषष्ठिभाग: कला।-सुर्य सिद्धान्त०,
८. ऋग्वेद, १/१६६/४
९. वही- २/२०/८, ४/३०/२०, ७/३/७.
१०. ऋग्वेद-२/४१/५.
११. वही-६/४६/९
१२. वही ६/७६/९.
१३. वही- ७/१५/१४.
१४. वही- ७/८८/५.
१५. वही- ८/८९/८, ४/२७/१
१६. वही- १०/९९/१३.
१७. वही- ७/५/३.
१८. वही- २/४१/५.
१९. वही- ७/८८/५,
२०. वही- ५/६२/६.
२१. वही १/१७३/१०
२२. वही- ४/२७/१७७
२३. वही- ७/१५/१
२४. श्वेताश्वतरोपनिषद्- ३/१८, कठोपनिषद-५/१
२५. वैदिक इन्डेक्स,- १/२३०/२३१,
२६. तैत्तिरीयोपनिषद्,- १०/६७
२७. ऋग्वेद- ४/३०/२०
२८. वही- ४/२७/१
२९. शतपथ ब्राह्मण- ८/६/३/६
३०. वही- १/२/५/९
३१. वही- १/२/५/१६
३२. वही- ३/६/२/१२
३३. वैदिक इन्डेक्स- १/६६
३४. तैत्तिरीयोपनिषद्- ४/४/११
३५. ऋग्वेद- १/१४५
३६. वही- १०/९०/९
३७. वही- १/२८/५, ६/४७/२९-३१
३८. वही-२/४३/३
३९. वही-२/३५/१३
४०. वही-१/८५/१०
४१. यजुर्वेद- ३०/१९
४२. वही- ३१/२०
४३. ऋग्वेद- १०/१४६/२०, ९/६६/८
४४. वही- १/१६७/६, ८/३२/१०, ८/७१/१४, ८/९८/९, ९/२२/४, १/७/१
४५. वही- १/४६/४, १/१९०, ८/९२/२
४६. (क) ऋग्वेद- १/१०/१,
(ख) वा यवे चाण्डालमन्तरिक्षायवशशनर्तिनदिवे----- यजुर्वेद- ३०/२१

४७. ऋग्वेद- १/१३०/७
४८. वही- १/९२/४,
४९. वही- १०/७२/६
५०. भारतीय नाट्य साहित्य- पृ० ७०
५१. अथर्ववेद- १२/१/४१, यस्या गायन्ति भुम्यां मतर्याणयैलवा।
५२. ऋग्वेद- ४/२४/८,
५३. अथर्ववेद- १३/२/४
५४. शतपथ ब्राह्मण- ५/१/१/४-४
५५. ऋग्वेद- ०/७/१, ९/८३/४
५६. शतपथ ब्राह्मण- ५/१/५/२
५७. ऋग्वेद- ४/२४/८०, १०/१५६/१, अथर्ववेद- १३/२/४
५८. ऋग्वेद- ८/८०/८
५९. वही- ५/२९/८, ९/१४/५
६०. वही- ८/५३/६, ८/५३/१४
६१. वही- १०/३४/१२
६२. वही- १०/३२/२,
६३. वही- ४/५८/, १/१२४/८
६४. अथर्ववेद- ८/८/८

वैदिक कालीन विनिमय पद्धति

देवेन्द्र बहादुर सिंह*

पुरापाषाण युग में मानव शिकार करके और आहार संचय करके अपना जीवन निर्वाह करता था। उस समय कबीले एक दूसरे के शत्रु थे। अतः वस्तुओं का विनिमय नहीं होता था। परन्तु कुछ समय बाद कबीलों को अपनी वस्तुएं बदलने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इससे इनका वस्तुओं के विनिमय से आर्थिक जीवन का काम चलता था। आर्य जाति की जो परम्परा यूरोप में पायी जाती है वह इस विषय में भारत से मिलती-जुलती है। वैदिक काल में विनिमय पद्धति का मुख्य आधार गाय थी। रोमन भाषा में पेकस, अंग्रेजी में चेटल्स और जर्मन भाषा में फीह, ये मूल में पशुवाचक शब्द हैं जिनसे द्रव्य या धन का बोध होने लगा था। फीह से ही अंग्रेजी फीस शब्द बना है। दक्षिणा के रूप में जो पशु दिये जाते थे उनसे फीस शब्द का दक्षिणावाची अर्थ व्यवहार में आया होगा।

वैदिक युग में विनिमय का मुख्य साधन गौ थी। दक्षिणारूप में गौ का दान वैदिक प्रथा थी जो बहुत बाद तक चलती रही। कालान्तर में धातु के सिक्के चलने से गौ का क्रय-द्रव्य दक्षिणा में दिया जाने लगा। पाणिनी की अष्टाध्यायी में 'गोपुच्छ' से वस्तुएं मोल लिये जाने का उल्लेख है। इसी तरह अष्टाध्यायी में एक अन्य स्थल पर 'गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम्' शब्द का उल्लेख है।[१] उदाहरण के लिए विश्वामित्र वशिष्ठ की प्रसिद्ध गाय के लिए साधारण एक लाख गाय देने को उद्यत थे।[२] इसी प्रकार एक लाख गायों के बदले में शुनः शेष को उसके माता-पिता से खरीदा गया था।[३]

सिक्कों के व्यवहार की कल्पना सर्वप्रथम भारतवर्ष में पायी जाती है। चांदी और सोने को बराबर तौल के टुकड़ों में काटकर अथवा ढालकर व्यवहार में चालू करना यही सिक्कों का पहला भारतीय रूप था। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण[४] में हिरण्य शतमान और रजत शतमान अर्थात् दक्षिणा में दिये जाने वाले शतमानों का उल्लेख पाया जाता है। कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार शतमान का सम्बन्ध १०० से था अर्थात् १०० मान या रत्ती के बराबर तौल होने के कारण वह सिक्का शतमान कहलाया। अष्टाध्यायी में जो कि ५०० ई०पू० की रचना है, शतमान सिक्के का उल्लेख हुआ है।[५]

अष्टाध्यायी में निष्क सिक्के का भी उल्लेख हुआ है। 'द्वि त्रि पूर्वात् निष्कात'[६] अर्थात् दो निष्क और तीन निष्क से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिए द्विनैष्किक त्रिनैष्किक रूप सिद्ध किये गये हैं। यह स्थिति ५वीं शताब्दी ई० पूर्व में थी। एक दूसरे सूत्र में शतसहस्रान्ताच्च निष्कात[७] की चर्चा है। अर्थात् सौ निष्क और हजार निष्क धन की पूंजी वाले व्यक्ति के लिए नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक शब्दों की सिद्धि बताता है। महाभारत में भी निष्कशत और

शोध छात्र, प्रा०भा०इ०सं० एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

निष्कसहस्त्र रूप में धन की दो कोटियों का एक ही श्लोक में उल्लेख हुआ है।[८] लेकिन निष्क शब्द का धन के रूप में प्रयोग पाणिनी से भी बहुत प्राचीन था। शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक अरुणि ने उस व्यक्ति को एक स्वर्ण निष्क देने की घोषणा की थी जो उसे शास्त्रार्थ में जीत ले।[९] निष्क की प्राचीनता और भी पहले जाती है जब हमें ऋग्वेद में निष्क सौ घोड़े और एक सहस्त्र गायें दक्षिणा में देता है।[१०] अन्यत्र निष्क को विश्वरूप कहा गया है जिसका अर्थ उस पर अंकित चिन्ह अथवा रूप से है। इस प्रकार का सुवर्ण का कोई गोल टुकड़ा निष्क कहलाता था जो कि संभवत: आभूषण (गले का हार) के काम में भी आता था।[११] महाभारत में जिस निष्क का वर्णन है वह आभूषण मात्र नहीं, बल्कि सिक्का अर्थात् निश्चित तौल का सोने का टुकड़ा हो गया था।[१२]

"साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्धनन्तथा।"

अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मण को १०८ सुवर्ण निष्क धन दक्षिणा में दिया गया।

महाभारत में ही अन्य स्थल पर वर्णन आया है कि विश्वकर्मा ने एक सहस्त्र निष्क से एक शंख बनाया था, जिसे समुद्र ने वरुण की ओर से युधिष्ठर को भेंट में दिया था।[१३] इस प्रकार सौ निष्क, १०८ निष्क और एक सहस्त्र निष्क के उल्लेखों से निश्चित होता है कि महाभारताकार निष्क को नपे-तुले सुवर्ण के टुकड़े के अर्थ में जानते थे। पतंजलि के समय तक निष्क के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। किन्तु अभी तक पुरातात्विक उत्खननों से एक भी निष्क के प्रमाण नहीं प्राप्त हुए हैं। महाभारत में ही एक अन्य स्थल पर वर्णन है -

ताम्रलोहैः परिवृता निधयों ये चतु:शता:।
पंचद्रौणिक एकैक: सुवर्णस्याहतस्य वै।।
जातरुपस्य मुख्यस्य अनर्ध्येयस्य भारत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया।।

अर्थात् युधिष्ठिर अपने खजाने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'मेरे कोष में ताम्बे के बर्तनों में चार सौ निधियाँ आहत सुवर्ण से भरी हुई है और एक-एक की तौल पांच द्रोण है। उनका सोना अव्वल किस्म का है।' इससे ज्ञात होता है कि सोने के एक जैसी तोल के टुकड़े बनाकर उन पर रूप या प्रतीक टंकित कराने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। कालान्तर में इसी से चांदी के सिक्के (कार्षापण) को आहत करने की परम्परा विकसित हुई।

उपरोक्त विवरणों के आधार पर हम देखते हैं कि प्रारम्भिक वैदिक काल में विनिमय का माध्यम गाय थी। आगे चलकर उत्तरवैदिक काल में विनिमय का माध्मम एक निश्चित धातु के तौल के टुकड़े ने ले लिया। परन्तु कालान्तर में ६० ई०पू० में सिक्के का पूर्ण रूप विकसित हुआ।

सन्दर्भ :

१. पाणिनीकृत अष्टाध्यायी ५/१/१९.

२. रामायण, १,५३,९.

३. वही, १,६१,१३.

४. शतपथ ब्राह्मण ५/५/५/१६; १३/२/३/२.

५. अष्टाध्यायी, ५/१/२७, शतमानेन क्रीतं शातमानम्।

६. वही, ५/१/३०.

७. वही, ५/२/११९.

८. महाभारत, अनुशासन पर्व १३/४३, शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च संमितं।

९. शतपथ ब्राह्मण, ११/४/१/८.

१०. ऋग्वेद, १/१२६/२.

११. वही, २/३३/१०.

१२. महाभारत द्रोणपर्व ६७, ''साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्धनन्तथा''।

१३. वही, सभापर्व ५४/१५.

✸

वैदिक युग में स्वर्णधातु तकनीक

सुशीला भारती*

प्राचीन काल से ही सुवर्ण धातु अपने दिव्यमान वैभवशाली वैशिष्ट्य गुणों का द्योतक होने के कारण सहज ही व्यक्ति के आकर्षण का केन्द्र बिन्दु रहा है, यह अलंकार निर्माण का प्रमुख संशाधन भी है।

स्वर्ण धातु के प्रचलन का पुरातात्विक प्रमाण नवपाषाणकाल से ही प्राप्त होने लगता है और वैदिक युग आते-आते इसका प्रयोग अनेक रूपों में मिलने लगता है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की समयावधि १५०० ईसापूर्व से ५०० ईसापूर्व तक निर्धारिक की जाती है। इस अवधि में प्राय: कलासाक्ष्य अप्राप्त है। प्रस्तुत शोधपत्र मूलत: वैदिक साहित्य पर आधारित है।

ऋग्वेद[१] में स्वर्ण के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं - सुवर्ण, हारित, हिरण्य, जातरूप आदि। अथर्ववेद[२] में स्वर्ण के लिए चन्द्र सुवर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। तैत्तरीय संहिता[३] में स्वर्ण के लिए हिरण्य शब्द आया है। काठक संहिता[४] और षड्विंश ब्राह्मण[५] में स्वर्ण के लिए हारित शब्द आया है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में सुवर्ण-बोधक जातरूप शब्द उल्लिखित हैं।[६]

कोष में हिरण्य से सम्बन्धित शब्दों में हिरण्यकर्ण (कान में सोना पहने) हिरण्यकशिपु, हिरण्यकेश, हिरण्यकक्ष्य, हिरण्यचक्र, हिरण्यजित, हिरण्यदन्त, हिरण्यद्रापि, हिरण्यनिर्णिन, हिरण्यनिमि आदि शब्द प्राप्त होते हैं।[७] इस प्रकार वैदिक साहित्य से ज्ञान अनेक सुवर्णबोधक शब्द वैदिककाल में स्वर्णधातु के बहुतायत मात्रा में प्रचलन के सूचक हैं।

वैदिक साहित्य से स्वर्णप्राप्ति के मुख्यत: दो स्रोतों का पता चलता है -

१) नदियों की जलधारा से स्वर्ण की प्राप्ति

२) भूमि से स्वर्ण की प्राप्ति।

१) नदियों की जलधारा से सुवर्ण की प्राप्ति - मैक्डानेल कीथ[८] के अनुसार - ''यह धातु नदियों की घाटी से निकाली जाती थी।'' प्राचीन भारत में नदियां अनेक चट्टानों से होकर प्रवाहित होती थीं, और इन धाराओं में स्वर्णकण प्रवाहित हो आते थे। सम्भवत: इसी कारण वैदिक साहित्य में सिन्धु को स्वर्णमय या स्वर्णधार कहा गया है।[९] इस प्रकार जहां इन नदियों के धारा का प्रवाह धीरे होता, ये स्वर्णकण तली में नीचे बैठ जाते फिर इसे स्वर्ण प्रक्षालन विधि द्वारा जलोढ़ मिट्टी से अलगकर स्वर्णकणों की प्राप्ति की जाती रही होगी। अत: सोना सिन्धु नदी और भूमि दोनों से प्राप्त किया जाता था। इसलिए सिन्धु को हिरण्वतिनी अथवा हिरण्ययीं कहा गया है।[१०]

शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

२) भूमि से स्वर्ण की प्राप्ति- जैसा कि उपर्युक्त वर्णन आया है कि सोना सिन्धु और भूमि दोनों से प्राप्त किया जाता था। स्वर्ण प्राप्ति का यह दूसरा प्रमुख संसाधन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र से[११] सोना निकालने की जानकारी प्राप्त होती हैं अथर्ववेद[१२] से प्राप्त होता है कि इस काल में लोगों को स्वर्ण, स्वर्णभूमि से निकालना ज्ञात था। यहां संभवत: स्वर्ण प्राप्ति स्थल होने के कारण ही स्वर्ण भूमि का उल्लेख हुआ है।

३) प्रगलन एवं शोधन- पंचविंश ब्राह्मण तथा जैमिनी ब्राह्मण[१३] में स्वर्ण के प्रगलन एवं शोधन प्राक्रिया का वर्णन है। ऋग्वेद[१४] में वर्णित हिरण्णव शब्द से सोने को साफ करने का बोध होता है। शतपथ ब्राह्मण[१५] में स्वर्णधातु को अयस्क के माध्यम से प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। यथा- प्रजापति ने सिकता से शर्करा (पत्थर के टुकड़े) बनाया, शर्करा से अश्म, अश्म से अयस (खनिज द्रव्य) तथा अयस को तपाकर हिरण्य निकाला। स्वर्ण को विगलित करने वाले को द्रविता व ध्याता कहा गया है। प्रगलन से प्राप्त स्वर्णकणों का शोधन किया जाता था। शोधन प्रक्रिया के बाद स्वर्ण के शुद्धता की परख की जाती थी। अर्थशास्त्र से निषक अर्थात् कसौटी पर कसकर स्वर्ण के परख करने की प्रक्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है। सर्वप्रथम कसौटी पर शुद्ध सोने से रेखा खींचते हैं, फिर वर्णिका (ताम्र मिश्रित स्वर्ण) से रेखा खींचते हैं। शुद्ध सोने द्वारा खींची गयी रेखा एकरंग (समरंग) की जाती है। कमल के केशर के समान रंग की, चमकदार कसौटी पर कसी हुई रेखा सोने के श्रेष्ठ होने का सूचक है। कसौटी हेतु कलिंग देश के ताप्ती नदी का मूंगे के रंग का काला पत्थर श्रेष्ठ माना गया है।[१६] वैदिक युग में शोधन एवं प्रगलन प्रक्रिया द्वारा सोने को शुद्ध, प्रभास्वर, कमनीय तथा वस्तु निर्माण योग्य बनाया जाता था।

४) वस्तु निर्माण- ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में स्वर्णनिर्मित आभूषण, केश, रथ, वस्त्र, आसन इत्यादि का वर्णन है। यजुर्वेद[१७] में हिरण्यकार का उल्लेख है जो विविध प्रकार के वस्तु बनाता था। तैत्तरीय संहिता में स्वर्णनिर्मित इष्टका, पात्र इत्यादि का वर्णन मिलता है। गृह्यसूत्रों[१८] में वर्णित है कि अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त (धान्य, फल, गाय आदि के) स्वर्ण का भी दान होता था। महाकाव्यों में स्वर्णपात्र, आसन इत्यादि का अनेक स्थलों पर वर्णन आया है। यद्यपि वैदिक साहित्य में स्वर्ण का उपयोग अन्य वस्तुओं के निर्माण में किया जाता था किन्तु मूलत: इसका उपयोग आभूषण निर्माण हेतु किया गया है।

५) आभूषण निर्माण- ऋग्वेद में कर्मार, सुकर्माण, धमातृ आदि का उल्लेख आभूषण निर्माता के रूप में हुआ है।[१९] ये आभूषण सौन्दर्यवर्धक, यशवर्धक एवं मनोकामना पूर्ण करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद में देवों से प्रार्थना करते समय वैदिक आर्य उनसे आभूषण प्रदान करने की याचना करते है। सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि ग्रन्थों में भी हिरण्यकार का उल्लेख मिलता है जो स्वर्ण से विविध प्रकार के आभूषण बनाते थे। इस प्रकार वैदिक साहित्य से स्वर्णाभूषणों की लम्बी सूची प्राप्त होती है। आभूषण सम्बन्धी साक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए आभूषण निर्माता की दो पद्धतियां ज्ञात होती है- १ सांचे द्वारा २ डाई द्वारा।

६) सांचे द्वारा आभूषणा निर्माण- छत्र, चक्र, वृत्त प्रकार तथा भारी आभूषणों को देखते हुए अनुमान लगाया जाता है कि इस प्रकार के आभूषण का निर्माण सांचे द्वारा किया जाता रहा होगा। ऋग्वेद में कर्णशोभना[२०] चक्र[२१] तथा हिरण्यकर्ण आदि कर्णाभूषण का उल्लेख है। इनमें हड़प्प से प्राप्त चक्र सदृश्य आभूषण का समीकरण ऋग्वेद में उल्लिखित चक्र से

की गयी है। इसी प्रकार बाद की संहिताओं में प्रवर्त नामक कर्णाभूषण का उल्लेख है। जिसे (प्रवर्त को) अथर्ववेद में सूर्य, चन्द्र की भांति बताया गया है।[२२] सेण्ट पीटर्सवर्ग शब्द कोष में इसे वृत्ताकार कहा गया है।[२३] इसी प्रकार रूक्म नामक वृत्ताकार ग्रीवाभूषण का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में निष्क को ग्रीवा दबाने वाला अथवा ग्रीवा से चिपका हुआ बताया गया है।[२४] इन आभूषणों सम्बन्धी विवरणों से पता चलता है कि इस प्रकार के आभूषण सांचे द्वारा निर्मित किये जाते रहे होंगे।

७) डाईद्वारा- वैदिक साहित्य में ''कम्बु'' नामक सिरेभूषण का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे गोल तथा उभरा हुआ बताया गया है। विशेषता के आधार पर यह डाई द्वारा निर्मित जान पड़ता है।

८) आभूषणों की सज्जा- आभूषणों की सज्जा सम्बन्धी विवरण भी वैदिक साहित्य से प्राप्त होता है। रत्नों की जड़ावत, तारों द्वारा और पिरोने की विधा सर्वविदित होती है।

९) रत्नों की जड़ावत- सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि ग्रन्थों में हिरण्यकार के अतिरिक्त मणिकार का उल्लेख मिलता है।[२५] इन ग्रन्थों में हिरण्य, रजत रत्न मुक्ता, विमुक्ता, बैडूर्य, वज्र आदि धातुओं एवं बहुमूल्य मणियों के नाम प्राप्त होते है।[२६] संक्षेप में इन मणियों के नाम इस प्रकार है- हिरण्यमणि[२७], स्त्रावत्त्यमणि[२८], संजयमणि[२९], देवमणि[३०] दर्भमणि[३१] (घास के आकार की मणि जो स्वर्ण से बनती थी), औदुम्बरमणि[३२], (गूलर के फल के आकार की मणि), जगिडमणि[३३] (लाल रंग की मणि), वर्णमणि[३४] (हरे रंग की मणि जिस पर आंख बनी रहती थी), पर्णमणि[३५] (पीपल के पत्ते के आकार की मणि), शंखमणि[३६], पवमणि[३७] आदि। निश्चय ही इनका प्रयोग आभूषणों के निर्माण में किया जाता था। इन बहुमूल्य पत्थरों को कोरकर जड़ने का काम किया जाता था। आश्वलायन एवं कौषीतकी गृह्यसूत्रों मे मणिकुण्डल का उल्लेख मिलता है[३८] जो स्वर्ण निर्मित था जिसमें मणि जड़ी रही होगी। बालियों में मणि जड़ी रहती थी। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में कुण्डल के साथ स्वर्णमण्डित चन्दनमणि को दूर्वा में बांधकर कान में पहनने का उल्लेख है।[३९] ऋग्वेद के एक मंत्र में मणिग्रीव हेतु कामना की गयी है।[४०] हिरण्यमणि[४१] ग्रीवा भूषण के लिए व्यवहार में लाया गया है। अंगुली आभूषण के लिए रत्नजड़ित हिरण्यपणि शब्दावली मिलती है।[४२] सूत्र ग्रन्थों में तीन मणियो से युक्त प्रतिसर को हाथ में धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[४३] आपस्तब गृह्यसूत्र में बदरमणि बांधने का निर्देश प्राप्त होता है।[४४] मुंज की बनी तीन लड़ियों वाली मणिमेखला का उल्लेख प्राप्त है।[४५] आगे चलकर अनेक आकार-प्रकार एवं रंग वाली मणियों का उल्लेख बहुलता से प्राप्त होता है जो रत्नों के जड़ावत का काम उन्नत होने का सूचक है। इन मणियों को आयु, तेज, कान्ति एवं ओज बढ़ाने वाला तथा बाधाओं को दूर करके सौभाग्य की वृद्धि करने वाला कहा गया है।

१०) तारों द्वारा- प्राचीन काल में तारों द्वारा आभूषण की सज्जा की जाती थी। ऋग्वेद मे उल्लिखित 'प्रवर्त' नामक कर्णाभूषण को रायगोविन्दचन्द्र ने पतले तारों से निर्मित बताया है जिसके सिरे कर्णछिद्र में डालकर परस्पर चढ़ा दिए जाते थे। इसी कारण इसको पव्रर्त कहा जाता था।[४६] आपस्तब श्रीतसूत्र[४७] में 'कुम्ब' कुरीर को शीर्षजाल कहा गया है। बौधायन ने भी कुरीर के साथ जालम् का उल्लेख सिरोभूषण के रूप में किया है।[४८] इससे यह स्पष्ट है कि तारों द्वारा आभूषण सज्जित किये जाते थे। उपरोक्त दोनों विधियों के अतिरिक्त पिरोना शब्द का बहुलता से प्रयोग किया गया है। सम्भवत: आभूषण सज्जा हेतु इसका उपयोग किया जाता था।

ऋग्वेद में निष्क का उल्लेख मुद्रा के रूप में हुआ है। इन्हीं मुद्राओं को सूत्र में पिरोकर ग्रीवा में धारण किया जाता था जिसके लिए निष्कग्रीव[४१] शब्द आया है। मणियों को भी सूत्र में पिरोकर धारण किया जाता था।

वैदिक साहित्य स्वर्ण सम्बन्धी सन्दर्भों से भरा हुआ है किन्तु मूलत: इसका प्रयोग आभूषण निर्माण में किया गया है। प्रसंगवश हमें स्वर्ण निर्मित अन्य वस्तुओं का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनके बारे में विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती है। इस प्रकार वैदिक साहित्य वस्तु निर्माण से पूर्व स्वर्ण प्राप्ति के संसाधन, प्रगलन एवं शोधन, स्वर्ण की परख, वस्तु निर्माण की विधियाँ एवं आभूषण सज्जा हेतु प्रचलित विधियाँ इत्यादि सभी धातु तकनीक प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालता है। स्वर्ण धातु विकास तकनीक के कारण स्वर्णधातु का प्रचलन सभ्यता के आरम्भिक चरणों से प्रारम्भ होकर अद्यतन युग तक समान रूप से दिखायी देता है।

संदर्भ :

१. ऋग्वेद, ९/११२/१-२, १/४३/५, ३/३४/९, ४/१०/६.
२. अथर्ववेद, XII २.५३, XV १.२, V २८.५.९, XI ३.८,
३. तैत्तिरीय संहिता १२.३.२; २.७.१. ४. काठक संहिता, १०/४.
५. षडविंश ब्राह्मण III २-३, X ७.
६. एतरेय ब्राह्मण VIII १३.१८, शतपथ ब्राह्मण XIV ९.४.२५.
७. सूर्यकान्त, ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्सनरी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, १९८१, पृ० ७४५.
८. वैदिक इण्डेक्स, हि०, पृ० ५५८. ९. वही, पृ० ५५८.
१०. ऋग्वेद १०.७५.८, स्वश्वा: सिन्धु सुरक्षा सुवासा हिरण्ययी ६.६.१.७.
११. वही, १,११७,५. १२. अथर्ववेद १२.१.६.
१३. पंचविंश ब्राह्मण XXVII ६.४. १४. ऋग्वेद १०.८६.३३.
१५. डॉ० सत्यप्रकाश, प्राचीन भारत में रसायन की विकास; पृ० ३१९, शतपथ ब्राह्मण ६.१.३५.
१६. वही, पृ० २८१; अर्थशात्र २.१३, १४-२१, २.१२.२४, २५-२८.
१७. वाजनसेयी संहिता ३०/१७, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/४/१४/१.
१८. ओल्डेनवर्ग, एच, गृह्यसूत्र, पू० २१-२२ (शंखायन गृहसूत्र १.३.७; ६.६)
१९. चन्द्र, रायगोविन्द, वैदिक युग के भारतीय आभूषण, वाराणसी, १९६५, भूमिका, पृ० ६.
२०. सांस्कृत्यायन, राहुल, ऋग्वैदिक आर्य, इलाहाबाद, १९५७, पृ० १५ तथा ४२८.
२१. चन्द्र, रायगोविन्द, पूर्वोक्त, पृ० २०-२१.
२२. चन्द्र, रायगोविन्द, पूर्वोक्त, पृ० ४७, अथर्ववेद १५,२,५१.
२३. वैदिक इण्डेक्स, खण्ड दो, पृ० ४०.

२४. अथर्ववेद ५-१४-३, वैदिक इण्डेक्स, खण्ड एक, पृ० ४५४, रायगोविन्द, पूर्वोक्त, पृ० ४८.

२५. राय, गोविन्द, पूर्वोक्त, पृ० ४०-४१. २६. वही, पृ० ६३-६८.

२७. तैत्तिरी संहिता, १८,३,४,१ तथा काष्ठ संहिता ३५,१५.७९.

२८. अथर्ववेद ८-५-४. २९. वही, ८-५-१६.

३०. वही, ८-५-२०. ३१. वही, १९-२८-१.

३२. वही, १२-१-१. ३३. वही, १९-३४-१.

३४. वही, १०-३-१. ३५. वही, ३-५-१.

३६. वही, ४-१०-४. ३७. वही, ९-२-१३.

३८. वैदिक इण्डेक्स, खण्ड दो, पृ० ८८-८९; कौषीतकी ३.१, आश्वलायन ३.८, भारद्वाज २-२२.

३९. वही, पृ० ८९; हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, १,१०,६.

४०. ऋग्वेद १-१२२-१४; चन्द्र, रायगोविन्द, वैदिक युग के भारतीय आभूष्ण, वाराणसी, १९६५, पृ० १३.

४१. ऋग्वेद, पृ० २५, ऋक् १-३३-८, (मैक्डानेल एण्ड कीथ, वैदिक इण्डेक्स ९-१२), तृतीय पुनर्मुद्रित संस्करण, १९६७, वाराणसी, खण्ड दो, पृ० ११९ तथा १२०.

४२. राय, गोविन्द, वैदिक युग के भारतीय आभूषण, पृ० २८; ऋग्वेद १,२२,५, हिरण्यपाणि भूतये १.३५.

४३. पूर्वोक्त, पृ० ४३, की०वी० गृह्यसूत्र १.१२, त्रिमणिं प्रतिसरं ज्ञातडस्या बध्नन्ति।

४४. वही, पृ० ९३; आश्वलायन गृह्यसूत्र ५,१२.८.

४५. राय, गोविन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० ९४; आपस्तम्ब, गृह्यसूत्र ४,१०,११.

४६. वैदिक इण्डेक्स, खण्ड दो, पृ० ४७.

४७. श्रौतसूत्राज, दिल्ली १९७७, पृ० ९१ (आपस्तब गृहसूत्र, १०.९.७)

४८. वही, राय गोविन्द, पूवोक्त, पृ० ८६ (बौधायन श्रौतसूत्र २४-४)

४९. मैक्डानेल एण्ड कीथ, वैदिक इण्डेक्स, खण्ड एक, पृ० ४५४; चंद्र, राय गोविन्द, पूर्वोक्त, पृ० २२-२३.

ईश्वर : वैदिक से आधुनिक युग तक

ममता गुप्ता*

'ईश्वर' एक ऐसा विषय है, जिस पर सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही चिन्तन होता आ रहा है और प्रत्येक युग के मनीषियों ने इस चिरन्तन विषय पर अपना मौलिक चिन्तन अभिव्यक्त किया है। आधुनिक युग में ईश्वर की किस रूप में परिकल्पना की जाती है यह एक गहन, गम्भीर तथा दार्शनिक प्रश्न है। आज के इस वैज्ञानिक युग में कितनी भी ईश्वर-विरोधी अथवा धर्म-विरोधी शिक्षा प्रदान की जाये, किन्तु इतना निश्चित है कि ईश्वर की सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता।

जीवन के सभी पहलुओं पर ध्यान देने के बाद जब एक प्रकार की अतृप्ति का अनुभव मनुष्य करता है, तब उसके अन्दर कुछ और प्राप्त करने की इच्छा ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान का कारण बनती है। ईश्वर सम्बन्धी जिज्ञासा निरपेक्ष भी हो सकती है। ईश्वर के विषय में किया जाने वाला चिन्तन वर्तमान काल में तीन प्रमुख प्रश्नों को ज्वलन्त रूप में उपस्थित करता है :

१) ईश्वर है अथवा नहीं और यदि है तो उसे किस प्रकार सिद्ध किया जाये?

२) ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने पर उसका ज्ञान या उसकी अनुभूति सम्भव है अथवा नहीं, यदि है तो उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाये?

३) ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान अथवा उससे सम्बन्धित अनुभूति को अभिव्यक्त करना सम्भव है अथवा नहीं और यदि है तो उसे किस प्रकार अभिव्यक्ति दी जाये?

प्रथम प्रश्न के विध्यात्मक उत्तर से ही यह लेख प्रारम्भ होता है कि ईश्वर है। प्रस्तुत लेख वैदिक युग से लेकर वर्तमान युग तक ईश्वर के स्वरूप के विवेचन का एक संक्षिप्त प्रयास है।

वैदिक ऋचाओं में दर्शन की प्राप्ति यद्यपि पग-पग पर नहीं होती तथापि कतिपय ऐसी ऋचाएँ मिलती हैं जो स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद का संकेत करती हैं। ऋग्वेद में निर्देश किया गया है कि एक ही तत्त्व इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि आदि विभिन्न नामों से कहा जाता है। यह एक तत्त्व वेदों में 'ऋत' के नाम से सुरक्षित है। 'ऋत' का अर्थ है - सत् तत्त्व। इस सत् तत्त्व का ही पुरूष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति और विश्वकर्मा आदि अनेक रूपों में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त एकेश्वरवाद की अभिव्यञ्जना भी इसी को लेकर है।

ऋग्वेद में 'नासदीयसूक्त' विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन का परिचायक है। इससे ईश्वर सम्बन्धी संकेत भी मिलते है। सृष्टि के पूर्व न सत् था और न असत्। मृत्यु और मृत्यु का अभाव भी नहीं था। एक ही तत्त्व अपनी महिमा के साथ विद्यमान था। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।[१] सृष्टि के पूर्व परमेश्वर के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। यही सृष्टि का बीज

आंशकालिक प्रवक्ता, दर्शन विभाग, आर्य महिला डिग्री कालेज, चेतगंज, वाराणसी

रूप कारण है।[२] नासदीयसूक्त में इश्वर के लिये 'अध्यक्ष' पद का प्रयोग करते हुए कहा गया कि इस सृष्टि का अधिष्ठाता ईश्वर ही है। वही इस सृष्टि के कारण को जानता है। उसके अलावा उसे कोई नहीं जानता।[३] संक्षेप में ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है। वेदों में प्रस्फुटित भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति उपनिषदों में हुई। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में ही ईश्वर पर सर्वाधिक विचार किया गया है। इसमें ईश्वर के स्वरूप का विस्तृत वर्णन मिलता है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं कि ईश्वर स्वयंभू, अपहतपाप्मत्वादि गुणयुक्त तथा सब कुछ को जानने वाला है। वह काल तथा विश्व का उत्पत्तिकर्ता, विश्ववेत्ता, ज्ञाता तथा विश्व के बन्धन, स्थिति और मोक्ष का कारण है। ईश्वर ही प्रधान और पुरूष का स्वामी तथा गुणों का नियामक है।[४] मुण्डकोपनिषद् में ईश्वर को हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा के उत्पत्तिकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[५] ईश्वर को हिरण्यगर्भ से उत्कृष्ट बताया गया है। इसके साथ ही ईश्वर को सब प्राणियों के अन्दर स्थित कहा गया है।[६]

चार्वाक-दर्शन पूर्णत: भौतिकवादी है। यह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को नहीं स्वीकार करता। अत: चार्वाक-मतावलम्बियों द्वारा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने का भी प्रश्न नहीं उठता। चार्वाकमतावलम्बी ईश्वर को मानने वालों को भ्रान्तिग्रस्त तथा मूर्ख कहते हैं। उसके अनुसार सुख-दुखः, जन्म-मृत्यु सब स्वभावजन्य है।

बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त है कि संसार परिवर्तनशील तथा क्षणिक है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनित्य है।, क्षणभङ्गुर है। अत: यह एक नित्य ईश्वर को मान ही नहीं सकता। बौद्ध दर्शन के प्रणेता बुद्ध ईश्वर की सत्ता के विषय में सदा मौन रहते थे। बौद्धों का मत है कि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया जाये तो उससे वैषम्य की प्रसक्ति अपरिहार्य है क्योंकि जगत् में कोई सुखी, कोई दु:खी है। ऐकान्तिक सुख कहीं नहीं दिखाई देता। यदि कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख की प्राप्ति मानी जाये तो ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहना व्यर्थ हो जाता है। बुद्ध द्वारा ईश्वर की सत्ता को न मानने का संभवत: यह कारण था कि जगत् में जो दु:ख प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसे दूर करना प्रधान उद्देश्य होना चाहिए, ईश्वर आदि विषय तो परलोक से सम्बद्ध हैं, उन पर विचार करना व्यर्थ है।

जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समान निरीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वर के स्थान पर जैनमतावलम्बी तीर्थङ्करों को मानते हैं। वे तीर्थङ्करों को उपास्यरूप में भी ग्रहण करते हैं। उनके वचन ही आप्तवचन हैं। ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तीर्थङ्कर ही केवली, सिद्ध तथा सर्वज्ञ हैं।

न्याय-दर्शन ईश्वरवादी तथा आस्तिक दर्शन है। न्याय-दर्शन के संस्थापक गौतम-कृत 'न्याय-दर्शन' पर भाष्य की रचना करने वाले वात्स्यायन 'ईश्वर' का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जीवात्मा से भिन्न तथा संख्या परिमाणादि गुणों से युक्त 'ईश्वर' है। भाष्यकार वात्स्यायन ईश्वर को आत्मजातीय मानते हैं और उसको आत्मा की कोटि में ही रखते हैं[७] न्याय-दर्शन में ईश्वर को गुणसम्पन्न माना गया है। गुण छ: प्रकार के हैं : ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। ये समस्त छ: गुण जीवात्मा में पाये जाते हैं। ईश्वर भी एक विशेष प्रकार की आत्मा ही है, इसलिये उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीन गुण माने जाते हैं।

वैशेषिक-दर्शन न्याय-दर्शन का समानतन्त्र-दर्शन है। वैशेषिक दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शन है जिसका प्रमाण कणाद के सूत्रों से मिलता है। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार प्रथमत: वेदों के

प्रामाण्य को सिद्ध करते हुए ईश्वर की सत्ता-सिद्धि की जाती है। ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण देते हुए कणाद कहते हैं कि संज्ञा तथा कार्य हम साधारण जीवों से विशिष्ट अर्थात् भिन्न ईश्वर के लिङ्ग है[८] इस विशाल तथा सुव्यवस्थित जगद्रूप कार्य की रचना करने में ईश्वर ही समर्थ है। वैशेषिक-दर्शन भी न्याय-दर्शन के सामन ही ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण ही मानता है, उपादानकारण नहीं।

मूल सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है। सांख्य-दर्शन में पुरूष और प्रकृति - ये दो नित्य तत्त्व ही स्वीकार किये गये हैं। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरूष ही सृष्टि की कारणता तथा उसके प्रयोजन की सिद्धि के लिये पर्याप्त हैं। अत: अन्य ईश्वरवादी दर्शन जगत् के कारण रूप में ईश्वर को जो मान्यता देते हैं, उनका सांख्य-दर्शन विरोध करता है।

समस्त भारतीय ईश्वरवादी दर्शनों में आचार्य पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योग-दर्शन ही एकमात्र ऐसा दर्शन है, जिसमें 'ईश्वर' की स्पष्ट शब्दों में परिभाषा दी गयी है। 'ईश्वर' को परिभाषित करते हुए योगसूत्रकार पतञ्जलि कहते हैं - 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरूषविशेष ईश्वर:'।[९] इसके अतिरिक्त वह कई और सूत्रों का प्रतिपादन करते हैं - 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'[१०] 'पूर्वेषामपि गुरू: कालेनानवच्छेदात्'[११] एवं 'तस्य वाचक: प्रणव:'[१२]। इन सूत्रों से ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट होता है।

अन्य आस्तिक तथा ईश्वरवादी दर्शनों के समान पूर्व-मीमांसा वेदों के रचयिता के रूप में ईश्वर को नहीं स्वीकार करता। पूर्व-मीमांसा के संस्थापक जैमिनि मुनि का मत है कि वेद ईश्वर द्वारा रचित नहीं है। कोई पुरूष भी उनका रचयिता नहीं है, प्रत्युत वेद अपौरूषेय है। ये ईश्वर को नहीं मानते तथापि वेदों की सर्वोपरता को स्वीकार करते हैं और उनके नित्यत्व की भी सिद्धि करते हैं।

समग्र रूप में तथा ऐतिहासिक दृष्टि से ईश्वर पर विचार किया जाये तो यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक मीमांसक ही ईश्वर की सिद्धि-असिद्धि के विषय में तटस्थ थे। परवर्ती मीमांसक जैसे आपदेव, लौगाक्षिभास्कर ईश्वर को मानने लगे थे जिसका प्रमाण उनके ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। सोलहवीं शती ई० में उद्भूत लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थसंग्रह' का समापन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ईश्वरार्पण बुद्धि से किया गया अनुष्ठान मोक्ष-प्राप्ति का साधक है। इस सम्बन्ध में लौगाक्षिभास्कर ने ईश्वर को प्रमाणित करने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता का श्लोक भी उद्धृत किया है। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म व ईश्वर दो पृथक् भिन्न सत्ताएं नहीं हैं। एकमात्र चेतन सत्ता ब्रह्म की ही है। निर्गुण, निरूपाधिक, निर्विशेष ब्रह्म ही माया रूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर सगुण, सोपाधिक, सविशेष, 'ईश्वर' कहलाता है।[१३] आचार्य शङ्कर के उपनिषद् भाष्यों के अनुसार समस्त प्राणियों को उनके कर्मों के अनुरूप फल देने वाला, तीनों लोकों का स्वामी, सभी पर शासन करने वाला, प्रधान व पुरूष का नियमन करने वाला, आत्मा ईश्वर है। वह मायावी है, मायोपाधिक होकर अपनी शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है।[१४]

शङ्कराचार्य ईश्वर के स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वह स्वयंभू अर्थात स्वतन्त्र है।[१५] उसका कोई उत्पत्तिकर्ता और स्वामी नहीं है।[१६] वह काल का भी स्वतन्त्र शासक है।[१७] उसकी प्रवत्ति और निवृत्ति में कोई विरोध नहीं होता।

आचार्य शङ्कर तथा रामानुज दोनों का इस सिद्धान्त पर मतैक्य है कि ब्रह्म और ईश्वर एक है। रामानुज ईश्वर को प्रधानता देते हैं किन्तु ईश्वर के विशेषण रूप में चित् और अचित् को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रामानुज ईश्वर, चित् और अचित् इन तीन की सत्ता को मानते हैं। 'चित् और अचित् से ईश्वर विशिष्ट है' इस सिद्धान्त के कारण रामानुज का सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। आचार्य शङ्कर और रामानुज में अन्तर यह है कि शङ्कर ब्रह्म या ईश्वर को निर्गुण, निर्विशेष मानते हैं और रामानुज सगुण ब्रह्म या ईश्वर को मानते हैं। सगुण से तात्पर्य यह है कि ईश्वर सत्य, ज्ञान और अनन्त गुणों से पूर्ण है। उसमें प्रकृति का अशुद्ध गुण नहीं है। ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। वह कर्मानुसार फल देता है। रामानुज के अनुसार ईश्वर पाँच प्रकार का है : १. पर, २. व्यूह, ३. विभव, ४. अन्तर्यामी, ५. अर्चावतार। रामानुज ईश्वर को 'परम पुरूषोत्तम' के रूप में स्वीकार करते हैं। ईश्वर नित्य तथा अपरिवर्तनशील हैं। रामानुज ईश्वर और जीव के मध्य नियम्यनियामक तथा अंशांशिभाव का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। वे शङ्कराचार्य के समान जीव को ईश्वरस्वरूप अथवा ब्रह्म स्वरूप नहीं मानते।

यूरोपीय चिन्तकों के काण्ट से लेकर वर्गसां और विलियम जेम्स तक या बर्ट्रेण्ड रसेल तक जितने भी विविध विचार मिलते हैं, उन सभी का अध्ययन करने की सुविधा भारतवर्ष के विद्वद्वर्ग को रही है। राजा राम मोहन राय से लेकर महर्षि अरविन्द और प्रोफेसर रानाडे तक जितने भी आधुनिक चिन्तक हुए हैं, उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में भारतीय, यूनानी, इस्लामी, यूरोपीय आदि दर्शनों का यथासम्भव अध्ययन किया है और आधुनिक युग में सामाजिक कुरीतियों, राजनीतिक परतन्त्रता तथा धर्म के नाम पर प्रचलित विकृतियों पर इन सभी मनीषियों का ध्यान अधिक रहा क्योंकि वही इनके युग की माँग थी (दूसरा तथ्य यह है कि ईश्वर के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक मत-मतान्तर पर गहन चिन्तन करने के पश्चात् ये सभी दर्शनिक अद्वैतवेदान्त की स्थापनाओं के अतिरिक्त नया कुछ नहीं देख सके।)

राजा राम मोहन राय[१८] ने ब्रह्म-समाज़ की स्थापना की और हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म का समन्वय एकेश्वरवाद के आधार पर करते हुए बहुदेववाद एवं मूर्तिपूजा का खण्डन किया। इनका आधार भी उपनिषद् ही थे। महाराष्ट्र में स्थापित प्रार्थना-समाज और बंगाल के ब्रह्म-समाज इन दोनों ने ही उपनिषदों के अद्वैतवाद को आधुनिक युग का जीवन-दर्शन माना। १९वीं शता० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना के साथ वेदों एवं आर्य-धर्म का प्रचार करते हुए मूर्तिपूजा एवं बहुदेववाद का खण्डन और एकेश्वरवाद को मान्यता प्रदान की। ब्रह्म-समाज ने सगुण ब्रह्मवाद को अपनाया था और राजा राममोहन राय का तत्त्वज्ञान निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद से मिलता-जुलता है, ऐसा कहा जाता है। आर्य-समाज ने ईश्वर, प्रकृति और पुरूष इन तीनों तत्त्वों को नित्य माना। स्वामी दयानन्द सरस्वती, मध्वाचार्य के द्वैतवाद से भी प्रभावित माने जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने १९वीं शती० ई० में शङ्कराचार्य की तत्त्वमीमांसा को बहुत अधिक ख्याति दी। रामकृष्ण मिशन की स्थापना १८९७ ई० में हुई। रामकृष्ण परमहंस के कार्य तथा विचारों को विवेकानन्द ने स्वदेश के अतिरिक्त विदेश में भी प्रचारित किया। स्वामी विवेकानन्द के मत को 'नव्य वेदान्त' भी कह दिया जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने १९वीं शती ई० में अद्वैतवाद को ही आगे बढ़ाया और अद्वैतवाद और समाजवाद का समन्वय किया। महर्षि रमण (१९-२०वीं शती० ई०) ने भी ईश्वर के अद्वैतवेदान्त की ही पुष्टि और आत्म साक्षात्कार को ही 'ईशदर्शन' कहा।[१९] १९वीं शती०

ई० में ही 'विचारसागर' ग्रन्थ के माध्यम से साधु निश्चलदास ने विशुद्ध तार्किक अद्वैतवाद का ही प्रचार किया।

पाल डायसन एवं मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ लिख कर प्रचीन भारतीय दर्शन को पाश्चात्य जगत् में भी मान्यता दिलवायी।[२०] वर्तमान युग के जो अन्य अनेक भारतीय दार्शनिक कहे जाते हैं, इनमें से दो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त और डॉ० राधाकृष्णन्। इन दोनों लेखकों ने ईश्वर के सम्बन्ध में अपनी कोई उल्लेखनीय मौलिक मान्यताएँ नहीं स्थापित की हैं। इन्होंने भारतीय दर्शन के अध्ययन के आधार पर उसे क्रमबद्ध ऐतिहासिक रूप में ही प्रस्तुत किया है।[२१] श्री अरविन्द चेतना के धरातलों से सम्बन्धित मौलिक मान्यताएँ स्थापित कीं। ईश्वर के सम्बन्ध में वेद, पुराण तथा उपनिषदों को उन्होंने भी आधार बनाया है। प्रोफेसर रानाडे ने परमतत्त्व को रहस्यानुभूति का विषय स्वीकार किया है किन्तु ईश्वर को उन्होंने निर्गुण, निरूपाधिक ब्रह्म के समकक्ष नहीं रखा है।[२२]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में ईश्वर के सम्बन्ध में कोई भी ऐसी मौलिक स्थापना नहीं हुई है जो अद्वैतवेदान्त द्वारा स्थापित तत्त्वचिन्तन पर फिर से विचार करने के लिये विवश कर सके।

सन्दर्भ :

१. ऋग्वेद १०/१२९/२.
२. ऋग्वेद १०/१२९/४.
३. ऋग्वेद १०/१२९/७.
४. श्वे०उप० ६/१६.
५. मु०उप० ३/१/३, श्वे०उप० ३/४.
६. श्वे०उप०, ३/७.
७. न्या०द०; वात्सा०भ०, ४/१/२१.
८. वै०सू०, २/१/१८.
९. यो०सू०, १/२४.
१०. यो०सू०, १/२५.
११. यो०सू०, १/२६.
१२. यो०सू०, १/२७.
१३. वेदा०परि० प्र०प० पृ० १०२.
१४. श्वेता०उप०, शां०भा० ६/११.
१५. कठोप०, शां०भा०, २/१/१.
१६. श्वेता०उप०, शां०भा० ६/९.
१७. ब्र०सू०, शां०भा०, १/३/२४.
१८. १८-१९वीं शती ई०
१९. उ०सा० २४, २५.
२०. पाल डायसन, आउटलाइंस ऑफ इण्डियन फिलॉसफी; मैक्समूलर, सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी।
२१. डॉ० एस०डी० गुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास; डॉ० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसफी, इण्डियन फिलॉसफी।
२२. ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी, प्रो० रानाडे।

✸

वैदिक लोक संस्कृति

स्मिता यादव*

'लोक'[१] (लोक्यतेऽसो लोक् + धञ) शब्द का अर्थ है- दुनियां, संसार, विश्व का एक प्रभाग, नरलोक[२], क्षितिपाल लोक[३], लोकापवाद[४], लोकाचार अर्थात् सामान्य प्रचलन या चलन, सामान्य प्रथा अथवा लोक व्यवहार आदि। 'लोकायत' शब्द भी इसी 'लोक' से बना है। अर्थात् यह दृश्यमान जगत ही जिसका प्रमाण है उसे ही लोकायत मतवाला अर्थात् नास्तिक अथवा चार्वाक या अनात्मवादी मत कहा गया है।[५] इस प्रकार जो कुछ भी दृष्यमान जगत के अलिखित अर्थात् परंपरागत एवं मौखिक रूप से चले आ रहे रीति-रिवाज, खान-पान, पहनावा, रहन-सहन, मौखिक आचार-विचार, पूजा, विश्वास, परंपराएं, धार्मिक एवं सामाजिक कृत्य, हस्तकला, कहावतें, मुहावरें, पहेलियां, गीत, वाद्य, नृत्य, नाटक लीला सामाजिक उत्सव-महोत्सव, मंच कला आदि बहु-आयामी पहलू हैं, वे सभी लोक संस्कृति के अंतर्गत आते हैं। यह लोक संस्कृति अलिखित होते हुए भी मौलिक है। इसमें कोई मिलावट, साज-सज्जा, अथवा परिमार्जन नहीं है। यह सहज एवं स्वाभाविक है। अंग्रेजी में इसे 'फोक्' (Folk) शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है जिसका अर्थ है- जन समूह, जन साधारण, लोक अथवा लोग आदि।[६] प्रारंभिक ऋग्वैदिक कालीन परंपराए ही आगे चल कर ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन परंपराओं के ग्रंथों में विविध रूपों में उल्लिखित हैं। प्राचीन भारतीय राज शासन व्यवस्था जिन मौखिक नियमों से चलता था, उसे 'पुराण प्रकृति' कहा जाता था जिसका उल्लेख मौर्य सम्राट अशोक के शिलालेखों में हुआ है। यही ''पुराण प्रकृति'' जो अति प्राचीन काल से चली आ रही सतत नवीकृत लोकमान्य परंपरा है वही नियामक है, राजा नहीं। यही लोक परंपरा राजा को भी नियंत्रित करती रहती थी और अपनी सीमा से बाहर जाते देख उसे भी ध्वस्त करने में नहीं चूकती थी। शास्त्रीय शब्दों में इसे व्यवहार शास्त्र भी कहा गया है। 'लोक' सामान्यत: प्रकृति जन्य होता है जिसकी व्याख्या वैदिक ऋषियों द्वारा प्रकृति पूजा द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। वही प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ है और उसके विविध तत्व, यथा-सूर्य, अग्नि, वायु, जल, जंगल, नदी, पर्वत, वृक्ष, वनस्पतियां आदि सभी किसी के आधीन रहने वाले नहीं हैं। वह तो स्वयं वरण की गयी स्वयं की सुविधा की स्वतंत्रता है। वह बहुत ही महत्वूर्ण है। इसी लिए अति प्राचीन वैदिक काल से आज तक लोक उसे बहुत सम्मान देता चला आ रहा है।

अति प्राचीन काल से ही हमारे शास्त्र देश एवं काल के साथ लोकाचार के महत्व पर बल देते चले आ रहे हैं। इसी संदर्भ में हमारे भारतीय समाज में आज भी यह चलन (परंपरा) अत्यधिक सशक्त दिखाई पड़ती है कि जो कार्य शास्त्र से शुद्ध, किन्तु लोक के विरूद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिए। व्याकरण शास्त्र में तो यहां तक कहा गया है कि लोक ही प्रमाण है।

*शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय समाज में एक अजस्र-प्रवाह के रूप में निरंतर चली आ रही सतत् परंपरा जिसके बारे में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं लोक कथाओं आदि में बराबर उद्धरण मिलते आयें हैं कि यदि मन में किसी प्रकार का संदेह हो तो अपने बीच जो सबसे वयोवृद्ध एवं अनुभवी व्यक्ति हों, उनके पास जाकर अपने संदेह का समाधान ढूंढना चाहिए। लोक की महत्ता किसी भी रूप में शास्त्रीय परंपरा से कम नहीं है। शास्त्रीय परंपरा अपनी जगह पर महत्व रखती है तो लौकिक परंपरा अपनी जगह पर। समाज में इन दोनों की आवश्यकता पड़ती रहती है। अत: ये दोनों परंपराएं अपनी जगह पर महत्व रखती हुई सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन के सामंजस्य के लिए अति आवश्यक हैं और दोनों एक-दूसरे की पूरक भी हैं। यह लोक दृष्टि तो शास्त्र के सत्य के लिए होती है जिसमें लोक की मूल भावना सम्मिलित होती है। सामाजिक जीवन की गतिमानता में इसकी अहं भूमिका होती है। इसका प्रत्यक्षीकरण इसकी सहजता एवं सामान्यता से ही हो जाती है। यही सहजता एवं सामान्यता ही इसकी सत्यता एवं विशिष्टता है जिसकी व्यापकता हम लोक संस्कृति के आलोक में देख सकते हैं।

वैदिक काल से ही हमें लोक संस्कृति के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होते चले आ रहे हैं। प्रारंभिक ऋग्वैदिक आर्यो के सांस्कृतिक जीवन में तीन मुख्य विशेषताएं देखने को मिलती है जिनमें प्रथम तो उनकी प्रकृति पूजा अर्थात् विभिन्न प्राकृतिक तत्वों (सूर्य, चन्द्र, इंद्र, वरूण, अग्नि, वायु, जल, जंगल, पर्वत, वृक्ष, वनस्पतियां, नदी, समुद्र आदि अनेक) में एक ही परम शक्ति की सत्ता मानकर उनकी देव रूप में उपासना दूसरी मौज-मस्ती और नयी किंतु मौलिक काल्पनिक विचारों की उड़ान और तीसरी विशेषता मौलिक अर्थात् लौकिक जीवन में सुख-सुविधा एवं लम्बी आयु की कामना इसमें लोक-संस्कृति की मूल भावना सम्मिलित दिखाई पड़ती है। प्रारंभिक ऋग्वैदिक आर्यो का लोक जीवन के प्रति आस्था एवं विश्वास तथा पुत्र-पौत्र, एवं पशु-धन के साथ निष्कंटक शतायु की कामना तथा प्रकृति पूजा लोक धर्म की प्रत्यक्ष मूल भित्ति दिखाई देती है। प्रारंभिक ऋग्वेद में किसी धर्म विशेष की कहीं भी कोई व्याख्या नहीं है और यदि है तो वह है प्रकृति अथवा जन सामान्य मौलिक अथवा लोक जीवन के प्रति आस्थावान एवं आशावादी धर्म जिसका मूल 'महत् तत्व' की व्याख्या में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।[७] 'महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रांतं सलिलस्य पृष्ठे' इस पंक्ति की व्याख्या में वासुदेव शरण अग्रवाल[८] ने बताया है कि प्रारंभिक अवस्था में 'ब्रह्म' के रूप में स्वीकृत किये गये देव को 'महत् तत्व' के रूप में स्वीकृत किया गया है। पुन: दूसरे चरण में 'तपसि' अर्थात् अग्नि एवं 'सलिल' जल से सम्बन्ध स्थापित कर यक्ष को लोक देव के रूप में पूजा जाने लगा। पुन: इन यक्षों का सम्बन्ध अन्य विभिन्न प्राकृतिक तत्वों, यथा-वृक्ष, पर्वत, जल आदि तत्वों से सम्बद्ध कर उनकी उपासना का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। कीथ ने यक्ष की उत्पत्ति 'यक्ष' अर्थात् यज्ञ द्वारा देवोपासना से लगाया है।[९] कुछ आधुनिक विचारकों का मानना है कि यक्ष प्रकृति की चमत्कारी शक्ति थी जो अपनी अलौकिक शक्ति सम्पन्नता के कारण पूजे जाने लगे।[१०] उनकी पहचान जंगलों एवं अन्य सून-शान स्थलों पर चलने फिरने वाले अग्नि पुंज से की गयी है जिसे भूत अथवा यक्ष कहा जाने लगा।

ऋग्वेद में यक्ष पूजा के कई साक्ष्य प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के एक मंत्र में मित्र एवं वरुण के उपासकों को यक्ष से बचने के लिए निर्देशित किया गया है।[११] एक अन्य मंत्र में आया है कि अद्भुत कर्म वाले मित्र एवं वरूण देवता के होते हुए यक्ष पूजा की कोई आवश्यकता नहीं

है।[१२] इसी ऋग्वेद[१३] में एक अन्य स्थल पर यह भी संकेत है कि अपनी वृहद सत्ता एवं शक्ति सम्पन्नता के कारण अग्नि यक्षों का अध्यक्ष होने योग्य हैं। साथ साथ अग्नि को यहां तक कहा गया है कि वह यक्ष सदन न जायें जहां कोई गूढ़ात्मा, पड़ोसी या उससे संबंधित अन्य व्यक्ति जाता हो[१४] ऋग्वेद में ही यक्ष के अद्भुद् सुंदर स्वरूप का भी चित्रण किया गया है। यहां मरूत देवों की तुलना यक्ष सदृश सुंदर यवकों से की गयी है।[१५] आगे चल कर यह कल्पना और प्रवल होती गयी जिससे संबंधित गृह्यसूत्रों में यह कहा गया है कि वैदिक विद्याश्रम में प्रविष्ट हुए छात्र को आचार्य परिषद् की दृष्टि में यक्ष के समान प्रिय बनने की कामना करनी चाहिए।[१६] आगे चलकर अथर्ववेद, रामायण, महाभारत, बौद्ध एवं जैन ग्रंथों के साथ कलाओं में यक्ष को कहीं सुंदर, सौम्य एवं सुंदर फल देने वाला तो कहीं उग्र एवं क्रूर तथा दुष्टात्मा वाला बता कर उसे लोक देवता के रूप में प्रतिस्थापित किया गया है।

लोक संस्कृति के अंतर्गत आने वाले लोक धर्म, लोक कला एवं लौकिक उत्सवों एवं महोत्सवों के प्रमाण वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, जैन एवं बौद्ध परंपराओं के ग्रंथों में भरे पड़ें हैं। इसके साथ साथ लोक संस्कृति के जीवंत रूप लोक साहित्य में कथा, गीत, मुहावरे, चुटकुले, कहानियां, कहावते आदि की भी सद्यः मौखिक एवं लिखित परंपराएं प्रारंभिक ऋग्वैदिक काल से आज तक निरंतर चली आ रही हैं। ऋग्वैदिक काल से ही यक्ष पूजा, नाग पूजा एवं वृक्ष पूजा की लोक परंपरा आज तक चली आ रही है जिसके लोक पारंपरिक प्रमाण उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में तमिल एवं पूरब में कामरुप (आसाम) से पश्चिम में सौराष्ट्र तक के विशाल भूभाग में प्रचलित है जो विविधता में एकता के द्योतक[१७] हैं। अथर्ववेद[१८] के पापमोचन सूक्त में जिन विविध देवी-देवताओं की सूची प्रस्तुत की गयी है उनमें लोक देवों के विविध स्वरूपों का भी चित्रण किया गया है जिनमें बहुसंख्यक देवी-देवताओं की पूजा परंपरा किसी न किसी रूप में आज भी लोक प्रचलित है। इन देवी-देवताओं की सूची इस प्रकार है- अग्नि, वनस्पति, औषधि, विरूद्ध, इंद्र, सूर्य, मित्र, वरूण, अंश, विवस्वान, सविता, पूषा, त्वषृा, गंधर्व, अप्सरा, अश्विन, ब्रह्मणस्पति, आर्यमा, अहोरात्र (दिन एवं रात्रि), सूर्य चन्द्रमासौ (सूर्य एवं चन्द्र)ए विश्वेआदित्य (सभी आदित्य), रात, पर्जन्य, अंतरिक्ष, दिशः, आशाः (आकाश क्षेत्र), ऊषा, सोमदेव, पशु, पक्षी, भव, सर्व, रूद्र पशुपति, नक्षत्र, दिव (स्वर्ग), भूमि, यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदी, तड़ाग (तालाब), सप्तर्षि, अपोदेवी (जल देवी), प्रजापति, पितृ, यम, देवाः दिविशदः, देवा अंतरिक्षशदः (मध्यवायु देव), पृथिवी सृतशक्र देवाः (पृथ्वी के शक्तिशाली देव, आदित्य, रूद्र, वसु, दिवि देवाः, अथर्वाणः (अथर्व के पुत्र), अंगिरसः (अंगिरा के पुत्र), यज्ञ, यजमान, ऋचः, साम गान (वृहत्, रथंतर, रैवत आदि), भेषज, यजुष, होत्र, दर्भ, अराय, राक्षस, सर्प, पुण्यजन (किन्नर), पितृ, मृत्यु, ऋतु, ऋतुपति, हायन, संवत्सर (वर्ष), मास (महीना), समाः (अर्धवार्षिक), चातुर्महाराजिकदेव (चारों दिशाओं के लोकपाल देव), विश्वे देवाः, विश्वपत्नी, सर्वदेव, सर्वपत्नी, भूत, भूतपतिः (भूतों के ईष्ट), देवीः पंचप्रदिशः (पंच आकाश क्षेत्र की देवियां), देवा द्वादशऋतवः (बारह ऋतुओं के देव) आदि। इन सभी देवी-देवताओं को आस्था एवं विश्वास के साथ पूजा जाता था। इनमें से यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत, पुण्यजन आदि को गूढ़ देवता मान कर उनकी रक्तबलि से पूजा करने का प्रचलन था।[१९] दूसरी कोटि के देवों में कालमान के देव आते हैं, यथा, मास, समा, (अर्ध वार्षिक), संवत्सर ऋतु आदि आते हैं जो वैदिक काल से ही निरंतर आस्था एवं विश्वास से पूज्य थे जिसकी पुष्टि पाणिनी की अष्टाध्यायी से भी हो जाती है।[२०] तीसरी कोटि में नक्षत्र देव आते हैं,

चौथे ऋतु देव और पांचवें भूमि, पर्वत, नदी, समुद्र, सरोवर, वृक्ष एवं वनस्पतियां आदि आते हैं। इन सभी देवों के साथ-साथ सबसे प्रमुख एवं पराक्रमी देव के रुप में इंद्र, अग्नि, मित्र, वरुण, बृहस्पति, विष्णु, भग, सविता, ऊषा, तवषा, सोम, सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों के रूप में मान्य थे। इन सभी देवों की उपासना यज्ञ के माध्यम से, बलि के माध्यम से और कुछ माहोत्सवों के माध्यम से किये जाने की परंपरा थी। ये सभी परम्पराएं वैदिक लोक संस्कृति की जन परंपराएं थी जो लोक देवों की पूजा-अर्चा एवं आस्था विश्वास के प्रमाण हैं।

सन्दर्भ :

१. वामन शिवराम आप्टे - संस्कृत हिंदी कोश।

२. रघुवंश ६/१ - 'आकृष्ट लीलान नरलोक पालान्'।

३. वही, ७/३ - 'शशामतेन क्षितिपाल लोकः'।

४. वही, १४/४ - 'लोकापवादो बलवान्यतो में'।

५. सर्व दर्शन संग्रह - प्रथम अध्याय।

६. हरदेव बाहरी - हिन्दी-अंग्रेजी कोश, पृ० ७४५.

७. ऋग्वेद ४/३/१३.

८. वासुदेव शरण अग्रवाल - Ancient Indian Folk Cults, P. 2.

९. वही, पृ० १६८.

१०. वही, पृ० १६८.

११. ऋग्वेद ७/५६/१६.

१२. वही, ५/७०/४.

१३. वही, ४/३/१३.

१४. वही, ४/३/१३.

१५. वही, ७/५६/१६.

१६. गोभिल गृह्य सूत्र, ३/४/२८.

१७. विस्तार के लिए देखिए, एस०एस० बंजारा वेदी, फोक टेल्स आफ इंडिया, नई दिल्ली १९८९.

१८. अथर्ववेद, ११/५/१-२३ पापमोचन सूक्त।

१९. वासुदेव शरण अग्रवाल - Ancient Indian Folk Cults, P. 7.

२०. अष्टाध्यायी, ४/२/३४.

ईसा पूर्व में वैदिक यज्ञ : पुरातात्त्विक साक्ष्य

सत्य प्रकाश श्रीवास्तव*, ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव**

वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञों की चर्चा की गयी है जिनका प्राचीन काल में संपादन होता था। इनमें कुछ की पुष्टि पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी होती है। इस संदर्भ में ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण लगभ पहली शताब्दी ई०पू० का राजस्थान में घोलुण्डी से प्राप्त अभिलेख[१] उल्लेखनीय है -

कारितौ अयं राज्ञा भागवतेन

गाजायनेन पाराशरी पुत्रेण।

सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना

भगवद्भ्यां सङ्कर्षणवासुदेवाभ्यां।

अतिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां

पूजाशिला प्राकारो नारायणवाटिका।

इस अभिलेख में सर्वातात नामक शासक को 'अश्वमेधयाजी बताया गया है। उसने अपनी विजय आदि के उपलक्ष्य में अश्वमेध संपन्न किया होगा, परन्तु इसके बारे में स्वयं यह अभिलेख एवं अन्य स्त्रोत मौन हैं। इस अभिलेख में भागवत धर्म को मानने वाले गाजायनी पाराशरीपुत्र सर्वतात के द्वारा सङ्कर्षण और वासुदेव के लिये पूजा-शिला, प्राकार (वेदिका) तथा नारायणवाटिका की स्थापना की भी चर्चा की गयी है जिसके पूर्व उसने अश्वमेध (यज्ञ) किया था। इस अभिलेख से इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि पहली शताब्दी ई०पू० (अभिलेख-काल) के बहुत पहले से ही सङ्कर्षण और वासुदेव की पूजा विधि-विधान तथा विष्णु और उनके अवतार श्री कृष्ण का सम्बन्ध नारायण के साथ पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था। इस संदर्भ में दूसरी शताब्दी ई०पू० के हेलियोडोरस के भागभद्र कालीन वेसनगर (विदिशा) गरुड़-स्तम्भलेख[२] का उल्लेख किया जा सकता है जिसके अनुसार यवन शासक अन्तलिकित के राजदूत हेलियोडोरस ने विदिशा में देवाधिदेव वासुदेव के सम्मान में गरुड़ध्वज स्थापित किया था। यह हेलियोडोर निश्चित रूप से विदिशा आने से पूर्व भागवत धर्म से प्रभावित था जिसके फलस्वरूप उसने अपने पूर्वजों (पिता-दियस) के नाम के साथ अभिलेख उत्कीर्ण कराया। इण्डोग्रीक शासक अगाथोक्लीज ने भी अपने चाँदी के सिक्कों[३] पर चक्र के साथ वासुदेव श्री कृष्ण तथा हल एवं मूसल के सङ्कर्षण (बलराम) का अङ्कन कराया था।

*प्रवक्ता, संस्कृत राजकीय महाविद्यालय, धानापुर (चन्दौली)

** ३४७/४, टाइप-४, राज्य शिक्षा संस्थान परिसर, एलनगंज, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत झाँसी जिले में स्थित बेतवा (वेत्रवती) नदी के दायें तट पर स्थित एरच (प्राचीन एरिकछ) से भी लगभग पहली शताब्दी ई०पू० के कुछ इष्टिकाभिलेख[४] प्राप्त हुए हैं जिनमें ब्राह्मी लिपि में 'रजो बंबकिस दाममितस पोंडरीक' अङ्किक है। पुण्डरीक यज्ञ ऋद्धि प्राप्त करने हेतु सम्पादिक किया जाता है[५] -

पौण्डरीकमृद्धिकामः। पृष्ठ्यस्तोमश्छन्दोमा गोतमस्तोमो विश्वजिद्व्यूहको नवरात्रो महाव्रतं वैश्वानर इति वा। उभयथा पौण्डरीको भवति।

महाभारत[६] के अनुसार अश्वमेध, राजसूय, पुण्डरीक एवं गौसव - महायज्ञों द्वारा इष्ट सिद्ध किया जाता है। प्रभूत दक्षिणा देने वाले इन यज्ञों को सम्पन्न कराते हैं -

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोथ गोसवः।

एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः॥

एरच के इस शासक दायमित्र ने अपने किसी विजय आदि के उपलक्ष्य में अश्वमेध भी सम्पादित किया था, जिसकी सूचना उसके मूसानगर इष्टिकाभिलेख[७] से प्राप्त होती है। इस अभिलेख में भी दायमित्र को बैम्बिक वंशीय तथा उसकी माता का नाम 'अश्ववतायनी' बताया गया है -

'बंबके अश्ववतायनीपुतस दाममितस अश्वमेध।'

इस संदर्भ में धनदेव के अयोध्या अभिलेख[८] -

''कोसलाधिपेन द्विरश्वमेध याजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य'' की भी चर्चा आवश्यक है जिसमें सेनापति पुष्यमित्र को दो अश्वमेधों का कर्त्ता बताया गया है। उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार दूसरी शताब्दी ई० का रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख[९] ईसा पूर्व चौथी एवं तीसरी शताब्दी के क्रमशः चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रिय पुष्यगुप्त तथा अशोक के लिए यवनशासक तुषास्फ के कार्यों की चर्चा करता है, ठीक उसी प्रकार पहली शताब्दी ई० का धनदेव का अयोध्या अभिलेख ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी ई० में पुष्यमित्र द्वारा सम्पादित अश्वमेधों का उल्लेख करता है। इस प्रकार धनदेव के इस अभिलेखीय साक्ष्य से साहित्य से ज्ञात पुष्यमित्र के दो अश्वमेधों की पुष्टि होती है।

पुनः उल्लेखनीय है कि एरच से एक अन्य इष्टिका अभिलेख[१०] प्राप्त हुआ है जो प्रारम्भ और अन्त में भी खण्डित है -

...... मेध सर्वमेध या (जिनः)

संभवतः खण्डित होने के कारण इस अभिलेख में यज्ञकर्त्ता का नाम प्राप्त नहीं होता है। इसमें 'सर्वमेध' के पूर्व भी 'मेध' शब्द उत्कीर्ण है जो किसी यज्ञ का शेषांश है। 'सर्वमेध' स्वयं में सबसे बड़ा यज्ञ है जो सभी प्रकार की इच्छापूर्ति के निमित्त संपादित किया जाता है[११]-

''सर्वमेधो दसरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति ...... यज्ञक्रतूनां यत्सर्वमेधः परमेणैवैनं परमतं गमयति ...... सर्वं सर्वमेधः सर्वस्याप्त्यैः सर्वस्यावरुध्यै''

अत: एरच से प्राप्त होने वाले इष्टिकाभिलेखों से पता चलता है कि ईसा पूर्व में यहाँ के शासक वैदिक धर्म के अनुयायी थे और उसकी उन्नति तथा यज्ञादि क्रिया-कलापों में भी रुचि रखते थे। यही कारण है कि यहाँ से प्राप्त अभिलेख पुण्डरीक और सर्वमेध आदि यज्ञों के सबसे प्राचीन अभिलेखीय साक्ष्य हैं।

इस संदर्भ में एरच का नगर सिक्का[१२] भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिस पर लगभग तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में 'एरिकछ' उत्कीर्णन के साथ इन्द्रध्वज एवं सुसज्जित अश्व का भी अङ्कन है जो तत्कालीन अश्वमेध (यज्ञ) की याद दिलाता है। इस प्रकार इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों से ईसा पूर्व में वैदिक यज्ञों की परम्परा की पुष्टि होती है।

सन्दर्भ :

१. सरकार, डी०सी० : सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, जिल्द १, १९४२, पृ० ९१-९२.

२. वही, पृ० ९०-९१.

३. शर्मा, आर०सी० : श्री कृष्ण सम्बन्धी आरम्भिक पुरासाक्ष्य, भारतीय संस्कृति में श्री कृष्ण, मथुरा, १९८७, पृ० ९-१० एवं फलक।

४. श्रीवास्तव ओम प्रकाश लाल : आर्कियोलॉजी आफ एरच : डिस्कवरी आफ न्यू डाइनेस्टीज, सुलभ प्रकाशन, वाराणसी, १९९१, पृ० ७.

५. आश्वलायन श्रौतसूत्र, उत्तराष्टक ४.४.

६. महाभारत, वनपर्व, ३०.१७.

७. श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल : दायमित्र ऑफ एरच एण्ड मूसानगर ब्रिक इन्स्क्रिप्शन्स, जर्नल आफ इपिग्रैफिकल सोसाइटी आफ इण्डिया, १९९२, पृ० ९७-९९.

८. सरकार, डी०सी० सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ९६.

९. मौर्यस्य राज्ञ: चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेन - सरकार, डी०सी० सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १७१.

१०. श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल : आर्कियोलॉजी आफ एरच : डिस्कवरी ऑफ न्यू डाइनेस्टीज, पृ० ७; अर्ली इपिग्रैफिकल इविडेन्स आर्फ सर्वमेध यज्ञ फ्राम एरच, जर्नल आफ द नेशनल रिसर्च इन्स्टीच्यूट आफ ह्यूमैन कल्चर (संस्कृति संधान) जिल्द १०-१११, पृ० २२५-२२६.

११. शतपथ ब्राह्मण १३.७.१-५.

१२. श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल : टू टाइप्स आफ सिटी क्यायन्स आफ एरिकछ, न्यूमिस्मैटिक डाइजेस्ट, जिल्द २१-२२ (१९९७-९८) पृ० १-३.



रञो बंबकिस दाममितस पोंडरीक



मेध सर्वमेध या (जिनः)



मेध सर्वमेध या (जिनः)



एरच (एरिकछ) का नगर-सिक्का

ईसा पूर्व में वैदिक यज्ञः पुरातात्त्विक साक्ष्य

✵

वैदिक साहित्य का वैशिष्ट्य तथा प्रसार

शैलेन्द्र तिवारी*

वेद मानव मस्तिष्क की सर्वप्रथम रचनायें हैं[1] और इसे भारतीय धर्म एवं संस्कृति का मूल उत्स माना गया गया है। वेद शब्द का व्याकरण निष्पन्न शास्त्रीय अर्थ **''ज्ञान''** है और यह चार धातुओं से निष्पन्न होता है-विद्-ज्ञाने, विद्-सत्तायाम्, विद्ल-लाभे और विद्-विचारणे[2] - जिनसे मनुष्य सत्य विद्या को जानते है अथवा प्राप्त करते हैं अथवा विचारते हैं अथवा विद्वान होते हैं अथवा सत्य विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं। अतएव वेद का अर्थ अत्यन्त व्यापक हो जाता है। इस व्यापक अर्थ को ध्यान में रखकर ही वेद की परिभाषा दी गयी है - धर्मादिपुरूषार्थ जिनमें हैं, जिससे ज्ञात होते हैं तथा जिससे प्राप्त होते हैं वे वेद हैं।[3] वेद शब्द से किसी एक साहित्यिक कृति का तात्पर्य नहीं है,[4] जैसा कुरान, बाइबिल या त्रिपिटक आदि शब्दों से संकेतिक होता है।[5] यह दो हजार वर्षों के सुदीर्घ काल तक विस्तृत साहित्य का बोधक शब्द है। मनु स्मृति वेदों को **श्रुति** कहती है।[6] यह साहित्य अनेक सदियों के क्रम में रचित हुआ और सदियों तक मौखिक रूप में एक पीढी से दूसरी पीढी तक हस्तान्तरित होता रहा है। इस तरह इसे गुरू-शिष्य (श्रवण मनन) परम्परा द्वारा ही बहुत दिनों तक संरक्षित रखा गया।[7] वेदों को **निगम** भी कहते हैं। निगम का अर्थ है- अर्थ बोधक या सार्थक। इस तरह साभिप्राय सुसंगत और उत्तम अर्थ बताने के कारण वेदों को निगम कहा जाता है। कुछ प्राचीन वेदार्थ विचारकों के अनुसार वेद तीन हैं[8] - ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद। कालान्तर में अथर्ववेद को चतुर्थ वेद के रूप में मान्यता दी गयी है किन्तु यह परम्परा के सर्वथा विपरीत है। भारतीय आचार्यों ने रचना भेद की दृष्टि से वेद चतुष्टयी का त्रित्व में अन्तर्भाव कर उसे लक्षित किया है।[9] वेद को त्रयी संज्ञा विधान मंत्रों की उपयोगिता की अपेक्षा मंत्रों के स्वरूप के ऊपर अवलम्बित है। 'ऋच्' प्रार्थना या स्तुति का पर्यायवाची शब्द है। उसकी व्याकरण-संमत व्युत्पत्ति है- ऐसे मंत्र, जो वैदिक देवताओं की स्तुति या प्रार्थना से सम्बन्धित हैं, उन्हें 'ऋच' कहते हैं। वेद-मंत्रों के इस 'ऋच' नामक प्रथम वर्ग में ऐसे मंत्रों को विभाजित किया गया, जो प्रार्थनापरक या स्तुतिपरक थे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि वेद-मंत्र गद्य और पद्य दोनो में हैं। इस प्रथम 'ऋच' वर्ग में केवल पद्यबद्ध ऋचायें हैं। मन्त्र का दूसरा नाम ऋचा है। छन्दोबद्ध मंत्रों को ऋक् अथवा ऋचा कहते हैं; मन्त्र शब्द का अर्थ गुप्तकथन है। संहिता संग्रह को कहते हैं। इसलिए 'ऋग्वेद-संहित' का शाब्दिक अर्थ हुआ उस देव-विषयक अति गूढ़ ज्ञान का प्रतिपादन जो छन्दों में संगृहित है।

'यजुष्' नाम के दूसरे वर्ग में ऐसे मन्त्रों को क्रमबद्ध किया गया, जिनका अपना अलग विषय था। इन मंत्रों का विषय पूजा था। 'यजुष्' की व्याकरणसंमत व्याख्या है- जिन मंत्रों में पूजा-अर्चना का विधान वर्णित है उन्हें 'यजुष्' कहते हैं। जिस प्रकार प्रथम ऋच्-वर्ग मे केवल

* *शोध छात्र, इतिहास विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी*

पद्यात्मक मन्त्र ही संगृहीत हैं, उसी प्रकार दूसरे यजुष वर्ग में केवल गद्यात्मक मंत्र ही संकलित है। उक्त दो वर्गों में जिन मन्त्रों का अन्तर्भाव न हो सका उन अवशिष्ट मन्त्रों को 'सामन्' नामक तीसरे वर्ग में क्रमबद्ध किया गया। 'सामन्' वर्ग के अन्तर्गत वे मन्त्र संगृहीत हैं जिनको ऋषिजन यज्ञों के अवसर पर देवताओं की प्रसन्नता के लिए गाते थे। इनमें कुछ मन्त्र यज्ञ के निर्विघ्न-परिसमाप्ति से भी सम्बन्धित हैं। व्याकरण के अनुसार 'सामन्' शब्द की व्युत्पत्ति विघ्न-शांति और देव-तुष्टि दोनो अर्थों में है; अर्थात् सामन्-मंत्र वे है जो यज्ञों के समय प्रत्यूह- निवारण के लिए गाये जाते हैं या जिनमें देवों की प्रसन्नता के लिए कामना की गई होती है। ये सामन् मंत्र स्वर-ताल बद्ध होने के कारण गेयात्मक हैं।[१०]

अत: पाद से युक्त छन्दोबद्ध मंत्रों की संज्ञा 'ऋक्' है। ऋचाओं के गायन को 'साम' कहते है तथा इन दोनो से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को 'यजु:' के नाम से पुकारते है। इस प्रकार वेद ऋक्, यजु: तथा साम रूप में विभक्त होने के कारण 'त्रयी' कहलाते हैं।[११] ये तीनों नाम रूप और भाषा में ही नही अपितु अपने विषयवस्तु में एकमत है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार वेद चार है[१२] - १. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद। कुछ मंत्र ऐसे भी अवशिष्ट थे, जो उक्त 'त्रयी' में समन्वित नहीं हो सकते थे, वे मंत्र मारन, मोहन, उच्चाटन विषयक थे। ऐसे मंत्रों का अभिधान 'अथर्व' हुआ और बाद में वेदों की संख्या तीन के जगह चार हो गयी। वैदिक युग में 'वेद' शब्द **वाङ्मय** के अर्थ में प्रयुक्त होता था और इसके अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों तक का समावेश किया गया : मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् - अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण दोनो का नाम वेद है (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र)।[१३] जैमिनी के अनुसार आर्यो का प्राचीन साहित्य वेद, मंत्र और ब्राह्मण दो भागों में विभक्त है।[१४] यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनो वेद कहलाये, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ मंत्रों के व्याख्यान रूप थे, अत: उनका स्थान मन्त्रों के बाद में आता है।[१५] ब्राह्मण ग्रन्थ व्याख्या ग्रन्थ होने की वजह से मन्त्रों पर सर्वथा आधारित है। उनका अपना वैसा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है जैसा कि मंत्रों का है। अत: वेद नाम से मन्त्र अभिप्रेत है, न कि ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ जो कि मन्त्रों की व्याख्याएँ एवं उनके महत्व को प्रतिपादित करते हैं।[१६] मंत्रों, ऋचाओं अथवा सूक्तों के संग्रह को संहिता कहते हैं। ऋग्, यजु:, साम, अथर्व की अपनी-अपनी मंत्र संहितायें हैं। 'मननात् मन्त्रा:'- जिसके द्वारा यज्ञयागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा उनमें उल्लिखित देवताओं का स्तुतिविधान किया जाता है उन्हें मंत्र नाम से पुकारते हैं। 'ब्राह्मण' का अभिप्राय ग्रन्थ विशेष है। ब्रह्मन् का एक अर्थ 'यज्ञ' है। 'बृह-वर्धने' धातु से निष्पन्न इस शब्द का अर्थ है- वर्धन, विस्तार या यज्ञ। अत: यज्ञ के विविध क्रियाओं को बताने वाले ग्रन्थों को ब्राह्मण संज्ञा दी गयी है। इसमें उपदेश एवं धार्मिक कर्तव्यों का विधान है। आरण्यक एवं उपनिषद् ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं और आरण्यकों का स्थान ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच है जिसमें दार्शनिक समस्याओं की विवेचना की गयी है।[१७] इस तरह ब्राह्मण के तीन भाग हैं- ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। लेकिन अनेक आरम्भिक उपनिषद ही इसमें सम्मलित होते हैं। निष्कर्षत: कह सकते हैं कि विशाल वैदिक वाङ्मय के चार भाग निर्धारित किये गये है - संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्।

सन्दर्भ :

१. डा० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-१, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९९८ ई०, पृ० ५०।

२. वेदकथा , गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०६१, पृ० २१५-१६।
३. विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिधर्मादिपुरूषार्था इति वेदः, वेदकथा , गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० २३०।
४. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९१, पृ० २६।
५. एम० विंटरनित्ज, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर भाग-१, कल्कत्ता, यूनिवर्सिटी प्रेस, कल्कत्ता, १९५९ ई०, पृ० ४५।
६. श्रुतिस्तु वेदों विज्ञेयः
७. एम० विंटरनित्ज, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग-१, कल्कत्ता, यूनिवर्सिटी प्रेस, कल्कत्ता, १९५९ ई०, पृ० ४५।
८. सैषा त्ररयेव विद्या तपंति, श०ब्रा०, १०/०३/६/२; त्रयी वै विद्या, श०ब्रा०, ४/६/७/१, इति वेदास्त्रयस्त्रयी
९. वेदकथा , गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०६१, पृ० १५६
१०. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९१, पृ० २८-२९
११. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, वाराणसी, १९९६ ई०, पृ० २८-२९
१२. मुण्डकोपनिषद्, १/१/५, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०६०।
१३. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९१, पृ० २०, २५, २७।
१४. राहुल सांस्कृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १९९८ ई०, पृ० २६२।
१५. "यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः तथापि ब्राह्मणस्य मंत्रव्याख्यान स्वरूपत्वात् मन्त्रा एवादौ समाम्नाताः", सायणाचार्य तैत्तरीय संहिता की भाष्य भूमिका।
१६. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९१, पृ० २५।
१७. डा० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-१, १९९८ ई० पृ० ५१।

❋

ऋग्वैदिक कालीन – स्त्री पद

सिद्धार्थ सिंह*

वैदिक साहित्य में स्त्री से सम्बन्धित उल्लेखों का यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्टतया ज्ञात होगा कि तत्कालीन सामाजिक जीवन में उसका स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था। उसके तीन प्रकार के उत्तरदायित्वों को ध्यान में रखकर उसके लिए तीन पद निर्धारित किये गयेथे, जैसे गृहणीपद, मातृपद व सहचरीपद। ये तीन पद उसके पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित थे तथा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थे। किन्तु इनके अतिरिक्त उसे अधिकार था कि वह आत्मविकास के पथ में अग्रसर होकर व नागरिकता के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए सांस्कृतिक विकास द्वारा समाज की सेवा में भी सहभागी बनें।

गृहणीपद :–

परिवार के सदस्य घर में रहकर जो कुछ करते हैं या उनके लिए जो कुछ किया जाता है वह सब परिवार के आन्तरिक जीवन में समाविष्ट हो जाता है। स्त्री व पुरुष के विवाह–बन्धन में बँधकर एक साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का प्रारंभ होता है। ज्यों–ज्यों सन्तान–वृद्धि होती है या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है त्यों–त्यों परिवार का आन्तरिक जीवन भी विकसित होने लगता है। इस जीवन का सम्बन्ध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है। उसे ही परिवार के छोटे–बड़े सब सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती है। उसे अपने घर को अच्छी तरह से साफ–सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना तथा अतिथि के यथा–योग्य सत्कार आदि की जिम्मेदारियों को पूरा करना पड़ता था। उसे अपनी सन्तान का पालन–पोषण कर उन्हें योग्य नागरिक व समाज सेवक बनाने का उत्तरदायित्व भी उठाना पड़ता था। इस प्रकार इन सब घरेलू बातों की जिम्मेदारी स्त्री पर रहती थी। इसलिए उसे गृहिणी के पद पर सुशोभित किया गया था। प्राचीन कालीन सामाजिक जीवन में गृहिणीपद अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था, क्योंकि उस समय का पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था। इसलिए साधारणतया स्त्री को कपड़ा बुनना, गाय दुहना व कृषि सम्बन्धी बहुत से कामों की देखभाल आदि की जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ती थीं। इस प्रकार वह गृह के आन्तरिक जीवन की शासनकत्री थी।

ऋग्वेद में स्त्री के गृहिणीपद का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। "जायेदस्त"[1] (स्त्री ही घर है) शब्दों द्वारा समझाया गया है कि स्त्री ही गृह है। गृह का

प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर

उत्तरदायित्व स्त्री पर रहता था। उसी के कारण गृह शोभायमान रहता था। ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्द्र के सुखी गृह का उल्लेख है जिसमें अच्छी सुन्दर प्रेयसी का प्रभुत्व स्थापित था और जहाँ पर उसके माधुर्य्यपूर्ण शब्द व बालकों का आनन्दमय हास्य गुंजायमान होते थे। इन्द्र को सम्बोधित करता हुआ ऋषि कहता है– "हे इन्द्र, तुमने सोमपान किया है, अब तुम अपने घर जाओ, जहाँ तुम्हारी कल्याणकारी पत्नी है, जो आनन्द का भण्डार है।"[2] इन शब्दों में ऋग्वेद–कालीन आर्यों के पारिवारिक जीवन का सौख्य का सुन्दर चित्रण किय गया है। पत्नी गृहिणी की हैसियत से पति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। अपने पति को प्रसन्न करने के लिए वह सुन्दर वस्त्र धारण करती थी[3] वे सदैव प्रसन्नचित्त रहती थी।[4] उसे प्रातःकाल जल्दी उठना पड़ता था तथा परिवार के सदस्यों को जगाना पड़ता था व नौकरों को अपने–अपने काम में लगाना पड़ता था।[5] वह भी घरेलू कामों में जल्दी से लग जाती थी, जल्दी से स्नान करके पति के साथ गार्हपत्याग्नि में प्रातः आहुतियाँ देती थी। इसी प्रकार मध्याह्न व सायं आहुतियाँ प्रदान की जाती थी।[6] उसका सर्वप्रथम पवित्र कर्तव्य गार्हपत्याग्नि की व्यवस्था करना था। गायों के दुहे जाने पर दूध लाया जाता था, जिसे वह आने पर गरम करती थी। पश्चात् मंथन आदि के द्वारा वह मक्खन निकालती थी, तथा भोजन बनाती थी। भोजन इत्यादि के पश्चात उसे बच्चों की देखभाल, नौकरी के काम की व्यवस्था करना तथा गाय आदि मवेशियों पर दृष्टि रखनी पड़ती थी।

ऋग्वेद[7] से सूर्या–सावित्री के विवाह के वर्णन के अवसर पर स्त्री के गृहिणोपद का सुन्दरविवेचन किया गया हैं उक्त प्रकरण में नवविवाहिता वधू को कहा गया है कि "अपने घर में प्रवेश करो, और गृहपत्नी (गृहिणी) बनकर सब पर शासन करो।[8] "सन्तान द्वारा तुम्हें समृद्धि प्राप्त होवे तथा इस घर मं गार्हपत्य के प्रति तुम सदैव जागरूक रहो।[9] "गार्हपत्याय जागृहि" शब्दों में स्त्री के गृहिणीपद से सम्बन्धित कर्तव्यों का उल्लेख है। गार्हपत्याग्नि पारिवारिक जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का केन्द्र थी और गार्हपत्य शब्द में उन्हीं सब प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। स्त्री को गृहिणी की हैसियत से गार्हपत्याग्नि से सम्बन्धित सब कार्यों का संचालन करना पड़ता था और पति के साथ सब धार्मिक कृत्यों व कर्तव्यों को पूरा करना पड़ता था। इस प्रकार स्त्री व पुरूष दोनों का स्थान बराबरी का हो जाता था। इसी मन्तव्य को उक्त प्रकरण के एक अन्य मन्त्र[10] में भी समझाया गया है। पति अपनी नवविवाहिता पत्नी से कहा है–"भग अर्यमा, सविता आदि देवताओं ने तुम्हें गार्हपत्य के लिए मुझे प्रदान किया है।" यहाँ भी 'गार्हपत्य' शब्द गृहिणी के धार्मिक आदि कर्तव्यों का द्योतक है। उक्त प्रकरण में आगे चलकर गृहिणी के गौरवपूर्ण पद का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। नवविवाहिता पत्नी को कहा गया है कि "हे मंगल प्रदान करने वाली पति–लोक में प्रवेश करो, द्विपद (मानव) व चतुष्पद (चौपाये) सबके लिए कल्याणकारी बनो।"[11] "इस घर में तुम अच्छे विचार धारण करने वाली तथा तेजयुक्त बनकर पशुओं के लिए कल्याणकारी बनो।"[12] संयुक्त परिवार प्रथा में नवविवाहिता पत्नी के गौरवपूर्ण गृहिणी–पद का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। उपरोक्त प्रकरण में नवविवाहिता वधू से कहा गया है कि "अपने श्वसुर के लिए शासन करने वाली बनो, सास के लिए शासन करने वाली बनो, ननद और देवरों के लिए भी शासन करने वाली बनो।[13] इन

शब्दों में दर्शाया गया है कि नवविवाहिता वधू अपने ससुराल में महारानी बनकर रहती थी व गार्हस्थ्य जीवन के संचालन–सूत्र अपने हाथ में रखती थी।

ऋग्वेद के उपरोक्त उद्धरणों में स्त्री के गृहिणीपद का सुन्दर विवेचन किया गया है। संयुक्त परिवार में रहते हुए भी परिवार में उसका वर्चस्व रहता था। सास, ससुर, ननद आदि के रहते हुए भी गार्हस्थ्य जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन उसके हाथों में रहता था। अपने पति की सहधर्मिणी होकर वह समस्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करती थी।

ऋग्वेदादि संहिता ग्रन्थों में कितने ही स्थलों पर स्त्री के मातृत्व पद का सुन्दर विवेचन किया गया है। ऋग्वेद में पारिवारिक सौख्य में वृद्धि करने वाले बालकों का उल्लेख आता है। उषा के वर्णन के अवसर पर कहा गया है कि "पुत्र जिस प्रकार माता के देदीप्य–मान सुख की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार हम भी तुम्हारी ओर आकर्षित होते हैं।"[14] एक और स्थान पर आकाश में खेलवाड़ करते हुए बादलों की उपमा बालकों से दी गयी है : "आकाश में स्थित बादल क्रीड़ा कर रहे हैं जिस प्रकार भव्य प्रासाद की छत पर सुन्दर बालक क्रीड़ा में मग्न रहते हैं।"[15] एक अन्य स्थल पर विश्वदेवाः की स्तुति में कहा गया है कि "जिस प्रकार पुत्र अपनी माता की गोद में आकर प्रेमपूर्वक बैठ जाते हैं, उसी प्रकार विश्वेदेवाः भी प्रेमपूर्वक यज्ञस्थली में आकर आसन पर बैठ जायँ"[16]

सूर्या–सावित्री के विवाह के प्रकरण में भी स्त्री के मातृपद कां सुन्दर विवेचन किया गया है। पति अपनी नवविवाहित पत्नी के बारे में कहता है– "अग्नि ने मुझे यह पत्नी, पुत्र, धन आदि प्रदान किये हैं।"[17] उक्त प्रकरण में वर–वधू को सम्बोधित करके कहा गया है, "यहीं पर सांसारिक वैभवो का उपभोग करो, अपने घर में अपने पुत्रों–पौत्रों आदि के साथ खेलते हुए व आनन्द मनाते हुए जीवन यापन करो।"[18] पति पुनः कहता है, "प्रजापति हमें सन्तान प्रदान करे व आजीवन हमें एक साथ रखें। अर्यमा ने यह कल्याणकारी पत्नी प्रदान की है।"[19] पत्नी को 'वीरस्' अर्थात वीरसन्तान को जन्म देने वाली बनने के लिए कहा गया है।[20] पुनः इन्द्र से प्रार्थना की गई है– "हे इन्द्र, इस नवविवाहित पत्नी को अच्छे पुत्रवाली तथा सौभाग्यवाली बनाओ। इसे दस पुत्र प्रदान करो।"[21] इन उद्धरणों में स्त्री के मातृपद का सुन्दर विवेचन किया गया है। वैदिक युग में पुत्रप्राप्ति को महत्वपूर्ण समझा गया था। वैदिक साहित्य में, विशेषतः ऋग्वेद[22] में स्थान–स्थान पर पुत्रों का उल्लेख है तथा पुत्रप्राप्ति की आकांक्षा दर्शाई गई है।

सहचरी का पद :–

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्री को पति की सहचरी का पद भी प्राप्त था। ऋग्वेदादि संहिताओं में कितने ही स्थलों पर पत्नी के साहचर्य्य का उल्लेख आता है। वैदिक युग के दैनिक जीवन में धार्मिक कृत्यों का कितना महत्व था यह स्पष्ट है। गृहपति कोई भी धार्मिक कार्य पत्नी के साहचर्य्य के बिना कर ही नहीं सकता था। ऋग्वेद के वैवाहिक मन्त्रों में स्पष्टतया कहा गया है

कि वर वधू का पाणि–ग्रहण 'सौभगत्व' अर्थात् सुख, समृद्धि, आनन्दादियुक्त जीवन का उपभोग करने के लिए तथा 'गार्हपत्य' अर्थात् गृहस्थाथम के सब कर्तव्यों का निर्वाह साथ–साथ करने के लिए करता है। वहाँ यह भी अच्छा दर्शाई गई है कि दोनों का साहचर्य्य आजीवन बना रहे[23] इस आजीवन साहचर्य्य का सुन्दर विवेचन इन शब्दों में किया गया है– "यहाँ (पतिगृह में) रहकर हम दोनों (पति पत्नी) एक साथ आजीवन सुख का उपभोग करते हुए पुत्रों व पात्रों के साथ खेलें व आनन्द मनावें।"[24] अन्त में कहा गया है कि "विश्वेदेवाः हम दोनों (पति पत्नी) को एक करे, हम दोनों के हृदयों को प्रीति से जोड़ दें।"[25]

वैदिक युग में यह माना गया था कि पारिवारिक जीवन का सौख्य व आनन्द पति पत्नी के सौमनस्य पर ही आधारित है और वह सौमनस्य जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करता है। ऋग्वेद[26] में पति–पत्नी के साहचर्य्य का उल्लेख करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि "जो पति–पत्नी सौमनस्य के साथ देवताओं को सोमरस प्रदान करते हैं वे पुत्र पुत्रादि प्राप्त कर ऐश्वर्यशाली बन सम्पूर्ण जीवन का उपभोग करते हैं।"

तत्कालीन ऋग्वैदिक स्त्री का समाज ने जो पद निर्धारित किया था वह कितना महत्वपूर्ण, था यदि उसकी तुलना हम आज के समाज से करें तो कह सकते हैं कि घरेलू हिंसा निरोधक कानून सम्पत्ति, अधिकार अधिनियम, दहेज अधिनियम बनाकर आज का समाज उसी ऋग्वैदिक कालीन स्त्री पद या आदर्श स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। जो लगभग तीन चार हजार वर्ष पूर्व ऋग्वैदिक कालीन समाज ने प्राप्त किया था। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या कानून बनाने मात्र से ही स्त्री को सम्मान जनक पद प्राप्त हो सकता है? जबकि आज की पूंजीवादी बाजार की शक्तियां और यह उपभोक्तावादी समाज स्त्री को उपभोग की वस्तु बनाने पर तुला हुआ है।

सन्दर्भ :

1. ऋग्वेद 3 |53 |4, "जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदितवा युक्ता हरयो वहन्तु।"
2 ऋग्वेद 3 |53 |31 "अपाः सोमममतमिन्द्र प्रयादि कल्याणोजयि सुरर्ण गृहते।"
3. ऋग्वेद 1 |122 |2ः "पत्नीव पूर्वहनि बाबूवह उपासानक्ता पुरूधा विदाने। स्तरीर्नत्यं व्यतुं वसाना सूर्यस्य थिया सुटर्शी हिरण्यैः।।"
4. ऋ0 4 |58 |8ः "अभि प्रवन्त समनेय योपाः कल्याणः स्मयमानासो अग्निम्।"
5. ऋ01 |124 |4
6. ऋग्वेद 1 |173 |2, 5 |43 |15, 8 |1 |29, 8 |13 |13
7. ऋग्वेद 10 |85 |1–47
8. ऋग्वेद 10 |85 |25, "गृहान्गच्छ गृहपत्नी ययति वशिनी त्वं विदथ मा वदासि।।
9. ऋ0 10 |25 |27ः, "इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मित्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।"

10. ऋग्वेद 10 |85 |36: "भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्महां स्वादुर्गाहंपत्याय देवाः।"
11. ऋग्वेद 10 |85 |43:,
12. ऋग्वेद 10 |85 |44:
13. ऋग्वेद 10 |85 |46: "सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वध्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवुपु।"
14. ऋग्वेद 7 |81 |4 : "तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वर्यस्याम मातुर्नसूनवः।।"
15. ऋग्वेद 7 |56 |16: "ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीड़ितः पयोधाः"।।
16. ऋग्वेद 7 |43 |3: आपुवासो न मातरं विभूषाः सानौ देवासी बर्हिषः सदन्तु।"
17. ऋग्वेद 10 |85 |41 : "रयिं च पुत्रांत्रादादग्निमह्यमयो इमाम्।।"
18. ऋ0 10 |85 |42: "इहैव स्तं मा वि यौप्टं विश्वमायुर्व्येश्नुतम्। क्रीड़न्तो पुत्रैनंपतृभिमोंदमानो स्वे गृहे।"
19. ऋ0 10 |85 |43:,
20. ऋ0 10 |85 |44:,
21. ऋ0 10 |85 |45, "इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।"
22. ऋग्वेद 7 |1 |11 12, 24, 7 |4 |10, 7 |24 |5, 8 |1 |13
23. ऋग्वेद, 10 |85 |36:, "गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टि–यंथासः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिमह्यं त्वादुर्गाहिपत्याय देवाः।"
24. ऋग्वेद 10 |85 |42,
25. ऋ0 10 |85 |47, "समअन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्या सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।"
26. ऋग्वेद 8 |31 |5–9,

✸

वैदिक वाङ्मय में योग की अवधारणा

राजकुमार गुप्त*

वैदिक संस्कृति भारतीय आचार–विचार का मूल स्रोत है। इसके अन्तर्गत भारतीय विचारधारा और उसके अनुरूप आचरण दोनों ही सन्निविष्ट हैं। प्रायः भारतीय जीवन दर्शन में पंचभूतों से निष्पन्न शरीर के अन्तर्गत एक आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है जो अजर, अमर और शाश्वत है। इसी आत्मा के प्रति कर्त्तव्यों को भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान दिया गया है। उन कर्त्तव्यों को, जिनसे आत्मा उन्नत हो धर्म कहा गया है। वस्तुतः धर्म का अर्थ ही है जो उन्नति की ओर ले जाय और इस उन्नति का आशय आत्मा की उन्नति से है। भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक रही है जिसमें आत्मा के साथ–साथ परमात्मा की भी अवधारणा को महिमामण्डित किया गया है। इस प्रकार शरीर, आत्मा और परमात्मा विषयक अवधारणा भारतीय संस्कृति का प्राण है।

भारतवर्ष में कोई भी शास्त्र योग के बिना अपूर्ण माना गया है। भारत के सभी धर्म, दर्शन, विज्ञान के सभी क्षेत्रों में किसी भी ज्ञान का जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण उसमें क्रियात्मक विज्ञान की आवश्यकता रही है अर्थात सभी सैद्धान्तिक ज्ञान को क्रियात्मक रूप देकर उसे व्यवहारिक ज्ञान से जोड़ दिया गया। सभी ने अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया और उसे प्राप्त करने के निमित्त उन्होंने जिन मार्गों का चयन किया उसे योग कहते हैं।

योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है, युक्त करना, बाँधना या एकाग्र होना। शरीर, मन और आत्मा की समग्र शक्तियों को परमात्मा में संयोजित करना योग है अर्थात शरीर की समस्त चेष्टाओं, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, भावनाओं आदि को अनुशासित करना योग है।[1] जिस साधन से योग प्राप्त होता है उसे भी 'योग' कहा जाता है। इस प्रकार 'योग' शब्द साध्य और साधन दोनों ही रूपों का वाहक है। निःसन्देह योग एक साधना पद्धति होने के साथ–साथ जीवन–दर्शन भी है जिसके अनुपालन से समस्त मानवीय समस्याओं का निराकरण हो जाता है। योग साधना का मूल उद्देश्य व्यक्ति की शारीरिक क्षमताओं के विकास के साथ–साथ मन, चित्त या बुद्धि को एकाग्र कर राग द्वेष आदि कषायों और कुप्रवृत्तियों से मुक्त करना तथा प्रज्ञा–शक्ति सम्पन्न करना है। निश्चित रूप से यह एक धर्म निरपेक्ष साधना पद्धति है जिसके द्वारा मनुष्य अपना शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास करते हुए जीवन के परम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है।

*रीडर, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर

योग का अर्थ अलग–अलग सन्दर्भों में अलग–अलग तरह से लिया जा सकता है। आयुर्वेद में जहाँ योग का अर्थ है संघ बनाना तथा मन एवं शरीर को शांत करना, वहीं संस्कृत में योग का अर्थ है अनुशासन अर्थात मन–मस्तिष्क को सन्तुलित और नियन्त्रित रखना। योग एक ऐसा व्यायाम है जो ना केवल हमारे मन तथा मस्तिष्क को नियन्त्रित रखता है, बल्कि हमारी श्वास प्रणाली तथा शारीरिक संरचना को भी सुधारता है। वस्तुतः योग विद्या के प्रतिपादन का उद्देश्य किसी दर्शन या आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं था, बल्कि यह बताना था कि स्वस्थ शरीर और संयमी जीवन द्वारा किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यह दर्शन सैद्धान्तिक न होकर व्यवहारिक है और सबसे बड़ी बात यह है कि इसका वैज्ञानिक आधार भी है। शरीर के स्वस्थ रहने पर मन साफ होगा और निर्मल मन से ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है।

प्राचीन भारतीय धर्म–दर्शन में योग को ही मुक्ति (मोक्ष) का सर्वोच्च साधन माना गया है। मन (चित्त) को प्रकृति का प्रथम विकार स्वीकार किया जाता है। इसी से सृष्टि का विकास होता है। प्रकृति में विद्यमान तीन गुणों (सत्व, तम और रज) का परिणाम ही सृष्टि है। मन सत्व प्रधान परिणाम है। इसकी जो बहिर्मुखी वृत्तियाँ हैं उनको विषयों से हटाकर चित्त में लीन करना ही योग है। बाह्य विषय चित्त को अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं जिससे चित्त उन्हीं के आकार में परिणत होता रहता है। इसे ही चित्त की वृत्तियाँ कहा जाता है। इन चित्त वृत्तियों को त्यागकर चित्त की अपने स्वरूप में अवस्थिति को ही चित्त वृत्तियों का निरोध कहा जाता है। यही अवस्था ही योग का अन्तिम साध्य है। इस दशा में योग और समाधि में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी के द्वारा साधक आत्म साक्षात्कार की अनुभूति करता है और उसे सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार योग आत्म–साक्षात्कार के लिए साधन का कार्य करता है। वस्तुतः शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रशिक्षण द्वारा मन एवं शरीर को आत्म साक्षात्कार के योग्य बनाकर उसे इसकी प्राप्ति करा देना ही योग का परम ध्येय है।

वैदिक परम्परा में 'योग' का परम ध्येय आत्मा और परमात्मा का ऐक्य स्थापित करना प्रतीत होता है। ऋग्वेद में वर्णित है कि ज्ञानी पुरुष का कोई भी यज्ञ–कर्म बिना योग के सफल नहीं होता। अतः इन्द्र अग्नि आदि देवों में उन्हें अपनी बुद्धि व कर्मों को अनन्य रूप से एकाग्र करना चाहिए।[2] ऋग्वैदिक मंत्र मात्र स्तुतिपरक एवं यज्ञपरक नहीं है अपितु यज्ञार्थक से प्रतीत होने वाले मंत्रों के अन्तरतम में योग के बीज विद्यमान हैं। अथर्ववेद में वर्णित है कि ईश्वर कृपा से हमें योग (समाधि) सिद्ध होकर विवेक ख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो और वही ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों सहित हमारी तरफ आवे।[3] वेदों में अनेक स्थानों पर योग के अष्टांग–साधन[4] (योगांग) की अवधारणा को अभिव्यक्त किया गया है और उसकी सिद्धि के निमित्त प्रार्थना की गई है।[5] यम के पाँचों प्रकारों यथा–सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह की चर्चा प्राप्त होती है। पातंजलि के योग सूत्र में यम को 'सार्वभौम महाव्रत' कहा गया है।[6] ऋग्वेद में सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का वर्णन प्राप्त होता है।[7] यजुर्वेद में अपरिग्रह के साथ–साथ अस्तेय को भी निर्देशित किया गया है।[8] अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य के द्वारा ईश्वर

के प्रकटीकरण का वर्णन प्राप्त होता है।[9] यजुर्वेद में 'व्रत' का उल्लेख प्राप्त होता है।[10] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'व्रत' को योग–शास्त्र के यम का परिचायक मानकर कहा है कि व्रत के अनुष्ठान से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त होता है, दीक्षा से (सत्याचरण के प्रति) सत्कार रूप दक्षिणा मिलती है, दक्षिणा से श्रद्धा में वृद्धि होती है और श्रद्धा से परमार्थ सुख प्राप्त होता है।[11] यजुर्वेद में शरीर के समस्त अंगों के शुद्धिकरण (शौच–नियम) का परामर्श दिया गया है।[12] व्यास के योग भाष्य में योग विद्या का ही स्पष्टीकरण है।[13] इसमें वर्णित विषय वेदार्थ के सार रूप हैं। वस्तुतः वेदों में निहित गूढ़ अर्थ का ही स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण योगशास्त्रों में प्रतिपादन है। वेदशास्त्र का मुख्य लक्ष्य ब्रह्मविद्या द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना ही है जिसने उस परम सत्ता का ज्ञान नहीं प्राप्त किया उसके लिए वेद का पठन–पाठन निरर्थक माना गया है।[14] वेदों में सत्य एवं तप आदि के अनुष्ठान के फलस्वरूप विशुद्ध सत्व सम्पन्न चित्त वाले ऋषित्व को प्राप्त हुए।[15] ऋग्वेद में यह स्वीकार किया गया है कि सर्वव्यापी सत्ता को पवित्र मन से जाना जा सकता है।[16] यजुर्वेद में भी उस मानसिक शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की गई है जिसके द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[17] जिस प्रकार योगशास्त्र में वर्णित है कि मन में अतीन्द्रिय तत्वों के ज्ञान की अपार क्षमता है लेकिन कलुषित मन में उन क्षमताओं का प्रकटीकरण व विकास नहीं हो पाता है उसी प्रकार वेदों के शिव–संकल्प सूक्त से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों को मन में निहित 'असामान्य क्षमता' का ज्ञान था। वस्तुतः वेदों का मूल तात्पर्य आध्यात्मिक ही है।

वेदों में वर्णित इस योग–विद्या को प्रायः सभी उपनिषदों में स्थान दिया गया है। इसमें योग के आध्यात्मिक पक्ष को ही विशेष रूप से प्रस्तुत किया गया है। कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् के अतिरिक्त 'योगोपनिषद संग्रह में योग की पर्याप्त चर्चा की गई है, जिनमें प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि का वर्णन प्राप्त होता है। औपनिषदिक ऋषि–मुनि ब्रह्म विद्या अथवा योग विद्या को एक रहस्य समझते थे और वे इसका प्रशिक्षण केवल उन्हीं जिज्ञासु साधकों को उपलब्ध कराते थे जो शम, दम, तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से युक्त रहते थे।[18] कठोपनिषद् में वर्णित है कि जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों से उपरत होकर मन के साथ अवस्थान करती हैं एवं बुद्धि भी आत्म विरुद्ध विविध चेष्टाओं से निवृत्त हो जाती है उस स्थिति को परमगति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रियों की धारणा को योग माना गया है। उस अवस्था में साधक प्रमाद रहित हो जाता है क्योंकि योग ही शुभ संस्कारों का प्रवर्त्तक तथा अशुभ संस्कारों का निवर्त्तक होता है।[19] उपनिषदों में योग को ही अमृतत्व (ब्रह्म) को प्राप्त करने का उपाय बताया गया है।[20] श्वेताश्वेतरोपनिषद् में प्राणायाम विधि, नाड़ियों का वर्णन, ध्यान के उपयुक्त स्थान आदि के वर्णन के साथ–साथ कहा गया है कि योग द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करके व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।[21] वृहदारण्यकोपनिषद् में भी इन्द्रियों और मन के संयम द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त करके आत्मोपलब्धि प्राप्त करना बताया गया है।[22] उपनिषदों में कर्मयोग, ज्ञानयोग, मंत्रयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग, ब्रह्मध्यान योग, प्रणवोपासना आदि योग के प्रकारों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[23] इस योग वासिष्ठ, महाभारत, स्मृतियों एवं

पुराणों में भी योग विद्या के विभिन्न रूप तथा यम–नियम आदि योग के अष्टांग साधनों के विवरण प्राप्त होते हैं।[24]

गीता में योग को दो रूपों में व्यक्त किया गया है। प्रथमतः 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात कर्म करने की कुशलता ही योग है।[25] द्वितीयतः 'समत्व योग उच्यते' अर्थात समत्व ही योग है।[26] इन्हें ही ध्यान में रखकर गीता में कर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि "तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है, उसके फल पर नहीं'। तेरा उद्देश्य कर्म का फल कभी न हो और न अकर्म के प्रति अनुराग हो। इस प्रकार की आसक्ति को त्यागकर परमात्मा के लिए अपना कर्म कर। यह मन की समता ही योग है।[27] गीता में योग को वेदना और दुःख से मुक्ति का साधन भी बताया गया है। योगाभ्यास द्वारा जब योगी मन, बुद्धि और अहंकार को वशीभूत करके उनकी चंचलता को शांत एवं स्थिर कर देता है तब वह वेदना और दुःख से मुक्ति पाकर परमानन्द का अनुभव करता है।[28] इस प्रकार योग सभी प्रकार की वेदना और दुःखों का उन्मूलन करता है।[29]

महर्षि पतंजलि ने सर्वप्रथम योग के विभिन्न रूपों को व्यवस्थित कर अष्टांग योग दर्शन का प्रतिपादन पातंजल योगसूत्र के अन्तर्गत किया है। उनके अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है–योगाश्चित वृत्ति निरोधः।[30] लेकिन पतंजलि स्वयं योग दर्शन के प्रथम वक्ता नहीं थे। स्वयं उन्होंने समाधिपाद के प्रथम सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' में स्पष्ट किया है कि योग प्राचीन परम्परा से चला आ रहा है। गीता में श्रीकृष्ण ने भी स्वीकार किया था कि मेरे द्वारा उपदिष्ट यह योग विद्या नवीन नहीं है अपितु वह प्राचीन काल से चली आ रही सनातन विद्या ही है।[31]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में योग साधना प्राचीन काल से चली आ रही है जिसे वैदिककालीन ऋषियों ने मानवता के कल्याण के लिए संसार को समर्पित किया। योग विद्या वैदिक काल से ही एक जीवन दर्शन और जीवन पद्धति के रूप में विकसित हो गई थी। वर्तमान में भी निर्मला माता, बाबा रामदेव जैसे युग पुरुषों ने विभिन्न माध्यम से इसके प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। निःसन्देह योग के द्वारा शरीर और आत्मा दोनों का विकास होता है। आज योग–दर्शन का चिकित्सा के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान है। योगाभ्यास द्वारा विभिन्न प्रकार की साध्य व असाध्य बीमारियों का रोकथाम किया जा रहा है। योग से वर्तमान में प्रचलित नाना प्रकार की औषधियों के दुष्प्रभाव से भी बचा जा सकता है और अपने जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से भी यह उपयुक्त कदम होगा।

सन्दर्भ :

1. आयंगर, बी0के0 एस, योग दीपिका, नई दिल्ली, पृ0 2
2. ऋग्वेद, 1/18/7 3. अथर्ववेद, 20/691/1
4. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग दर्शन (व्यास भाष्य) सूरत 1958 2, 29

5. ऋग्वेद 1/30/7; अथर्ववेद 19/24/7
6. यजुर्वेद 17/2
7. ऋग्वेद 5/59/2; 10/117/5
8. यजुर्वेद 40/1
9. अथर्ववेद, 11/5/7
10. यजुर्वेद 19/30
11. जैन विद्या, पृ0 19
12. यजुर्वेद 17/2
13. योगसूत्र 1/1 पर योगवार्तिक सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः। योगभाष्यभिषेणातो मुमुक्ष्णामिदं गतिः।।
14. ऋग्वेद 1/164/39, अथर्ववेद 5/10/18
15. तैत्तिरीय ब्रा0 2/7/7, ऐतरेय ब्रा0 6/1
16. ऋग्वेद 1/16/17
17. यजुर्वेद 32/14
18. प्रश्नोपनिषद् 1/2
19. कठोपनिषद् 2/3/10–11
20. कठोपनिषद्, 1/1/21–28; 1/2/11; 2/3/18
21. श्वेताश्वेतरोपनिषद 2/9, 10.12.13
22. मुण्डकोपनिषद 3/2/5–6
23. डॉ0 सुधा जैन, जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 3–4
24. डॉ0 सुधा जैन, जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ0 5–12
25. गीता, 2/50
26. गीता, 2, 47–48
27. गीता, 2, 47–48
28. गीता, 6, 18–23
29. गीता, 6, 16–17
30. योगसूत्र, 1/2
31. गीता, 4/1–3

✸

वैदिक वाङ्मय में वर्णित वास्तु निर्माण कला

प्रदीप सिंह*

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, वेदकालीन समाज पूर्णतया सुसंस्कृत था, उसने जीवन को सुखी बनाने के लिए वास्तु निर्माण कला का विकास किया था। ऋग्वेद[1] में कितने ही स्थलों पर पुर, ब्रज आदि का उल्लेख आता है, जिससे तत्कालीन दुर्गों का बोध होता है। दुर्ग मिट्टी के बनाये जाते थे या पत्थर के इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इतने प्राचीन काल में भी दुर्ग बनाने की कला का विकास हुआ था। इसी प्रकार ऋग्वेद में तत्कालीन गृहों का भी उल्लेख आता है। वास्तोष्पति–मंत्रों[2] में गृह देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में गृह[3] सद्म[4] प्रसद्म[5] दीर्घ प्रसद्म[6] आदि का उल्लेख आता है जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में छोटे से छोटे व बड़े से बड़े घर बनाये जाते थे। ये घर मिट्टी, पत्थर, लकड़ी अथवा तीनों को मिलाकर बनाये जाते थे। वैदिक युग में घर बनाने की कला बहुत लोकप्रिय थी। यह इससे भी सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में साधारण घर के अर्थ में वाबीस शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसा कि निघण्टु[7] में लिखा है। गृहसूचक बाबीस नाम इस प्रकार है–गय, कृदर, गर्त, हर्म्य, अस्त, पस्त्य, दुरोण, नील, दुर्य, स्वसर, अमा, दम, कृति, योनि, सद्म, शरण, वरूथ, छर्दि, छदि, छाया, शर्म, व अज्म।

वास्तु निर्माण कला के विकास से वैदिक आर्यों का भौतिक जीवन सम्बन्धी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। धनी व निर्धन सब ही अपने साधनों के अनुसार रहने का आवास निर्माण कर अपने–अपने कामों में लग जाते थे। बड़े–बड़े सरदार व धनाढ्य लोग पत्थर आदि से बने हुए बड़े–बड़े दुर्गो। में रहते थे। इन्द्र ने दिवोदास को पत्थर के सौ दुर्ग प्रदान किये थे।[8] धनी लोग काष्ठ निर्मित बड़े–बड़े प्रसादों में रहते थे, जो कभी शत्रु द्वारा जला दिये जाते थे।[9] उन प्रसादों में बड़े–बड़े स्तम्भ रहते थे, जिनके आधार पर छत टिकी रहती थी। उसमें बहुत से दरवाजे भी रहते थे।[10] शम्बर के पास पत्थर के सौ दुर्ग थे जो इन्द्र ने उससे छीन लिये थे।[11] मित्र व वरुण के पास एक सहस्त्र खम्भों वाला महल था, जिसमें अगणित द्रव्य भरा था।[12] लोहे के दुर्ग या नगरों का उल्लेख भी ऋग्वेद में आता है,[13] जहाँ इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि 'हे अग्नि हमारी घृतयुक्त हव्य से उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार लोहे के अमित व महान् सौ दुर्गों से होती है। ऋग्वेद में एक स्थान पर[14] सरस्वती नदी को लोहे का दुर्ग कहा गया है।

---

*प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर

पुर— ऋग्वेद में पुर कितने ही स्थलों पर उल्लिखित हैं, जिसका अर्थ साधारणतया दुर्ग या किला होता है, जिसमें राजा, उसका परिवार व उसके सेवक रहते थे जो इतना मजबूत रहता था कि किसी भी आक्रमण का सामना कर सकता था।[15] उसमें राजा का सोना, चाँदी, रत्न, धान्य की बड़ी–बड़ी कोठियाँ आदि भी बनी रहती थीं। पुर किलेबन्दी वाले नगरों के समान थे, जिसमें न केवल राजा व उसके परिवार के सदस्य रहते थे बल्कि सामन्त एवं बड़े–बड़े व्यापारी आदि भी रहा करते थे।[16] ऐसे दुर्ग साधारणतया पत्थर के बने रहते थे,[17] तथा उसके अन्दर रहने वाले लोगों का शत्रु, डाकू, आक्रमणकारी, अग्नि आदि से संरक्षण करते थे। "शारदी" दुर्गों का भी उल्लेख आता है, जो कि दासों के थे, इससे यह भाव निकलता है कि शरद ऋतु में आर्यों के आक्रमण से बचने के लिए अथवा नदियों के पूर से बचने के लिए दास लोग उन दुर्गों का प्रयोग करते थे।[18]

ऋग्वेद[19] में सौ दीवालों (शतभुजी) से युक्त दुर्गों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। दुर्गों की दीवालें कभी–कभी लकड़ी की भी बनायी जाती थी, जैसा कि दासों के दुर्गों को जलाये जाने से स्पष्ट होता है।[20]

गृह— ऋग्वेद में गृह का उल्लेख एकवचन[21] व बहुवचन[22] दोनों में आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्यों ने अपने रहने के लिए बहुत से मकान बनाये थे। गरीबों के मकान लकड़ी, घाँस, फूँस आदि के रहते थे किन्तु अच्छी स्थिति के लोगों के अच्छे मकान रहते थे बसिष्ठ ने वरुण से प्रार्थना की है मुझे मिट्टी के घर में न रहना पड़े।[23] सप्तुंग ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि 'मुझे एक बहुत बड़ा मकान रहने को दो जैसा कि किसी के पास न हो।[24] इस प्रकार घरों में गाय, बैल, भेड़ आदि के रखने की भी व्यवस्था रहती थी।[25] ऐसे मकानों में बहुत से कमरे व उसके अहाते में बहुत सी झोपड़ियाँ रहती थी।[26] दरवाजे या द्वार का उल्लेख भी आता है, जिस पर से मकान को "दुरोण" भी कहते थे। प्रत्येक मकान में अग्नि भी प्रज्ज्वलित रहती थी।[27]

गृह या भवन की बनावट के बारे में ऋग्वेद से जानकारी नहीं प्राप्त होती, किन्तु अथर्ववेद द्वारा इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।[28] मकान बनाने के लिए अच्छे स्थान पर चार खम्भे (उपमति) और उन पर म्यालें (प्रतिमित) रखी जाती थी। छतें बाँस की बनायी जाती थी। दीवालों के अन्दर घास भरी जाती थी, मकान में भिन्न–भिन्न कार्यों के लिए अलग–अलग कमरे रहते थे, जैसे हविर्धान (हवन सामग्री रखने का कमरा) अग्निशाला (यज्ञग्नि रखने का कमरा) "पत्नीनां सदन" (स्त्रियों के बैठने का कमरा) सदस (बैठक)[29] आदि। प्रत्येक घर की दो बाजुएँ रहा करती थी, जिन्हें पक्ष कहते थे, जो आधुनिक बरामदे के समान थे। बरामदे के खम्भे लकड़ी के बने रहते थे, जिन पर मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण रहती थी। ऋग्वेद[30] में एक स्थान पर कहा गया है कि 'हे इन्द्र तुम्हारे घोड़े दौड़ते समय इस प्रकार प्रकाशित होते हैं, जैसे कि एक नये खम्भों पर दो छोटी–छोटी लड़कियों की मूर्तियाँ। इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के मकानों में साधारणतया एक बैठक का कमरा जहाँ पुरुष वर्ग बैठकर वार्तालाप करता था, एक सामान रखने का कमरा, एक स्त्रियों का कमरा तथा यज्ञाग्नि रखने का कमरा रहता था। इसके अतिरिक्त सोने के कमरे अलग रहते

थे। मकान के अहाते में मवेशियों के बाँधने की व्यवस्था रहती थी। इसके अतिरिक्त एक कमरा और रहता था जिसको "आवसथ" कहते थे जहाँ पर यज्ञादि के अवसर पर ब्राह्मणों का स्वागत किया जाता था।[31]

ऋग्वेद में एक स्थान[32] पर शंमु बार्हस्पत्य इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि "हे इन्द्र मुझे एक त्रिधातु व त्रिवरूथ (तीन खम्भों वाला) मकान प्रदान करो, जो कि कल्याणकारी हो। इस मंत्र में "त्रिधातु" शब्द के अर्थ के विषय में बहुत मतभेद है, ग्रिफिथ के अनुसार त्रिधातु का अर्थ ईट, पत्थर व लकड़ी का बना हुआ मकान। किन्तु सायण के अनुसार त्रिधातु का अर्थ धिमूमिकम अर्थात तीन मंजिला वाला मकान होता है।[33] त्रिवरूथ शब्द एक स्थान[34] पर और आया है, जहाँ विश्वेदेवा से प्रार्थना की गयी है कि हमें महान त्रिवरूथ शर्म (घर) प्रदान करो। यहाँ 'त्रिवरूथ शर्म' का अर्थ साधारणतया तीन कमरे वाला मकान से लिया जाता है। सद्म[35] प्रसभ, दीर्घ प्रसद्म[36] आदि के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि बहुत बड़े–बड़े मकान भी बनाये जाते थे, जिनकी तुलना गगनचुम्बी प्रसादों से की जा सकती है।

शिल्प– वास्तु निर्माण कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं का विकास भी वैदिक युग में हुआ था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में रथ, हथियार, घरेलू बर्तन, विभिन्न आभूषण, आदि का बहुत उपयोग होता था और इन सब के लिए विभिन्न धातुओं की गलाने आदि की कला का ज्ञान आवश्यकीय रहता है। ऋग्वेद में निष्क[37] रुक्म[38]रुक्म[39] पास, रुक्म वक्षस्[40] स्रज्[41] खादि[42], कर्णशोभन[43] आदि सुवर्ण के आभूषणों का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में मोती[44] व मणि[45] का भी उल्लेख आता है, जिनका उपयोग आभूषणों के लिए किया जाता था।

ऋग्वेद में दैनिक घरेलू उपयोग की कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख आता है, जिनसे विभिन्न कलाओं के विकास की जानकारी मिलती है। तल्प[46] (पलंग) प्रौष्ठ[47] (एक प्रकार का पलंग) वह्म[48] (एक प्रकार का पलंग) आदि लकड़ी के बनाये जाते थे व साधारणतया एक घर में रहते थे।

ऋग्वेद में कलश,[49] द्रोण[50] कुम्भ[51] आदि का कितने ही स्थलों पर उल्लेख आता है। कलश व कुम्भ विभिन्न धातुओं व मिट्टी के बनाये जाते थे, द्रोण बड़े–बड़े बर्तन रहते थे जो लकड़ी के बनाये जाते थे। घरेलू बर्तन विभिन्न धातुओं के बनाये जाते थे। अथर्ववेद में सोने व चाँदी के बर्तनों का उल्लेख है।[52] उख (पकाने के बर्तन), स्थाली (पकाने का बर्तन), आसेचन आदि यज्ञ से सम्बन्धित बर्तन थे जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है। इसी प्रकार यज्ञ से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख आता है जो साधारणतया लकड़ी व धातु से बनायी जाती थी।[53]

यजुर्वेद में रथकार, तक्षा, कौलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), मणिकार, हिरण्यकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार आदि का स्पष्ट उल्लेख आता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक युग में लुहार, लोहा आदि गलाकर विभिन्न हथियार, रथ के कलपुर्जे आदि बनाते थे। बढ़ई लकड़ी के रथ, पलंग आदि वस्तुओं को बनाकर अपनी कला का विकास करते थे। मणिकार व हिरण्यकार अच्छे–अच्छे आभूषण

बनाकर अपनी कला को प्रदर्शित करते थे, और कुम्हार मिट्टी के नाना प्रकार के बर्तन बनाते थे। इस प्रकार वैदिक युग में विभिन्न कलाओं का विकास किया गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक युग में ही भारतीय समाज वास्तु निर्माण कला से पूर्णरूपेण परिचित हो चुका था। वैदिक युग में ही भारतीय जीवन की नाना सुविधाओं का विधान गृह्यवास्तु में किया गया था। तत्युगीन वास्तु निर्माण विधा के आचार्यों ने उन तत्वों का अविष्कार कर लिया था जो ऐतिहासिक युगों की वास्तु निर्माण कला में भी पाये जाते हैं जैसे नींव, पक्खे, कोठे, अन्तःपुर, द्वार, सभा, अलिन्द, ऊर्ध्वछन्द, अद्मःछन्द, सूत्रमापन, छत्र, स्तम्भ आदि। आर्यों के गृह्यवास्तु के तीन भाग थे जिसमें मर्दाना बैठक, अन्तःपुर के साथ–साथ पशुगोष्ठ के लिये भी स्थान था। रामायण और महाभारत युगीन राज प्रासादों में भी इसी प्रकार के इन्हीं तीन भागों को प्रमुखता प्राप्त है। कालान्तर में भी ये सभी विशेषताएँ वास्तु विधान की दृष्टि से महत्वपूर्ण बनी रहीं।

सन्दर्भ :–

1. ऋग्वेद 5/6/7
2. ऋग्वेद 7/54/1–3, 7/55/1
3. ऋग्वेद 8/22/3, 8/26/17
4. ऋग्वेद 7/18/22
5. ऋग्वेद 8/10/1
6. ऋग्वेद 8/10/1
7. निघण्टु 2/4,
8. ऋग्वेद 4/30/20
9. ऋग्वेद 7/5/3
10. ऋग्वेद 10/99/3
11. ऋग्वेद 4/30/20
12. ऋग्वेद 2/41/5
13. ऋग्वेद 7/3/7
14. ऋग्वेद 7/95/1 "सरस्वती धरूणभवसीपूः"
15. ऋग्वेद 1/53/7, 1/58/8, 1/131/4
16. ए0सी0 दास–ऋग्वैदिक कल्चर, पृ0 186, 187 ऋग्वेद 1/89/2, "पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तो काय तनयाय शं योः।।
17. ऋग्वेद 2/30/20
18. मैकडोनेल व कीथ–वैदिक इन्डेक्स 1/538
19. ऋग्वेद, 1/166/8 "शतभुजिभिस्तमभिहतेरधात्पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत; 7/15/14, "पूर्भवा शतभुजिः।।
20. ऋग्वेद 7/5/3, 6
21. ऋग्वेद 3/53/6; 4/49/6; 8/10/1
22. ऋग्वेद 2/42/3, 5/70/4, 10/18/12
23. ऋग्वेद 7/89/1
24. ऋग्वेद 10/47/8 "यत्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र वृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।"

25. ऋग्वेद 7/56/6, 10/106/5 26. ऋग्वेद 7/85/6
27. मैकडॉनेल व कीथ–वैदिक इन्डेक्स 1/221, 230
28. ए0सी0 दास–ऋग्वैदिक कल्चर पृ0 189
29. वैदिक इन्डेक्स 1/230, 231 30. ऋग्वेद 4/32/23
31. वैदिक इन्डेक्स 1/66 32. ऋग्वेद 6/46/9
33. ए0सी0 दास–ऋग्वैदिक कल्चर पृ0 191
34. ऋग्वेद 10/18/22 35. ऋग्वेद 8/10/1
36. ऋग्वेद 2/33/10; 5/19/3
37. ऋग्वेद 1/166/10, 4/10/15, 5/33/4, 8/20/11
38. शतपथ ब्राह्मण 6/7/1, 7, 27
39. ऋग्वेद 2/34/2; 8, 5/55/1; 5/57/5
40. ऋग्वेद 4/38/6, 5/34/4; 8/47/15
41. ऋग्वेद 5/54/11, 1/166/9, 7/56/13,
42. ऋग्वेद 8/78/3
43. ऋग्वेद 1/35/4; 10/68/1, 1/126/4
44. ऋग्वेद 1/33/8 45. ऋग्वेद 7/55/8
46. ऋग्वेद 7/55/8 47. वैदिक इण्डेक्स 2/278
48. ऋग्वेद 1/117/12, 3/32/15
49. ऋग्वेद 6/2/8, 6/37/2, 6/44/20, 9/93/1
50. ऋग्वेद 1/191/14, 10/89/7
51. यजुर्वेद, 8/10/23, 29
52. ए0सी0 दास–ऋग्वैदिक कल्चर, पृ0 194–195
53. यजुर्वेद 30/7, 17

अथर्ववेद में आयुर्वेद

सतीश कुमार*

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है, यह प्राय: सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त वेदों में भी अनेक आयुर्वेदीय प्रयोग मिलते हैं। यहां इस छोटे से निबन्ध में हम अथर्ववेद के कुछ उद्धरणों का ही उल्लेख करेंगे। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों की चर्चा विस्तृत रूप में मिलती है। वनस्पतियों के स्पष्ट नामों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद का सम्बन्ध मानव जीवन के साथ क्रियात्मक रूप में होने से आयुर्वेद का सम्बन्ध मुख्य रूप से इसी से है। अत: अर्थववेद में कृमि सम्बन्धी जानकारी शैल्य चिकित्सा और प्रसूत विज्ञान आदि विषय मुख्य रूप से इस से है। अत: अर्थववेद में कृमि सम्बन्धी जानकारी शैल्य चिकित्सा और प्रसूत विज्ञान आदि विषय मुख्य रूप से मिलते है।

शरीर विश्लेषण

मानव शरीर की महिमा वेदों में वर्णित है। वेदों में मानव शरीर को योग यज्ञ का सहायक कहा गया है जिसमें कहा गया है कि "हे मानव तुझे जो यह शरीर मिला है वह योग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए है।[१]" अथववेद के प्रथम तंत्र में स्पष्ट किया गया है कि समष्टि के २१ पदार्थ (५ सुक्त भूत, ५ स्थूल भूत, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कामेन्द्रियां, एक वीर्यशक्ति) स्थूल शरीर को धारण करते है।[२] अथर्ववेद में ही वीर्य तथा रज को मानव शरीर के निर्माण में सहायक माना गया है।[३] यजुर्वेद के ३९वें अध्याय में चक्षु, श्रोत, नाभि है।[४] हृदय, वाह्य अंग, अन्य छोटे-छोटे सम्पूर्ण अंग यकृत, पसलियाँ, त्वचा, रुधिर, चर्बी, मांस-मज्जा, नस, नाड़ी, अस्थि इत्यादि अंगों का उल्लेख मिलता है।

अथर्ववेद में शरीर शास्त्र के विषय में शरीर की नाड़ी तथा सहस्त्र धमनियों का उल्लेख मिलता है। नाना प्रकार के रोगो के साथ शारीरिक अवयवों का वर्णन मिलता है[५] जैसे अस्थि, स्त्राव, मांस, मज्जा, दर्द, अरू, जंघा, घुटने, सिर, हाथ, मुख, स्तन, पार्श्व, जिह्वा, ग्रींक लोभ, त्वचा आदि का उल्लेख मिलता है।

रोग विज्ञान

अथर्ववेद में कुछ रोगों के नाम लक्षण, स्पष्ट दिखाई देते हैं जैसे - ज्वर के लिए संक्रमण शब्द आता है जो एक भयंकर रोग है।[६] अथर्ववेद के तीन सूक्तों में जलोदर रोगों का उल्लेख मिलता है।[७] अथर्ववेद के छठें सूक्त में हृदय रोग का उल्लेख मिलता है[८] इसमें जलोदर रोग, हृदय रोग का परिणाम बताया गया है। राजयक्षमा शब्द का उल्लेख भी अथर्ववेद में आया

---

* *शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

है।[९] यक्ष रोग ऋग्वेद में आया है।[१०] यहाँ राजयक्ष्मा ही यक्ष रोग से समीकृत किया जा सकता है। वैदिक कालीन जीवन प्राकृतिक था। दन्तधावन से लेकर आहार तक तथा शयन कक्ष से लेकर रथ तक सभी में वनस्पति का प्रयोग होता था। पृथमायशो: में वनस्पतियों का विशेष उपयोग होता था। सोम तो यज्ञों में एक प्रथम द्रव्य माना जाता था जिसे औषधिराज की संज्ञा दी गयी है। इसी तरह अथर्ववेद में अनेकों वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है, जैसे - पिप्पली, अपामार्ग, पृश्निपार्णि, रोहिणी, श्यामा औषधि इत्यादि। साथ-साथ जल चिकित्सा और अशुद्ध वायु वाले रोग तथा संक्रमण रोग युक्त रोगियों के लिए शुद्ध वायु सेवन करने का एक अच्छा उपदेश अथर्ववेद मंत्र में निम्नलिखित रूप में किया गया है -

"मुच शीर्षत्त्या उत फास एनं परूष्परराविवेश यो अस्या।

यो अभ्रजा वातजा शुष्मो वनस्पतीन् सचतां पर्वतश्चिं।।"

क्रिमि विज्ञान

कृमियों से अभिप्राय रोगों के उत्पादक सूक्ष्म जीवाणुओं से हैं जो कि सामान्यत: आँख से नहीं देखें जा सकते हैं। निम्न मंत्र में रोगोत्पादक कीटाणुओं के निवास स्थान का वर्णन उत्तमत्ता से किया गया है -

ये क्रिमय: पर्वन्तेषु वनेर्ष्वाषधीषु पशुष्वप्स्वनत:।

येऽस्माकं तन्वमाविविशु: सर्वतंद्धनिम जनिं क्रिमीणम्।।[११]

जो क्रिमि पर्वतों, वरों में पशुओं में और जल में निवास करते हैं और हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, उसके उत्पन्न करने वाले एवं बढ़ाने वाले को हम नष्ट कर दें साथ ही क्रिमियों को मारने का वर्णन भी अथर्ववेद में अनेकों स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

यही कारण है कि वस्तुओं को कृति रहित रहने के लिए सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। गरम कपड़ा को कीड़ों से बचाने के लिए प्राचीन काल में चन्दन, कूंठ, देवदारू का उपयोग होता था और आज कल फिनायल की गोली काम में लायी जाती है। अथर्ववेद में औषधि को जलाने पर होने वाली गन्ध से रोगों के नाश का वर्णन मिलता है। अजत्रुंगी का कढ़ा, सीगों, नमक, औषधि, जल तथा वायु में फैलने वाले रोगों को नष्ट करते हैं तथा रोग नाशक स्वभाव सब रोगों को दूर कर गन्ध से उसका नाश करें।[१२] इस औषधि के जलने से और उससे उत्पन्न तीक्ष्ण गन्ध से मच्छर आदि भाग जाते हैं। सूर्य और पृथ्वी मिलकर इन्द्र और अग्नि ये दोनों भी परस्पर मिलकर रोगकारी जन्तुओं का मेरे लिए विनाश करें जो क्रिमि आँखों में, नाँकों में तथा दाँतों के बीच चला जाता है उसका हम विनाश करें। जो श्वेत पंख वाले और जो अनेक रूप बदलते हैं उनका हम विनाश करें।[१३] जिनके पंजे पीछे की ओर, एड़ी आगे की ओर और मुख सामने की ओर हो ऐसे क्रिमियों को नष्ट करता हूँ[१४]

शल्य तन्त्र

अथर्ववेद में क्षत[१५] विद्रधि[१६] भिन्न-भिन्न व्रण[१८] आदि रोगों का उल्लेख मिलता है। टूटी-फूटी अस्थियों को जोड़ने, कटे हुए अंगों को ठीक करने तथा पृथक हुए मांस व मज्जा को स्वस्थ्य करने की भी औषधि से प्रार्थना की गयी है।[१९] रक्तस्राव के लिए पट्टी बांधने[२०] तथा

रेत से भरी थैलियाँ से दबाने का उल्लेख मिलता है। अपची रोग के वेधन का उपचार किया गया है।।[२१]

प्रसव चिकित्सा

गर्भाशय को चीर कर गर्भ को बाहर करने तथा रूके हुए मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकालने का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। हे गर्भिणी तेरे अंग को खोलता हूँ और योनि भाग गर्भाशय को चौड़ा करता हूँ, योनि भाग के पार्श्वों पर भी लगी दो नाड़ियाँ जहाँ से मातृ बीज आता उनको भी विशेष रूप से बालक को अलग कर देता हँ। जननी को उस पुत्र से तथा उस पुत्र से जननी को तथा शिशु को गर्भवेष्टक के सम्बन्ध से अलग-अलग कर देता हूँ जिससे बालक सुख पूर्वक बाहर आ जाए।[२२]

अथर्ववेद में सुख प्रसव के लिए प्रार्थना की गयी है जिस प्रकार वायु बिना रूकावट के चलती है, जितनी तेजी से मन चलता है, जिस प्रकार से सुख पूर्वक पक्षी उड़ता है उसी प्रकार से दसवें मास में हे गर्भ! तू गर्भाशय से बाहर आ जा।[२३]

अत: अथर्ववेद में आयुर्ववेद का विस्तृत वर्णन मिलता है चाहे वह वनस्पति वर्ग हो, क्रिमि वर्ग हो या प्रसव चिकित्सा हो या रोग तथा उसके निवारणों का भी विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत किया गया है जैसे -

हषु निष्कासान (अथर्ववेद ६/९०)

उन्मत्तता मोचन (अथर्ववेद ६/११)

कास समन (अथर्ववेद ६/१०५)

गर्भ वृहण (अथर्ववेद ६/१७)

गर्भदोष निंवारण (अथर्ववेद ८/६)

नाशन (अथर्ववेद ७/११६)

नारी सुख प्रसूदि (अथर्ववेद १/११) इत्यादि।

संदर्भ :

१. डॉ० योगेन्द्र पुरूषार्थी, वेदों में योग विद्या, पृ० ४१.

२. अथर्ववेद - १/१/१.

३. वही, ११/८/२९, वैदिक मंत्रालय, अजमेर, सृ० २०१४.

४. यजुर्वेद - ३९/२-३, भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा, आर्य सहित्य मण्डल, अजमेर, वि०सं० १९८९.

५. अथर्ववेद - २/३३-१-७.

६. वही, ५/२२/१०.

७. वही, १/१०/७/८९, वैदिक योग सूत्र, हरिशंकर जोशी.

८. वही, ६/२८/१.

९. वही, ३/११/१.

१०. वही, १०/१६८.

११. वही, २/३१/५, देखिए - पंडित राम गोपल शास्त्री, वेदों में आयुर्वेद, मदन मोहन लाल, आयुर्वेद अनुसधान ट्रस्ट।

१२. वही, ४/३७/२.

१३. वही, ५/२३/१.

१४. वही, ८/६/१५.

१५. वही, ७/७६/४, अथर्ववेद - विश्वबन्धु, विश्वेश्वचन्द, वैदिक शोध संस्थान, १९६०.

१६. वही, ६/१२७/१.

१७. वही, ४/१२.

१८. वही, ४/१२.

१९. वही, ४/२२.

२०. अथर्ववेद - १/१७.

२१. वही, ७/४४/२.

२२. वही, १/११५; वैद्यरत्न श्री रमाकान्त झा, वेदों में आयुर्वेद, आयुर्वेदशास्त्री सं०सं० 'माला'।

२३. वही, १/११/९.

❋

नारी संस्कार : पुराणों के परिप्रेक्ष्य में

मीना लाल*

सम् पूर्वक √ कृ + धञ् प्रत्यय से निष्पन्न 'संस्कार' के उद्देश्यों में संस्कृत व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास, समाज से सुकर सम्बन्ध-स्थापन के साथ ही पारलौकिक तृप्ति सर्वाधिक विशिष्ट है। वैसे तो सभी संस्कृतियों एवं सभ्यताओं में संस्कार का महत्त्व रहा है और वह किसी न किसी रूप में सम्पन्न होता रहा है किन्तु धर्म-प्राण हिन्दू समाज में जन्म निर्धारक भ्रूण के पूर्व रूप शुक्र के गर्भ में प्रवेश से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, उपनयन, समावर्त्तन एवं विवाह जैसे संस्कारों से व्यक्ति के जीवन को नियमित-संयमित कर उसे लौकिक-पारलौकिक सुख-समृद्धि प्रदान करने का प्रयास रहा है। इन विविध संस्कारों के अध्ययन से ऐसा प्राय: सुस्पष्ट है कि इसके विविध भेदोपभेद ऐतिहासिक विकास के परिणाम हैं और प्रत्येक अपने समय और समाज की उपज हैं। यद्यपि उत्तरवर्त्ती काल में विद्यारम्भ जैसे कुछ नवीन संस्कारों को जहाँ अस्तित्व मिला वहीं कुछ संस्कार मात्र औपचारिक और महत्त्वहीन हो गये। पुरातात्त्विक दृष्टि से अत्येष्टि जैसे कतिपय संस्कारों का तो सैन्धव शवाधानों से ही भान होता है। साहित्यिक साक्ष्यों में वैदिक साहित्य में 'संस्कृत' जैसे शब्दों और कुछ संकेतों को छोड़ दिया जाय तो संस्कार का सर्वप्रथम जैमिनि सूत्रों में उल्लेख मिलता है। सूत्र साहित्य विशेषकर धर्म सूत्र साहित्य में इसके प्राचुर्य है साथ ही भेद-गणना और आनुष्ठानिक क्रिया विधान का भी विवरण मिलता है। समाज एवं सामाजिक संस्थाओं के मान्य विकास क्रम के आलोक में यह संगत भी लक्षित होता है; क्योंकि वैदिक युग को जहाँ सामाजिक संरचना के युग के रूप में मान्यता प्राप्त है वहीं सूत्र काल को सामाजिक नियम-विधानों के निर्माण काल के रूप में अभिज्ञापित किया जाता है। इस काल में व्यक्ति एवं समाज के प्रकर्ष को दृष्टि में रखकर सृजित अन्य नियम-विधानों की तरह संस्कार विषयक नियम-विधान भी अस्तित्व प्राप्त करते हैं और कलान्तर में भी समय एवं समाज की चुनौतियों के साथ संशोधित परिवर्धित होते हुए विद्यमान रहे। पुराणों में अवश्य संस्कारों का मात्र आनुषंगिक उल्लेख है। पौराणिक धर्म के विकास क्रम में वैदिक संस्कार स्थल गृह एवं गृह की जगह मंदिर, ग्राम एवं चौपालों ने ले लिया। चूड़ाकरण-मुण्डन जैसे संस्कारों को मन्दिरों में सम्पन्न किये जाने के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है[1]। कतिपय अपवादों को छोड़ स्त्री-संस्कार के बारे में, स्त्री-शूद्र द्विज-बन्धु के हित को लक्ष्य कर रचे गये, पुराणों का मौन अवश्य आश्चर्यजनक लगता है, किन्तु पुराणों की उपर्युक्त वर्णित प्रकृति की दृष्टि से इसे भी स्वाभाविक ही कहा जा सकता है, क्योंकि पुराणों की तो दृष्टि ही लोकोन्मुखी थी। अत: उनका यज्ञ-यज्ञादि और संस्कार के प्रति प्रत्यक्षत:

---

*प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बहुत अभिलषित न होना उचित ही कहा जा सकता है। स्त्रियों के संस्कार के बारे में तो सूत्र एवं धर्मशास्त्र साहित्य में ही प्राय: उपेक्षा भाव दिखाई देता है और उनके लिए द्विज-पुरुषों से भिन्न विवाह संस्कार को छोड़ अन्य संस्कारों को मंत्रहीन करने का निर्देश मिलता है[२]। 'पूर्व वैदिक स्त्री-पुरुष समतुल्यता एवं नारियों के प्रति सम्मान-भाव के निवृत्तिमार्ग के प्रभाव, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम के उदय, वैदिक ग्रन्थों के तत्त्वचिन्तन के स्थान पर धर्म प्रेरित होने के कारण दुष्प्रभावित होने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि संस्कार का तो, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में संकेत मात्र मिलता है, और सूत्र साहित्य विशेष कर धर्म सूत्र साहित्य में ही उसका व्यवस्थित रूप मिलता है, किन्तु "पुराकाले तु नारीणाँ मौंजीबन्धनमिठते। ..... स्वगृहे चैव कल्याणे भैक्ष्यचर्या विधीयते"[३] से द्विज पुरुषों के समान वैदिक मन्त्रों के साथ उपनयन संस्कार का अनुमान किया जा सकता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में बालक-बालिका के एक साथ समावर्त्तन संस्कार से इस प्रकार के अनुमान को बल मिलता है।[४] परन्तु समय एवं समाज के परिवर्तन के साथ स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आया और पौराणिक साहित्य का उनके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले संस्कारों के प्रति मौन भाव के पीछे इस प्रकार की स्थिति के होने का अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि पौराणिक साहित्य का धर्मशास्त्रीय विधान विषय भी नहीं है और उसके अपने परिवर्तित प्रतिमान हैं; किन्तु यहाँ प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि ये पुराण सूत्र साहित्य तथा स्मृति साहित्य से सर्वथा पार्थक्य भी नहीं रखते, वरन् वे उनसे अनेकश: सम्बद्ध दिखाई देते हैं। यथा - आपस्तम्बधर्मसूत्र में भविष्य पुराण विशेषत: उल्लिखित है।[५] इसी प्रकार श्राद्ध के विषय में मारकण्डेय पुराण और गौतम स्मृति, विष्णुधर्मोत्तरपुराण और विष्णु स्मृति, चतुर्विंशति पुराण और मानव श्राद्धकल्प, कूर्मपुराण और औशनस स्मृति एवं ब्रह्म पुराण तथा कठीय विधि-विधानों में सम्बन्ध लक्षित होता है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति और अग्नि तथा गरुण पुराणों में वर्णित श्राद्ध कल्प में पर्याप्त सादृश्य मिलता है। भविष्य पुराण में तो मनुस्मृति के प्रथम तीन अध्यायों से अनेक उद्धरण यथावत उद्धृत हैं। हारीत स्मृति को देखकर तो ऐसा भान होता है कि वह नृसिंह पुराण के उद्धरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं। नक्षत्र-विद्या सम्बन्धी विचार, जिनका संस्कारानुष्ठान-निष्पादन में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, पुराणों में ही विकसित हुए लगते हैं।[६] अत: इन सबके प्रकाश में संस्कार विषयक अनेक संदर्भो का पुराणों एवं स्मृतियों का परस्पर समन्वित अध्ययन कर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रस्तुत शोधपत्र में पुराणों के परिप्रेक्ष्य में नारी-संस्कार के विवेचन का प्रयास होगा। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें यथा संदर्भ नारी संस्कारों के पुराण पूर्व स्वरूप का भी आनुषंगिक अध्ययन होगा।

चाहे 'कार्यान्तरकरण योग्यता संस्कार:' जैसी परिभाषा की दृष्टि से विचार करें अथवा 'संस्कृयते अनेन इति संस्कार:' की दृष्टि से, दोनों एक दूसरे की पूरक हैं और इनसे यह सिद्ध होता है कि संस्कार मानव की शारीरिक शुद्धि, मानसिक विकास, बौद्धिक उन्नति कर उसके बहुआयामी प्रकर्ष में सहायक रहे। धर्मशास्त्रीय मान्यता के अनुसार तो जन्म से, प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, उसके द्विजत्व के लिए संस्कार आवश्यक हैं। यह मान्यता कि शिशु गर्भ से ही संस्कार ग्रहण करता है, निषेक के साथ ही सांस्कारिक अनुष्ठान का विधान मिलता है। वैसे तो संस्कारों के स्वरूप और उसकी संख्या को लेकर मतमतान्तर है, किन्तु सामान्यतया १६ संस्कार बहुमान्य हैं जिनको प्राग्जन्म संस्कार, बाल्यावस्था के संस्कार, शैक्षणिक संस्कार, विवाह संस्कार, अन्त्येष्टि संस्कार जैसे ५ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।[७] संस्कारों के

स्वरूप और उसकी उपयोगिता को लेकर धर्मशास्त्रीय साहित्य और पुराणों में परस्पर मतभेद के स्थान पर मतैक्य ही अधिक है। मत्स्य पुराण में तो, भले ही देवताओं के संदर्भ में सही, संस्कारों को इलावर्त तक प्राचीन कहा गया है। उसके अनुसार देवताओं के विवाह, यज्ञ, जातकर्मादि संस्कार इलावर्त वर्ष में सम्पन्न हुये थे।[८] मनुस्मृति के इस कथन, 'गर्भाधान, चूड़ाकरण और मौंजीबन्धन संस्कारों से द्विजों के वीर्य और गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं'[९] से भविष्य पुराण का 'संस्कारों की सम्पन्नता से द्विजों के बीज एवं गर्भ सम्बन्धी दोषों का परिमार्जन होता है तथा व्यक्ति का शरीर ब्रह्मतेजोमय हो जाता है' जैसा अभिमत प्रभावित लगता है।[१०] वीरमित्रोदय द्वारा संस्कार की दी गई परिभाषा से भी लगभग इसी बात का समर्थन होता है। शास्त्रविहित कर्मों के सम्पादन से दो प्रकार की विलक्षण योग्यता की प्राप्ति होती है। प्रथम उपनयन संस्कार से व्यक्ति जहाँ वेदाध्ययन के योग्य हो जाता है वहीं जातकर्म संस्कार से दोषों यथा वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों का मोचन हो जाता है।[११] पुराणों में यद्यपि संस्कारों की सांख्यिक परिगणना तो नहीं की गई है, किन्तु उनमें संस्कारों के स्थूलत: नित्य एवं नैमित्तिक जैसे दो विभाजन प्राप्त होते हैं।[१२] वायु, विष्णु, मत्स्य, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, उपनयन, विवाह एवं अन्त्येष्टि जैसे ९ संस्कारों का आनुषंगिक उल्लेख मिलता है; विष्णुधर्मोत्तर पुराण में निष्क्रमण संस्कार का भी उद्धरण है। इन संस्कारों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष नारियों से भी सम्बद्ध किया जा सकता है।[१४] यहाँ इन्हीं संस्कारों की विवेचना है।

गर्भाधान - न केवल नर-नारी के रूप में मानव वरन् नर-मादा के रूप में समस्त जीव-जन्तुओं में परस्पर आकर्षण, और मैथुन एक सहज स्वाभाविक कर्म है, मैथुनी सृष्टि के लिये तो यह अनिवार्य है। परन्तु चिन्तनशील मनुष्य की यह विशेषता है कि इस सहज स्वाभाविक प्रक्रिया को भी उसने गर्भाधान जैसे संस्कार से आनुष्ठानिक बना दिया। इस संस्कार का सूत्र एवं धर्मशास्त्र साहित्य में बहुश: उल्लेख है। ऐसी मान्यता मिलती है कि गर्भाधान विधि से सम्भोग पर व्यक्ति पत्नी में वेदाध्ययन योग्य भ्रूण उत्पन्न करता है।[१५]

पुराणों में गर्भाधान को निषेक, ऋतु-उपगम आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। विष्णु पुराण में ऋतु-उपगम नाम से गर्भाधान संस्कार का निर्देश मिलता है। उसके अनुसार ऋतुकाल में स्वस्त्री के साथ सहवास करना उचित है। पुलिंग नक्षत्र में युग्म और उसमें भी पीछे की रात्रियों में शुभ समय में स्त्रीप्रसंग करना उपयुक्त माना गया है।[१६] मार्कण्डेय पुराण में गर्भाधान संस्कार का उल्लेख करते हुए कहा गया कि महर्षि ऋतवाक् ने गर्भाधान विधि से पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से स्त्री के साथ समागम किया था।[१७] वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में देवाव्रध द्वारा तेजस्वी पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा से गर्भाधान क्रिया सम्पन्न करने का विवरण मिलता है।[१८] नारद पुराण में गर्भाधान संस्कार के लिए 'निषेक' शब्द प्रयुक्त हुआ है जहाँ पति को सर्वोच्च बताया गया है, क्योंकि वह निषेक्ता अर्थात् सन्तति उत्पन्न कराने वाला है।[१९] मत्स्य पुराण में महर्षि कश्यप द्वारा दिति में गर्भाधान संस्कार किये जाने का उल्लेख है।[२०] विष्णु पुराण में गर्भाधान संस्कार के सन्दर्भ में कतिपय आवश्यक एवं अनुसरणीय नियमों का भी उल्लेख है। सहवास से पूर्व शारीरिक एवं मानसिक अवस्था को ध्यान में रखना पड़ता था। अप्रसन्न, अस्वस्थ्य, रजोविशिष्ट, भयग्रस्त गर्भिणी, अनुदार, अनिच्छुक, क्षुधा-ग्रस्त, अथवा अतिभुक्त स्त्री से सहवास निषिद्ध माना गया है। सहवास के लिये स्त्री का पूर्णत: स्वस्थ, प्रसन्न एवं इच्छुक होना आवश्यक कहा गया है।[२१]

मनु, याज्ञवल्क्य जैसी प्राचीन स्मृतियों में इस संस्कार को पवित्रता प्रदान करने वाला और पापमोचक कहा गया है।[२२] यद्यपि इस तथ्य को लेकर स्मृतिकारों एवं टीकाकारों में मतभेद है कि गर्भाधान, भ्रूण स्थित भावी शिशु का संस्कार है अथवा स्त्री का। भावी शिशु का संस्कार मानने वाले इसे गर्भवती होने तक करते रहने की बात करते हैं[२३] जबकि स्त्री- संस्कार मानने वाले एक बार प्रथम स्त्री संभोग के समय।[२४] ऐसा लगता है कि प्रथमत: तो यह गर्भ संस्कार ही था, कालान्तर में इसका सरलीकरण कर दिया गया और क्षेत्र संस्कार के रूप में मान्यता देकर एक ही बार करने की मान्यता विकसित हुई।[२५] वैदिक काल में १० पुत्रों की कामना की जाती थी, संभव है कि प्रत्येक पुत्र की प्राप्ति के लिए गर्भाधान किया जाता रहा हो। यद्यपि एक पुत्र-प्राप्ति तक सहवास की बात तो कूर्म पुराण से भी स्पष्ट है।[२६] वास्तव में अपने वर्णित रूप में यह संस्कार गर्भ एवं क्षेत्र दोनों से सम्बद्ध किया जा सकता है।

पुंसवन - 'पुसवनात् पुंसी करोति पुंसवन: पुमान प्रसूयते येन कर्मणा तत्पुंसवनमीरितम्'[२७] से स्पष्ट है कि यह संस्कार गर्भ पुरुष या नर बनाने की दृष्टि से सम्पन्न किया जाता था। इस प्रकार यह संस्कार पुत्र की इच्छा का द्योतक है। गर्भावस्था के तीसरे या चौथे मास के भीतर ही यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था।[२८] विष्णु पुराण में कश्यप द्वारा दिति के संग पराक्रमी पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से यह संस्कार सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[२९] मत्स्य पुराण में भी महर्षि कश्यप द्वारा दिति में गर्भाधान कर, पराक्रमी पुत्र प्राप्ति हेतु सम्पन्न क्रिया-विधानों का सविस्तार विवरण है। इसमें गर्भ-निर्वाह की अवधि तक दिति के लिए जहाँ संध्या-बेला में भोजन, मानसिक उद्वेग, मुक्त केश रहना, कलह करना, आलसी एवं निद्रालु होना, अँगड़ाई लेना, अपवित्र रहना आदि का निषेध किया गया है, वहीं गुरुजनों की सेवा, मांगलिक कार्यों में तत्परता, स्वच्छ एवं सुन्दर वस्त्रादि को धारण करना, वास्तु-पूजा, प्रसन्नचित रहना, पति के प्रियकर एवं हितकर कार्यों में अनुराग प्रदर्शन करना इत्यादि का निर्देश भी है।[३०] स्त्री द्वारा इस प्रकार के आचरण से शीलवान एवं आयुष्मान पुत्र प्राप्ति होने की अभिशंसा भी मिलती है।[३१]

इस प्रकार इन क्रियाओं का उद्देश्य वीर और गुणी पुत्र की प्राप्ति थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पुत्र प्राप्ति की यह अभिलाषा युद्ध-रत वैदिक समाज की आवश्यकता का सुफल रही।[३२] अथर्ववेद के एक उद्धरण में पति-पत्नी से दस मास के उपरान्त पुत्र प्राप्ति की कामना करता है।[३३] गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतियों में तो पुत्र-प्राप्ति के लिए किये जाने वाले विधि विधानों का सविस्तार वर्णन मिलता है। पुराणों में इस प्रकार से सम्बन्धित विधानों का तो उल्लेख है लेकिन पुंसवन शब्द प्रारंभिक पुराणों में प्राय: नहीं मिलता है। यद्यपि पुराणों में वर्णित विशिष्ट प्रकार के अनुष्ठान को साम्यता के आधार पर पुंसवन संस्कार से अभिहित किया जा सकता है। भविष्य पुराण में पुंसवन शब्द का सुस्पष्ट प्रयोग है जिससे पौराणिक परम्परा में इस संस्कार के स्पष्ट प्रचलन का प्रमाण मिलता है।[३४] इस संस्कार विशेष के अध्ययन से स्पष्ट है कि भले ही इस संस्कार के पीछे पुत्र-प्राप्ति की कामना हो किन्तु यह दंपत्ति द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था जिसमें स्त्रियों की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। मिताक्षरा[३५] में तो इसको स्पष्ट रूप से स्त्री संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त है।

सीमन्तोन्नयन -इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य गर्भपात को रोकना तथा गर्भस्थ शिशु को स्वस्थ रखना था। यह संस्कार गर्भावस्था के छठें या आठवें मास में सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार के समय गर्भिणी स्त्री के केशों को ऊपर उठाया जाता था। इस संस्कार का

मूल प्रायोजन माता के ऐश्वर्य में वृद्धि तथा उत्पन्न होने वाले शिशु के लिए दीर्घायु की कामना करना था।[३६] आनुषंगिक ही सही गृहस्थ के कर्त्तव्य के रूप में विष्णु पुराण में सीमन्तोन्नयन संस्कार का सन्दर्भ प्राप्त होता है। इसमें निर्देश है कि गृहस्थ को सीमन्तोन्नयन के अवसर पर प्रयत्नशील होकर नान्दीमुख नामक पितरों की अर्चना करनी चाहिये।[३७] इस प्रकार के अनुष्ठान पर पारस्कर गृह्य सूत्र का प्रभाव लक्षित होता है। वसिष्ठ गृह्यसूत्र में भूतप्रेतों को आतंकित करने के उद्देश्य से पत्नी के ऊपर एक लाल चिह्न बनाने का विधान मिलता है।[३८] गृह्यसूत्रों के प्रकाश में पुराणोक्त विवरणों से अनुमान होता है कि गर्भावस्था में गर्भिणी स्त्री की सुरक्षा हेतु उसके स्वास्थ्य एवं सुविधा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। मार्कण्डेय पुराण में वर्णित है कि दुःसह का 'गर्भहा' सातवाँ पुत्र है। वह स्त्रियों के गर्भ में प्रविष्ट होकर भ्रूण का नाश कर देता है, वह बड़ा क्रूर है। उससे बचने के लिए सदा मन, वचन, कर्म में शुद्धता का आधान, प्रसिद्ध मन्त्रों का लेखन, प्रशस्त माल्यादि मांगलिक पदार्थों का उपयोग, पवित्र गृह में वास, तथा व्यग्रता का परित्याग आदि आवश्यक उपाय हैं।[३९] इस प्रकार सीमन्तोन्नयन संस्कार की प्रकृति-विवेचन से स्पष्ट है कि यह संस्कार भी गर्भाधान एवं पुंसवन की तरह स्त्री संस्कार है।[४०] यद्यपि इन्हें एक बार सम्पादित करने का विवरण मिलता है, किन्तु यह असम्भव नहीं कि प्रारम्भ में इनका प्रत्येक गर्भ के समय सम्पादन किया जाता रहा हो। गर्भाधान पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन इन तीनों संस्कारों की प्राक्जन्म संस्कार के रूप में परिगणना की जाती है।

जातकर्म - गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों में जातकर्म संस्कार का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराणों में भी इसका विवरण मिलता है। विष्णु पुराण में जातकर्म का उल्लेख एक प्रमुख संस्कार के रूप में हुआ है। इसमें पुत्र-जन्म के अवसर पर जातकर्म क्रिया सम्पन्न करने का निर्देश मिलता है। इस संस्कार के सम्पादन के लिए आभ्युदयिक श्राद्ध को प्रमुखता दी गयी है। इस अवसर पर पिता के द्वारा सवस्त्र स्नान करना तथा नान्दीमुख पितृगण हेतु आभ्युदयिक श्राद्ध करने का विधान है।[४१] वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में इसे शुद्धि, सुअवसर एवं प्रतिष्ठा के विषय के रूप में वर्णित किया गया है।[४२] मार्कण्डेय पुराण में रैवत मनु के जन्म के अवसर पर उनके पिता ऋतवाक् द्वारा विधिपूर्वक जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[४३] ब्रह्मपुराण भी इस संस्कार के सन्दर्भ में विष्णु पुराण-विहित व्यवस्था की सम्पन्नता का निर्देश देता है।[४४] इस संस्कार का अपना पारम्परिक महत्त्व है। मनु ने नाभिच्छेदन के पहले पुरूष का जातकर्म संस्कार वैदिक मंत्रों के साथ किये जाने का उल्लेख किया है। बिना मन्त्र के ही सही, कन्या के भी जातकर्म अनुष्ठान के सम्पादन का विवरण है। इस अवसर पर शिशु को सोना, घी तथा मधु का प्राशन कराया जाता है।[४५] मनु द्वारा विहित इसी व्यवस्था का उल्लेख भविष्य पुराण में भी मिलता है।[४६] महाभारत में महाराजा अश्वपति द्वारा अपनी कन्या सावित्री के जातककर्मादि संस्कारों की सम्पन्नता का सन्दर्भ दिखाई देता है जिसे कन्याओं के जन्म पर भी इस प्रकार संस्कारों को सम्पन्न किये जाने का सूचक कहा जा सकता है।[४७]

नामकरण - प्राचीन काल से ही जगत-व्यवहार हेतु नामकरण की उपयोगिता चली जा आ रही है। विष्णु पुराण में इस संस्कार का स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन है। इसमें नामकरण के काल तथा नामार्थक शब्दों के स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है। समय की दृष्टि से जन्मोपरांत दसवाँ दिन उचित बताया गया है और नाम-संबोधन के लिए देवतावाचक शब्द प्रशस्त माने गये हैं। नामकरण का लगभग इसी प्रकार का विधान खादिर गृह्यसूत्र में भी मिलता

है।[४८] अर्थहीन, अप्रशस्त, अपशब्द सूचक, अमंगलबोधक विषमाक्षर नाम के प्रयोग का निषेध किया गया है। इसी प्रकार अतिदीर्घत्व, अतिह्रवस्वत्व तथा अतिगुरुत्व की भी वर्जना है। वास्तव में यहाँ नामों के उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से अनुदृष्टि लगता है।[४९] भविष्य पुराण में स्त्रियों के नाम के सुख देने वाले, मृदु भावना के प्रतीक, सरल, स्पष्ट, मनोहारी, मांगलिक तथा दीर्घवर्णान्त, आशीर्वादत्मक होने की अनुशंसा है।[५०] मत्स्य पुराण में सावित्री और शतरूपा जैसे देवती विषयक नामों की प्रशंसा है।[५१] मार्कण्डेय पुराण में रेवती नक्षत्र की कान्ति से उत्पन्न होने वाली कन्या का द्विजवर भागुरि प्रमुच मुनि द्वारा रेवती नामकरण करने का उल्लेख मिलता है।[५२] स्त्री नामकरण के सन्दर्भ में पारस्कर गृह्यसूत्र में विषम संख्या वाले दीर्घ आकारन्त तद्धितयुक्त रखने का निर्देश है।[५३] मनु स्मृति में भी स्त्री नाम के उच्चारण में सुखकर और सरल, सुनने में अक्रूर, मनोहर मंगलसूचक, दीर्घवर्णान्त और आशीर्वादत्मक होने पर बल दिया गया है, साथ ही वहाँ नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षी, सर्प आदि से सम्बद्ध नामकरण का निषेध मिलता है।[५४] महाभारत के आदिपर्व में उल्लेख है कि महाराज शान्तनु वन में पड़े हुए कृप एवं कृपी को उठाकर घर लाये और शास्त्रानुसार उनका नामकरण संस्कार किया।[५५]

चूड़ाकर्म -प्रस्तुत संस्कार का प्रमुख उद्देश्य शिशु के गर्भावस्था के केशों का कर्तन करना था। इस संस्कार में शिखा को छोड़कर सिर के सम्पूर्ण बाल काट दिये जाते थे। यह संस्कार व्यक्ति के दीर्घायु, सौन्दर्य तथा कल्याण के लिए सम्पन्न किया जाता था।[५६] विष्णु एवं मत्स्य जैसे पुराणों में भी इस संस्कार का उद्धरण मिलता है। चूड़ाकर्म के सन्दर्भ में विष्णु पुराण में नान्दीमुख पितरों की अर्चना का विधान है।[५७] मत्स्य पुराण में इसका उल्लेख अशौच अवधि के वर्णन क्रम में हुआ है। ऐसा उल्लेख है कि चूड़ा कर्म के पूर्व की तथा एक रात्रि उपरान्त की तीन रात्रि तक तथा एतत्पूर्व बालक अशौच होता है।[५८] पूर्वकालीन धर्मशास्त्र मनुस्मृति से इस प्रकार के अनुदेश को समर्थन मिलता है।[५९] इस संस्कार के बालक के साथ बालिका के भी किये जाने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

निष्क्रमण संस्कार - विष्णु धर्मोत्तर पुराण में आनुषंगिक ही सही निष्क्रमण संस्कार का उल्लेख मिलता है जिसमें प्रार्थना की गई है कि यह शिशु प्रमत्त हो या अप्रमत्त इन्द्र के नेतृत्व में सब देव इसकी रक्षा करें[६०]

उपनयन - 'उपनयन' शब्द 'उप' उपसर्गपूर्वक नी धातु में ल्युट प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न है। जिसका अर्थ है - 'पास ले जाया जाना'। इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य छात्र या छात्रा को शिक्षा.प्राप्ति हेतु गुरु के समीप ले जाना होता है।[६१] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उपनयन संस्कार का अर्थ समझाते हुए कहा गया है कि विद्या अध्ययन के इच्छुक व्यक्ति के लिए श्रुति विहित संस्कार को उपनयन संस्कार कहते थे।[६२] वस्तुत: यह उपनयन संस्कार आर्यो की श्रेणी में आने तथा वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करता है। विष्णु स्मृति, जिससे विष्णु धर्मोत्तर पुराण बहुत कुछ प्रभावित लगता है, में इस उपनयन संस्कार को द्विजत्व का निर्धारक कहा गया है और वहाँ यह स्पष्ट उद्घोष है कि मौंजीबन्धन के पूर्व द्विज परिवार में जन्म लेते हुए भी व्यक्ति शूद्र-सम होता है।[६३] उपनयन संस्कार की विधि एवं निदर्शन के स्थल विष्णु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि उपनयन संस्कार से संस्कृत होकर गुरु के घर में विद्या लाभ करना चाहिये। अन्यत्र राजा सगर के विषय में ऐसा ज्ञात होता है कि उपनयन संस्कार सम्पन्न करने के उपरान्त ऋषि और्व ने उन्हें वेद-शास्त्र का अध्ययन कराया था।

जडभरत के विषय में प्रसिद्ध है कि उपनयन के उपरांत गुरु द्वारा उनके अध्ययन की आशा की गयी।[६४] ब्रह्माण्ड पुराण में राजा शिवदत्त द्वारा अपने पुत्रों का सांगोपांग विधि से उपनयन संस्कार तथा वेद अध्ययन कराने का प्रसंग मिलता है।[६५] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि पौराणिक समाज में भी वेदों के अध्ययन के लिए व्यक्ति का उपनयन संस्कार होना आवश्यक माना जाता था। स्त्री-उपनयन के संदर्भ में पुराण मौन हैं जबकि पुराणों में उच्च ज्ञान प्राप्त स्त्रियों के अनेक प्रसंग मिलते हैं लेकिन उनके उपनयन या शिक्षा सम्बन्धी किसी संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

यद्यपि पुराणों में शिक्षित स्त्रियों के दो वर्ग दिखाई देते हैं, पहला आध्यात्मिक वर्ग दूसरा व्यावहारिक वर्ग। इनकी समानता सूत्र-साहित्य में उल्लिखित ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू वर्ग से की जा सकती है।[६६] पहले वर्ग की स्त्रियाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करती थीं तथा ब्रह्मचर्य पालन करते हुए ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड एवं वायु पुराणों में बृहस्पति-भगिनी के विषय में आख्यात है कि उसने योग में सिद्धि प्राप्त कर आसक्ति रहित भाव से समस्त पृथ्वी का पर्यटन किया था।[६७] पुराणों में एकपर्णा, अपर्णा तथा एकपाटला नामक तीन कन्याओं द्वारा घोर तप करने तथा ब्रह्मवादिनी होने का विवरण मिलता है[६८] मत्स्य पुराण में स्पष्ट रूप से पार्वती के ब्रह्मचारिणी-रूप का उल्लेख मिलता है। यहाँ कहा गया है कि हिमालय पुत्री पार्वती उस पर्वत-शिखर पर तपस्या करने गयी थी जहाँ देवगण भी नहीं जाते थे। तदन्तर उसने अपने वस्त्रों का त्याग कर वल्कल वस्त्र तथा कुश की बनी हुई मेखला को धारण किया था। सर्वप्रथम सौ वर्षों तक वे तीनों बेला स्नान कर पाटंल वृक्षों के पत्तों का भोजन करती रहीं। उसके बाद वे सौ वर्षों तक सूखे पत्तों से जीवन यापन करती रहीं। कालान्तर में अन्य सौ वर्षों तक निराहार रहकर घोर तपस्या का भी संदर्भ मिलता हैं। वे अपनी इन क्रियाओं से तपोनिधि होकर ब्रह्मचारिणी कहलायीं।[६९] इसी प्रकार का एक अन्य उल्लेख बाणभट्ट के ग्रंथ कादम्बरी की स्त्री-पात्रा महाश्वेता के सन्दर्भ में है। यहाँ उसे घोर तपस्या में रत ब्रह्मसूत्र पहने दर्शाया गया है।[७०] यहाँ ब्रह्मसूत्र का आशय यज्ञोपवीत ही प्रतीत होता है क्योंकि यज्ञ ब्रह्म का एक रूप है। चूंकि यज्ञोपवीत ब्रह्म से मिलाने का सूत्र होता है, अत: इसे यज्ञोपवीत कह सकते हैं। कन्याओं के लिए ब्रह्मवादिनी या ब्रह्मचारिणी विशेषणों के प्रयोग तथा उनकी कठिन ब्रह्मचर्यपूर्ण तपश्चर्या एवं उच्च आध्यात्मिक ज्ञान की सम्पन्नता से आभास होता है कि इनका भी उपनयन होता था। जैसा कि हारीत धर्मसूत्र के एक प्रसंग में वर्णित है कि प्राचीन काल में नारी समाज भी वेदाध्ययन करता था। वे वेदाध्ययन तथा सावित्री मन्त्रों का जाप करती थीं। वे ब्रह्मचर्य स्वरूप मुंज-मेखला भी धारण करती थीं तथा स्वगृह में भिक्षाटन करती थीं और अपने घर में ही पिता, चाचा, भाई आदि से शिक्षा प्राप्त करती थीं।[७१] पौराणिक साहित्य में स्त्रियों के उपनयन संस्कार के अनुल्लेख का कारण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उसकी लोकान्मुखी दृष्टि रही होगी। मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों का मानना है कि स्त्रियों को वैदिक मन्त्रों के पाठ का अधिकार नहीं तथा था उनका उपनयन संस्कार भी मंत्रहीन एवं औपचारिक होना चाहिये।[७२] जबकि भृगु आदि कुछ परवर्त्ती स्मृतिकार स्त्री-उपनयन के पक्ष में थे। उनका मानना था कि बालक तथा बालिकाओं का समान रूप से उपनयन होना चाहिये तथा उन्हें वेदाध्ययन करना चाहिये।[७३] केवल रजस्वला अवस्था में उनके वेदाध्ययन को प्रतिबन्धित बताया गया है।[७४] काणे महोदय ने अपने ग्रंथ में ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिए उपनयन की सम्पन्नता का उल्लेख किया है।[७५] इन विवरणों में वैदिक कालीन उस परम्परा का निर्वाह दिखाई पड़ता है जहाँ उपनयन बालक तथा बालिकाओं के लिए समान रूप से प्रचलित था तथा विवाह से पूर्व स्त्री का उपनीत होना आवश्यक माना जाता था।[७६]

अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि ब्रह्मचर्य पालन से ही कन्या, युवा एवं योग्य पति प्राप्त कर सकती है।[७७] पुराणों में उमा, पीवरी, धर्मव्रता आदि कन्याओं द्वारा उत्तम पति-प्राप्ति हेतु तीव्र तपश्चर्या का उल्लेख प्राप्त होता है।[७८] पूर्व में कन्याओं एवं बालकों की समतुल्यता की आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित समावर्तन संस्कार से संगति बैठती है। उल्लेख है कि समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर अपने दोनों हाथों पर उबटन लगाकर ब्राह्मण युवक जहाँ मुख के अग्र भाग पर लेप करता था क्षत्रिय भुजा पर और वैश्य उदर पर वहीं स्त्रियाँ अपने गर्भस्थान पर लेप करती थीं।[७९] समयान्तराल और बदलते परिवेश के कारण स्त्रियों की स्थिति में ह्रास आया और श्रुति पाठ उनके लिये निषिद्ध हो गया जिससे उनके उपनयन संस्कार अमन्त्रक होने लगे। कदाचित् पौराणिक समाज में भी कन्याओं का उपनयन स्मृतियों की परम्परानुसार बिना मंत्रों के होता रहा हो; लेकिन समाज में अति अल्प प्रचलित होने के कारण पुराणकारों ने इसका उल्लेख न किया हो। उनके द्वारा स्त्रियों को वैदिक शिक्षा और ब्रह्म ज्ञान के अयोग्य करार दिये जाने के पीछे भी इसी भाव का अनुमान किया जा सकता है।[८०]

विवाह - सोलह संस्कार-विधान में विवाह संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है। हिन्दू समाज में विवाह का अभिप्राय नर-नारी के उस अटूट एवं पवित्र गटबन्धन से लिया गया है जिसके साथ हिन्दुओं की इहलौकिक और पारलौकिक जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भावनाएँ जुड़ी हैं।[८१] नारी जीवन में इस विवाह-संस्कार की महत्ता प्राचीन काल से ही स्वयं सिद्ध है। वैदिक कालीन आश्रम व्यवस्था में गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों की आत्मा के रूप में दर्शाया गया है। इसका प्रथम सोपान विवाह संस्कार है जिसके मूल में है - नारी। सर्वप्रथम नारी के मौलिक गुणों के मूल्यांकन द्वारा ही विवाह संस्कार सम्पादित होता है। इसके उपरान्त पति-पत्नी आजीवन एक दूसरे का साथ निभाते हुए सन्तानोत्पत्ति कर धर्म, अर्थ, काम रूपी पुरुषार्थों का सम्पादन करते हुए मोक्ष रूपी जीवन के परम् लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। स्पष्ट है कि विवाह संस्कार ही भारतीय सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था का मूल बिन्दु है जिसके चारों ओर घूमते हुए हमारी विभिन्न परंपरायें अपना महत्त्व प्रांप्त करती हैं।

पौराणिक वाङ्.मय में विवाह संस्था को देवों द्वारा प्रादुर्भूत पुरुष के अपूर्ण व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करने हेतु स्थापित बताया गया है।[८२] इसके निमित्त परम-पुरुष ने स्वयं को नर-नारी दो रूपों में विभक्त किया था। इसका प्रमुख उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति तथा धर्म पालन था।[८३] पुराण वर्णित इस व्यवस्था में सूत्र-साहित्य तथा स्मृतियों में वर्णित पूर्ववर्ती परम्परा[८४] का पूर्ण निर्वहन दिखाई पड़ता है। अनेक पुराणों के अध्ययन से स्त्रियों के शूद्र सम स्थिति का अनुमान होता है, जिनमें अमन्त्रक संस्कार भी इस प्रकार के अनुमान को बल देते हैं किन्तु द्विज स्त्रियों के विवाह संस्कार का समन्त्रक होना उन्हें शूद्रों से पृथक और उच्च बनाये रखने में सहायक लगता है।

हिन्दू विवाह के सम्यक् अनुशीलन से स्पष्ट है कि न केवल यह एक संस्कार है; अपितु यह व्यक्ति के वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का प्रमुख साधन है। पुराणकारों का मानना है कि गृहस्थ जीवन में प्रवेश के लिए विवाह ही एक मात्र द्वार है, जिसमें प्रवेश कर व्यक्ति त्रिवर्ग की प्राप्ति, त्रिऋण से उऋण हो भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करता है। इसीलिए सूत्र ग्रन्थों, स्मृतियों तथा पुराणों में समान रूप से द्विजातियों के लिए वेदाध्ययन की समाप्ति के अनन्तर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए विवाह

का विधान किया गया है।[८५] पुराणों में उल्लेख है कि समावर्तन संस्कार के अनन्तर विवाह करके ही पुरुष गृहस्थाश्रमी कहलाता है, क्योंकि पत्नी के बिना गृहस्थ आश्रम की कल्पना भी संभव नहीं मानी जा सकती।[८६] यह भावना वैदिक साहित्य तथा महाकाव्यों से प्रेरित दिखाई पड़ती है जहाँ पत्नी को ही गृह तथा गृह की आत्मा कहा गया है।[८७]

उत्तर वैदिक काल से प्रचलित त्रिऋण से उऋण होने को ही पुराणों, स्मृतियों तथा महाकाव्यों में गृहस्थ का परम कर्त्तव्य बताया गया है।[८८] मार्कण्डेय पुराण में मुक्तसंग रुचि प्रजापति को निर्देशित करते हुए कहा गया है कि विवाह न करके वह प्रतिदिन देवों, पितरों, मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के ऋणों से मुक्त न होने के कारण बन्धन ग्रस्त रहेगें।[८९] श्री मद्‌भागवत पुराण में शवलाश्वों को ऋणत्रय से मुक्त होने से पूर्व ही निवृतिमार्गी बना देने वाले नारद पर दक्ष के कुपित होने का वर्णन विवाह की अनिवार्यता का बोधक है।[९०]

अन्त्येष्टि संस्कार - अन्त्येष्टि संस्कार को मानव जीवन के अन्तिम संस्कार के रूप में मान्यता लक्षित होती है। अन्त्येष्टि संस्कार की सम्पन्नता का उद्देश्य मृत प्राणी को परलोक में मिलने वाली शान्ति से था। विष्णु पुराण में अन्त्येष्टि संस्कार सम्बन्धी वर्णन के अनुसार मृत शरीर को स्नान कराकर, पुंष्पमाला से विभूषित कर, गाँव से बाहर ले जाकर, दाह संस्कार कर स्वयं जलाशय में सवस्त्र स्नान करने का निर्देशे। इसके उपरान्त मन्त्रोच्चारण सहित जलांजलि देनी चाहिये।[९१] मत्स्य तथा विष्णु पुराण में उल्लेख है कि शवदाह के बाद अशौच अवधि का प्रारम्भ होता जो सामान्यत: सभी वर्णो में तेरह दिन तक चलता है। वर्ण-क्रम के अनुसार ब्राह्मण का अशौच दस, क्षत्रिय का बारह, वैश्य का पन्द्रह तथा शूद्र का तीस दिन तक रहता है।[९२] मत्स्य पुराण के अनुसार मृत्यु के उपरान्त प्रेत-आत्मा के लिए बारह दिनों तक पिण्डदान करना चाहिये। पौराणिक मान्यता के अनुसार पिण्ड उसके लिए पाथेय के रूप में सुख प्रदान करता है। विवरणक्रम में यह भी विवृत है कि बारह दिनों तक प्रेत-आत्मा प्रेतपुरी में नहीं जाती। वह अपने घर, पुत्र तथा पत्नी को देखती रहती है। अतएव उसकी तुष्टि के लिए दस रात्रि तक जलांजलि अवश्य देना चाहिये। ग्यारहवें दिन ग्यारह ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये।[९३] विष्णु पुराण में इस अवधि में सपिण्डों को ब्रह्मचर्य-पालन का निर्देश भी दिया गया है।[९४] पुराणों में इसी क्रम में एकादिष्ट श्राद्ध का विधान भी उपलब्ध होता है।[९५]

पुराणों में स्त्रियों के अन्त्येष्टि संस्कार के सन्दर्भ में कोई विशिष्ट सूचना नहीं मिलती परन्तु यहाँ मृत-आत्मा शब्द से सामान्यत: यह ध्वनित होता है कि स्त्री तथा पुरुषों में यह संस्कार समान रूप से प्रचलित रहा होगा। मार्कण्डेय तथा विष्णु पुराणों में प्रेतकर्म आदि के वर्णनक्रम में एकोदिष्ट श्राद्ध के सन्दर्भ से भान होता है कि प्रतिवर्ष मरण दिन पर पुरुषों के समान स्त्रियों का भी उत्तर-कर्म तथा एकोदिष्ट श्राद्ध प्रचलित रहा होगा। मार्कण्डेय तथा विष्णु पुराणों के विवरण को इस प्रकार के अभिमत के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[९६] स्त्री-अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण में भी मिलता है। यहाँ राजा शत्रजित द्वारा अपनी पुत्र-वधू मदालसा की अन्त्येष्टि क्रिया के उपरान्त स्नान द्वारा शुद्धि का वर्णन है।[९७]

इस प्रकार पुराणों में वर्णित संस्कारों में स्त्री संस्कार के प्रति मौन भाव अवश्य है किन्तु पूर्व के सूत्र साहित्य एवं धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों के आलोक में स्त्री-संस्कार की भी एक रूप रेखा तैयार की जा सकती है। सतर्क विवेचना से लगता है कि पुराणों में भी पुरुष संस्कारों के समान स्त्री संस्कारों के प्रति पूर्वपरम्परा का ही न्यूनाधिक पालन किया गया है। अपनी

लोकोन्मुखी दृष्टि तथा यज्ञ-यज्ञादि एवं अन्य कर्मकाण्डों की अपेक्षा व्रत, पर्व, तीर्थ आदि को अधिक महत्त्व देने वाले पुराणों के लिए संस्कार के प्रति पुराणों की उदासीनता को स्वाभाविक ही कहा जा सकता है।

संदर्भ

१. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार, तृतीय संस्करण, वाराणसी, १९७८, पृ० ३५०.

२. मनुस्मृति - २.६६ - अमन्त्रिकातु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थे शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमं।
९.१८ - नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रेरिति धर्मे व्यवस्थितः; २.६७ - वैवाहिकी विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः, याज्ञवल्क्य स्मृति १.१३ - विवाहस्तु समन्त्रकः, देखें, विष्णु स्मृति, २७.१३; वृहत्पराशर, ६.१५१ आदि। वेदव्यास स्मृति, १.१५ - नवताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जः क्रियाःस्त्रियाः।

३. हारीत के उद्धरण के लिए देखें वीरमित्रोदय, संस्कार प्रकाश, पृ० ४०२.

४. आश्वलायन गृह्यसूत्र ३.८.८२, तुलना के लिए देखें, सिंह लता, भारतीय संस्कृति में नारी, प्रथम संस्करण, १९९१, दिल्ली, पृ० १५७.

५. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२४.६.

६. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू संस्कार, वही पृ० ११ और आगे।

७. पाण्डेय, राजबली, वही, पृ० १५.

८. मत्स्य पुराण, १३५.२-३.

९. मनु स्मृति, २.२६-२७.

१०. भविष्य पुराण, १.३.२-३.

११. काणे, पाण्डुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १७६.

१२. नित्यनैमित्तिकः काम्याः क्रिया पुंसामशेषतः। विष्णु पुराण, ३.१०.२.

१३. भविष्य पुराण, तीसरा तथा सातवाँ अध्याय।

१४. सन्दर्भ एवं विवेचना के लिये देखें राय, सिद्धेश्वरी नारायण, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० २१५-२३८.

१५. संस्कार तत्त्व में उद्धृत हारीत का अभिमत।

१६. विष्णु पुराण, ३.११.११४.

१७. मार्कण्डेय पुराण, ७५.१६.

१८. तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः। वायु पुराण, ९६.१२; ब्रह्माण्ड पुराण, ३.७१.१२.

१९. नारद पुराण, ३०.४०-४१.

२०. दित्यां गर्भमथाधत्त कश्यपः प्राह तां पुनः। मत्स्य पुराण, ७.३६.

२१. विष्णु पुराण, ३.११.११६-१७.

२२. मनुस्मृति २.२६, २.२७-२८ तथा याज्ञवल्क्य स्मृति १.१३, १.७९.

२३. याज्ञवल्क्य स्मृति १.११ पर विश्वरूप की टीका; तुलनीय, लघुआश्वलायन ४.१७..

२४. याज्ञवल्क्य स्मृति १.११ पर मिताक्षरा की टीका; तुलनीय, पारस्कर गृह्यसूत्र १.१५ आदि।

२५. पाण्डेय, राजबली, वही, पृ० ६८-६९.

२६. ऋतुकालाभिगामी स्याद्यावत्पुत्रोऽभिजायते।
दशास्यांपुत्रानाधेहि प्रशंसार्था श्रुतिः स्मृता।।
कूर्म पुराण, सं० चं आह्निक प्रकरण में उद्धृत।

२७ शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृ० १६६ पर उद्धृत।

२८. देखें, पाण्डेय, राजबली, वही, पृ० ७५. २९. विष्णु पुराण, १.२१.३३-३४.

३०. मत्स्य पुराण, ७.३६-४५. ३१. वही, ७.४७.

३२.पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धत, पृ० ७३.

३३. आ वीरोत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः। अथर्ववेद, १.४.८-९.

३४. गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयने तथा। भविष्य पुराण, १.३२.

३५. देखें याज्ञवल्क्य स्मृति, १.११ पर मिताक्षरा की टीका।

३६. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धत, पृ० ७९-८०. ३७. विष्णु पुराण, ३.१३.६.

३८. पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धत, पृ० ८१. ३९. मार्कण्डेय पुराण, ५.२१-२२.

४०. देखें याज्ञवल्क्य स्मृति १.११ पर मिताक्षरा, शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृ० १६६ पर उद्धृत।

४१. विष्णु पुराण, ३.१०४-५; १.१३.१-४.

४२. उद्धरण एवं विवेचना के लिये देखें - राय, एस०एन०, पूर्वोद्धत, पृ० २१५.

४३. मार्कण्डेय पुराण, ७५.३, स तस्य विधिवच्चक्रे जातकर्मादिकाः क्रियाः।

४४. वीरमित्रोदय, संस्कार-प्रकाश, भाग १, पृ० १८२.

४५. प्राड.नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मनुस्मृति, २.२९, कन्याओं के लिए देखें २.६६.

४६. भविष्य पुराण, १.३.५.

४७. भट्टाचार्या, सुखमय, पूर्वोद्धत, पृ० ६३.

४८. ततश्च नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि। विष्णु पुराण, ३.१०.८ , तुलनीय, खादिर गृह्यसूत्र २.४.१२.

४९. विष्णु पुराण, ३.१०.१०-११. ५०. भविष्य पुराण, १.३.११-१२.

५१. मत्स्य पुराण, २०८.११-१२;३.३१. ५२. मार्कण्डेय पुराण, ७५.२५.

५३. आयुजाक्षरमकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्। पारस्कर गृह्यसूत्र १:१७.३, उद्धृत, पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ० १०२.

५४. मनु स्मृति, २.३३; ३.९. ५५. भट्टाचार्या, सुखमय, पूर्वोद्धृत, पृ०६३.

५६. आश्वलायगृह्यसूत्र, १.१७.१२, उद्धृत पाण्डेय, राजबली, पूर्वोद्धृत, पृ० ११९.

५७. विष्णु पुराण, ३.३१.५-६.

५८. शूद्रेषु मासमाशोचं सपिण्डेषु विधीयते। नैशं वाकृतचूडस्य त्रिरात्रं परतः स्मृतम्।।

५९. निर्वृतचूड़कानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते। मनुस्मृति, ५.६७.

६०. पाण्डेय, राजबली, वही पृ० ११३. ६१. शर्मा, मालती, पूर्वोद्धृत, पृ० ८५.

६२. उपनयनं विधार्थस्य श्रुतितः संस्कारः इति। आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.१.९, राय, एस०एन० पूर्वोद्धृत, पृ० २६८-६९.

६३. विष्णु स्मृति, २८.४०.

६४. विष्णु पुराण, ३.१०.१२; ४.३.३७; २.१३.३९.

६५. उपनीयं क्रमात्सर्वांछिवदत्तो महायशा। ब्रह्माण्ड पुराण, ३.३५.१३-१४.

६६. अल्तेकर, ए०एस०, पूर्वोद्धृत, पृ० २००.

६७. ब्रह्माण्ड पुराण, ३.२.२८; वायु पुराण, ६६.२७.

६८. राय, एस०एन०, पूर्वोद्धृत, पृ० २६९. ६९. मत्स्य पुराण, १५४.३०८.

७०. काणे, पी०वी०, पूर्वोद्धृत, पृ० २१९.

७१. हारीत, उद्धृत, वीरमित्रोदय, संस्कार.प्रकाश, पृ० ४०२.

७२. मनुस्मृति, २.६५; ९.१८; २.६७; याज्ञवल्क्य स्मृति, १.१३

७३. आर्य, भारती, पूर्वोद्धृत, पृ० ९२. ७४. वही, पृ० ९२.

७५. काणे, पी०वी०, पूर्वोद्धृत, पृ० २१९.

७६. शतपथ ब्राह्मण, १०.२.२.१; तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३.३.३.२-३;

सिंह, धीरेन्द्र कुमार, ब्राह्मण ग्रंथों में प्रतिबिम्बित समाज एवं संस्कृति, पृ० १२१-१२२.

७७. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्ववेद, ११.५.१८.

७८. मत्स्य पुराण, १५४.२९०.३०८, १५.४-६; वायु पुराण, ४१.३१.

७९. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.८.२.

८०. मत्स्य पुराण, १५४.१५६; विष्णु पुराण, ३.११.१०५.

८१. अच्छेलाल, हिन्दू विधि, पृ० १६.

८२. विष्णु पुराण, १.७.१३-१४; भविष्य पुराण, १.६.२९; स्कन्द पुराण, १.२.३.६३.

८३. ब्रह्माण्ड पुराण, ३.४.१०.

८४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.५.११.१२; याज्ञवल्क्य स्मृति, १.७८.

८५. विष्णु पुराण, ३.९.७; गरुड़ पुराण, ९५.१-२; मनुस्मृति, ३.२; याज्ञवल्क्य स्मृति, १.५१-५२; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.९.२२.७-८.

८६. गृहाश्रमस्तथा नास्ति बिना स्त्रीभिः कथंचन। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, ३.२२४.२४.

८७. ऋग्वेद, ३.५३.४, १०.८५.४६; महाभारत शान्तिपर्व, १४४.६.

८८. मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० २३४-३५, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८६.

८९. मार्कण्डेय पुराण, ९५.३-७.

९०. भागवत पुराण, ६.५.३६-३७.

९१. विष्णु पुराण, ३.१.३.८.

९२. मत्स्य पुराण, १८.२-५; विष्णु पुराण, ३.१३. १३-१९.

९३. मत्स्य पुराण, १८.५-८.

९४. विष्णु पुराण, ३.१३.१६.

९५. मत्स्य पुराण, १८.२३; विष्णु पुराण, ३.१३.२३.

९६. विष्णु पुराण, ३.१४.४०; मार्कण्डेय पुराण, ३०.१७-१८.

९७. मार्कण्डेय पुराण, २२.४६

संस्कार : वैदिक एवं बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में

रंजना मालवीय*

प्राचीन भारतीय समाज में संस्कार का विशिष्ट स्थान रहा है। इसके द्वारा व्यक्ति को संगठित एवं अनुशासित करने का सुप्रयत्न किया गया जिससे वह समाज में रहकर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें। यद्यपि संस्कारों में शुद्धिकरण की भावना सदैव रही है पर उनकी उपयोगिता धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में अधिक विकसित हुई। संस्कारों का प्रचलन वैदिक काल में ही हो गया था किन्तु विस्तृत विवेचन सूत्रों और स्मृतियों में दर्शनीय है।

छठी शती ई0पू0 में बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म में व्याप्त वेदवाद, पुरोहितवाद, यज्ञों और पशु बलि का विरोध किया। तथापि बौद्ध साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म ने पहले से स्थापित वैदिक धर्म से बहुत कुछ ग्रहण किया। कभी–कभी तो उसके क्रिया–कलापों को संक्षिप्त रूप देने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म में वैदिक संस्कारों को कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ स्वीकार किया गया है। संस्कारों का सरलीकरण करके उनका वास्तविक स्वरूप प्रदान करने का सुप्रयत्न किया गया है। दोनों धर्मो में संस्कार का उद्देश्य मानव का शुद्धिकरण एवं उसे पुण्य प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करना है। इस संदर्भ में महास्थविर बोधानन्द जी का विचार द्रष्टव्य है–"संस्कारों से जीवन सुसंस्कृत होकर ऊँचा होता है, ऐसा सुसभ्य मानव समाज का बहुत प्राचीन काल से विश्वास चला आ रहा है।"[1]

यद्यपि धर्मशास्त्रकारों ने संस्कारों की संख्या चालीस तक कही है।"[2] परन्तु प्राचीन भारतीय समाज में सोलह संस्कारा मुख्य रूप से प्रचलित रहे है। जो इस प्रकार हैं–

1. गर्भाधान	2. पुंसवन	3. सीमन्तोन्नयन	4. जातकर्म
5. नामकरण	6. निष्क्रमण	7. अन्नप्राशन	8. चूड़ाकर्म
9. कर्णवेध	10. विद्यारम्भ	11. उपनयन	12. वेदारम्भ
13. केशान्त	14. समावर्तन	15. विवाह तथा	16. अन्त्येष्टि संस्कार।

वैदिक धर्म में निहित इन संस्कारों में से दस संस्कार बौद्ध धर्म में भी सम्पादित किये जाते हैं।[3] इन पर प्रकाश डालने का मैंने यथा संभव प्रयास किया है, जो इस आलेख का उद्देश्य भी है। ये हैं–

*प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व, आर्य महिला महाविद्यालय, वाराणसी

1. गर्भमंगल 2. नामकरण 3. अन्नप्राशन 4. केशकर्तन
5. कर्णवेध 6. विद्यारम्भ 7. विवाह 8. प्रव्रज्या
9. उपसम्पदा एवं 10. अन्त्येष्टि।

गर्भ मङ्गल जिसे पालि भाषा में गब्भ मंगल कहते हैं तथा ब्राह्मण धर्म में पुंसवन नाम से ज्ञात है। पुंसवन संस्कार गर्भस्थ शिशु के कल्याण तथा तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिये किया जाता है।[4] यह गर्भावस्था के तीसरे मास से लेकर आठवें मास के बीच सम्पन्न किया जाता था।[5] इस संस्कार का प्रयोजन ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म में समान है। पुंसवन संस्कार के समय ब्राह्मण धर्म में देवताओं की पूजा अर्चना की जाती है। जब कि बौद्ध धर्म में विद्वान बौद्ध भिक्षु गर्भस्थ बालक के कल्याण के लिये शिशुमाता को त्रिशरण के साथ पंचशील प्रदान करते हैं तथा परित्राण सूत्रों का पाठ करते है। तत्पश्चात् गर्भवती स्त्री को सद्भावना, सद्विचार तथा बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति और संधानुस्मृति में रहने का उपदेश देते है।[6]

आश्वलायन के अनुसार **जातकर्म संस्कार** शिशु की उत्पत्ति के बाद तुरन्त ही, जबकि उसे माता के अतिरिक्त किसी ने भी न देखा हो, सम्पन्न करना चाहिये।[7] इसका उद्देश्य बालक को अनिष्टकारी प्रभावों से रक्षा, स्वस्थ एवं दीर्घायु होने की कामना करना है। मनु ने उल्लेख किया है कि इस संस्कार के अवसर पर बालक को स्वर्ण मिश्रित घृत तथा मधु चटाया जाता है।[8] स्वर्ण त्रिदोष नाशक, घृत आयुवर्द्धक, वात एवं पित्तनाशक तथा मधु कफनाशक होता है। बौद्ध ग्रंथ ललित विस्तर तथा बुद्धचरित् में भगवान् बुद्ध के जन्म के अवसर पर जातकर्म संस्कार किये जाने का वर्णन है। महाकवि अश्वघोष ने उल्लेख किया है कि इस संस्कार को पुत्र स्नेही राजा ने कुल के अनुकूल उचित रीति से सम्पन्न किया था।[9] इस वर्णन से संकेत होता है कि भगवान् बुद्ध का जातकर्म संस्कार बौद्धों के लिये एक आदर्श था तथा उसे मनाना उनका पुनीत कर्त्तव्य था। बुद्धचरित् में भगवान बुद्ध का जातकर्म संस्कार और नामकरण संस्कार एक ही दिन किये जाने का वर्णन है। मनुस्मृति में उल्लखित है कि जन्म के दसवें या बारहवें दिन शुभ तिथि, मुहुर्त्त एवं गुणयुक्त नक्षत्र में **नामकरण संस्कार** करना चाहिये।[10] बौधायन ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुत्रों के नाम के आगे क्रमशः शर्म, वर्म, गुप्त तथा दास लगाने का विधान निर्दिष्ट किया है।[11] वहीं मनु का कहना है कि ब्राह्मण नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय नाम बलसूचक, वैश्य नाम धन सूचक और शूद्र का नाम निन्दासूचक शब्दों से युक्त होना चाहिये।[12] नारद के विचार में बालक का भली–भांति विचार कर देवतादि वाचक मंगलदायक एवं उत्तम नाम रखना चाहिये।[13] जिससे बालक को प्रोत्साहन मिले। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि मनुष्य को जिस प्रकार के नाम से सम्बोधित किया जाता हैं उसे उसी प्रकार की अनुभूति होने लगती है और वह उसी नाम के अनुरूप व्यवहार करने लगता है।

बौद्ध समाज में नामकरण संस्कार जन्म के पांचवें दिन सम्पन्न किया जाता है। शिशु के नाम निर्धारण के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म में ब्राह्मण धर्म से अन्तर है। जातिगत भेद–भाव दूर करते हुए बौद्ध धर्म में विधान किया गया है कि बालक का नाम जाति सूचक, अन्धविश्वासी सूचक, घृणा या निन्दासूचक नहीं होना चाहिये। बालक का नाम

प्रज्ञा, प्रतिभा, ओज, वीर्य, करूणा तथा मैत्री आदि अर्थ वाला रखना चाहिये।[14] इस संस्कार के अवसर पर बौद्ध भिक्षु शिशु की माता तथा परिवार के अन्य लोगों को त्रिशरण के साथ पंचशील देते हैं और परित्राण का परायण करते हैं। तत्पश्चात् शिशु की माता को बच्चे के लालन–पालन की शिक्षा देते है। गृह्य सूत्रों[15] से ज्ञात होता है कि **अन्नप्राशन संस्कार**–शशु के जन्म के छठें माह में सम्पन्न किया जाता था। इसके अन्तर्गत बालक को पहली बार अन्न ग्रहण कराया जाता था। उसे दूध, मधु, घी, दही और पका हुआ चावल आदि पुष्टिकारक पक्वान्न खाने को दिया जाता था।[16] इस संस्कार का उद्‌देश्य बालक का सम्यक् शारीरिक विकास करना था। बौद्ध धर्म में अन्नप्राशन संस्कार बालक के जन्म के पांचवें महीने में किया जाता था। इस अवसर पर शिशु की माता तथा परिवार के अन्य सदस्य त्रिशरण के साथ पंचशील ग्रहण करते है। तदनंतर घर का कोई बड़ा व्यक्ति नये चम्मच से बालक को खीर खिलाता है। इसी दिन बालक को बुद्ध विहार में ले जाकर भगवान् बुद्ध का दर्शन कराते हैं और बुद्ध की धूप–दीप आदि से पूजा करते है।

केशकर्तन संस्कार : वैदिक धर्म में इसे मुडंन या चूड़ाकारण संस्कार कहा जाता है। यह संस्कार वेद और धर्मसम्मत रूप में पहले या तीसरे वर्ष में सम्पादित किया जाता था[17] जो बच्चे की दीर्घायु के लिए अनिवार्य माना जाता था। इस संस्कार के अन्तर्गत बालक के शीश के केशों को काटा जाता था। शिखा के लिए बाल छोड़ दिया जाता था। इस अवसर पर ब्राह्मणों तथा निर्धनों को भोजन कराया जाता था। दानादि दिया जाता था। बौद्ध धर्म में इस संस्कार को बालक के जन्म के तीन वर्ष के अन्दर सम्पन्न किया जाता था। सर्वप्रथम बौद्ध भिक्षु बालक के शीश का दो चार बाल काट देते हैं तत्पश्चात् नाई द्वारा बालक के सिर का मुण्डन किया जाता है। तदनंतर माता–पिता शिशु को अंक में लेकर त्रिशरण के साथ पंचशील ग्रहण करते है। दानादि एवं परित्राण परायण किया जाता है। बुद्ध विहार में जाकर धूप, दीप आदि से बुद्ध की पूजा की जाती है।

कर्णवेधन संस्कार : जन्म के सातवें माह से लेकर तीसरे और पांचवे वर्ष में कभी–भी धार्मिक क्रियाओं के साथ इसे किया जा सकता था। यजुर्वेद में उल्लेख है कि पवित्र स्थान में शुभ समय में देवताओं का पूजन करके सूर्य के सम्मुख बालक या बालिका के कानों को इस मंत्र द्वारा अभिमन्त्रित करना चाहिये।[18] तत्पश्चात् बालक या बालिका के कानों का सुई से छेदन किया जाता है। बौद्धों में यह संस्कार जन्म के पांचवें वर्ष सम्पन्न करने का विधान है। इस अवसर पर परित्राण सूत्रों का पाठ एवं दानादि दिया जाता है तथा कान छेदने में कुशल व्यक्ति बच्चे के कान को छेदकर बाली पहिना देता है। कभी–कभी तो शकर्तन तथा कर्णवेध संस्कार एक साथ भी किये जाते है।

वैदिक समाज में बालक के पांच वर्ष पुरा होने पर उसकी शिक्षा का आरम्भ **विद्यारम्भ संस्कार** के द्वारा किया जाता था। शुभ मुहुर्त्त में गुरू तख्ती पर ऊँ और स्वस्तिक के साथ वर्णमाला लिखकर बालक को अक्षर ज्ञान कराता था। इस समय गणेश और सरस्वती की पूजा तथा होम किया जाता था। गुरू को अन्न, धन, वस्त्रादि भेंट दिया जाता था। बौद्ध धर्म में यह संस्कार जन्म के पांचवे या सातवें वर्ष में करने

का निर्देश है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम बालक को बिहार में ले जा कर बुद्ध की पूजा की जाती है। तत्पश्चात् बौद्ध भिक्षु पट्टी पर बालक के हाथ को अपने हाथ से पकड़ कर अ आ आदि अक्षर तथा बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि लिखवाते हैं।[19]

बौद्ध धर्म में प्रचलित रीति के अनुसार जीवन में एक बार **प्रवज्या** लेना चाहिये। प्रव्रजित व्यक्ति को 'श्रांमणेर' कहते है। श्रामणेर को दस शीलों का पालन करना निर्दिष्ट है। श्रामणेर दीक्षा को ग्रहण कर बिहार में भिक्षुओं के साथ रहकर ध्यान भावना, मनन एवं अध्ययन किया जाता है। यह दीक्षा किसी भिक्षु से ही ग्रहण की जा सकती है तथा जीवन में कभी भी सुविधानुसार ली जा सकती है।[20] **उपसम्पदा** दीक्षा जीवन पर्यन्त भिक्षु रहने वाले श्रामणेरो या व्यक्तियों को दी जाती है। एक सप्ताह, दो सप्ताह के लिये भी उपसम्पदा ली जाती है। उपसम्पन्न भिक्षु को 227 नियमों का पालन करना आवश्यक है। इस संस्कार के लिए 20 वर्ष की आयु का होना तथा माता–पिता की आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य है।[21] वैदिक धर्म में प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा संस्कार का विधान नहीं है।

विवाह को सामान्यतया मानव जीवन की एक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। यह पितृऋण से मुक्त होने के लिए सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रेरित करता है जिससे वंश परम्परा की निरंतरता बनी रहती है। महाभारत के आदिपर्व में उल्लेख है कि जरत्कारू नामक एकनिष्ठ ब्रह्मचारी ने आजीवन विवाह न करने का दृढ़ निश्चय किया था, परन्तु अपने पितरों की दुर्दशा देखकर उन्हें अपना प्रण तोड़ना पड़ा।[22] विवाह के उद्देश्य के सम्बन्ध में "बौद्ध जीवन पद्धति" में उल्लेख है कि विवाह का मुख्य उद्देश्य कामवासना की पूर्ति नहीं अपितु संयमित जीवन बिताना तथा योग्य सन्तान उत्पन्न करना है।[23] सामाजिक पृष्ठभूमि समान होने से दोनों धर्मो में विवाह विधि में मूल तात्विक भेद तो नहीं है पर कुछ क्रिया कलापों में अन्तर है। बौद्ध धर्म ने इस संस्कार के धार्मिक क्रिया कलापों को सरल एवं सादापन देने का प्रयास किया है। महास्थविर बोधानन्द जी ने निर्देश दिया है कि विवाह सम्बन्ध निश्चित करते समय टीका, तिलक तथा फलदान के नाम से अनावश्यक व्यय न करें/दहेज न लें और न दें। बाल विवाह, वृद्ध विवाह एवं अनमेल विवाह न करें।[24] आचार्य सुश्रुत ने भी इसका विरोध किया है।[25] मनु का विचार है कि लड़का–लड़की अनमेल विवाह कभी न करें चाहे जीवन भर अविवाहित ही क्यों न रहें।[26] पुनश्च बौद्ध धर्म ने विवाह के अवसर पर आनन्दोत्सव मनाते समय मर्यादा का अतिक्रमण करने का निषेध किया है, जैसे गाली नहीं गाना चाहिए, नशा आदि नहीं करना चाहिए।[27]

धर्मशास्त्रों में वर्णित संस्कारों में **अन्त्येष्टि** अन्तिम संस्कार है। ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म मे सामान्यतः मृतक के पार्थिव शरीर का दाह–संस्कार होता था। इसके पूर्व अनेक विधि–विधान अपनाये जाते थे। इसमें मृत व्यक्ति को स्नान कराया जाता है तथा नवीन वस्त्र पहना कर, सुगन्धित द्रव्य लगाकर उसे बांस की अर्थी पर लिटाकर शवयात्रा के रूप में अन्त्येष्टि स्थल पर ले जाया जाता है। वहां शव को विधि–विधान के साथ अग्नि मे दाह किया जाता है। तत्पश्चात् तेरह दिन तक शोक मनाया जाता

है और फिर श्राद्ध हवन किया जाता है। वर्ष पूरा होने पर वर्षी करने तथा प्रतिवर्ष पितृ पक्ष में उसी मृत्यु तिथि पर श्राद्ध एवं तर्पण करने का विधान है जिससे पूर्वजों की आत्मा को शान्ति मिले। इस संस्कार की महत्ता प्रतिपादित करते हुए बौधायन ने उल्लेख किया है कि जन्म के बाद संस्कारों द्वारा मनुष्य इस लोक को विजित करता है, जबकि मृत्योपरान्त के संस्कारों द्वारा परलोक को विजित करता है।[28] इस प्रकार यह संस्कार इस लोक को परलोक से जोड़ता है। बौद्ध ग्रंथ में अन्त्येष्टि संस्कार का कुछ अन्तर के साथ यही विधि विधान दिखलाई पड़ता है। बौद्धों में मृत्यु के सातवें दिन साप्ताहिक क्रिया होती है। मासिक एवं वार्षिक ब्राह्मण धर्म के समान क्रियाएं की जाती है। केवल ब्राह्मणों के स्थान पर बौद्ध भिक्षुओं को खिलाया जाता है।[29] बौद्धों के लिए शव को जलाना या गाड़ना दोनों ऐच्छिक है। यह प्रश्न धार्मिक से अधिक आर्थिक है जिनमें शवदाह करने का सामर्थ्य नहीं है, वे शव को भूमि में गाड़ भी सकते है। उनके लिए भी विधि वहीं है, जो शवदाह के समय की जाती है। ब्राह्मण धर्म में भी जलाने, गाड़ने तथा जल प्रवाह की विधियां है। वे वैज्ञानिकता लिये हुए है। जिसे सर्प ने काटा हो उसे जल में प्रवाहित करते है या गाड़ते है जिससे विष दूर हो जाय। जल और मिट्टी दोनों विषनाशक है।

बौद्ध साहित्य में वर्णित इन संस्कारों के वर्णन से स्पष्ट होता है कि जन्म से लेकर मृत्य पर्यन्त संस्कारों को विधिवत् बौद्ध समाज में सम्पन्न किया जाता है जिसका प्रमाण बौद्ध ग्रंथ एवं लोक दोनों है। संस्कार के प्रमुख दो उद्देश्य मलाप–नयन अर्थात् मन पर लगे पुराने पापों के मल को धोना। अतिशयाधान अर्थात् पूण्य से चमकाना, के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन में परिमार्जन लाकर विकासोन्मुख होता है। बौद्ध चिन्तकों ने वैदिक संस्कार के सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक महत्व को स्वीकार करते हुए उसे अपनाया है। बौद्ध धर्म में संस्कारों को सम्पन्न करने का ढंग वैदिक संस्कारों के समान है। केवल पूजा–पद्धति में अन्तर है। ब्राह्मण धर्म के गौरी–गणेश, पंचदेवों की पूजा तथा यज्ञाहुति के स्थान पर बौद्ध धर्म में बुद्ध, धर्म और संघ की पूजा की जाती है। दोनों धर्मो में इस अवसर पर सदाचार तथा व्यवहार की शिक्षा देने वाली पवित्र पुस्तकों या सूत्रों का पाठ किया जाता है।

संदर्भ

1. देखिए, उपाध्याय, श्याम सुन्दर! सनातन हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म, 2002, पृ0 60 बौद्धचर्या पद्धति, संस्कार परिच्छेद।
2. गौतम धर्मसूत्र, 18–22 : इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः।
3. भिक्षु धर्म रक्षितः बौद्ध संस्कार पद्धति, वाराणसी, 1959, पृ0 5–27
4. ब्रह्माण्ड पुराण, 3.71.12
5. गोभिल गृहय सूत्र, 2.7.2.
6. भिक्षु धर्मरक्षित, बौद्ध संस्कार पद्धति पृ0 5–8 बौद्धचर्या पद्धति, संस्कार परिच्छेद।
7. आश्वलायन गृहय सूत्र 1.15.2.
8. मनुस्मृति, 2.29
9. बुद्धचरितम्, 1.82

10. मनुस्मृति, 2.32; आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1.15.4
11. बौधायन गृह्य सूत्र 1.1.10 12. मनुस्मृति, 2.31
13. नारद पुराण, पूर्व भाग, 56, 328
14. भि0 धर्मरक्षित, बौद्ध संस्कार पद्धति, पृ0 8
15. आपस्तम्ब गृह्य सूत्र 1.16; पारस्कर गृह्य सूत्र, 1.19.2; बौधायन गृह्य सूत्र 2.3;
16. अथर्ववेद 8,2,18; आप गृ.सू., 1,19,4
17. आश्व0 गृ. सू. 1.17, पार गृ.सू., 2.1; मनु0, 2,35।
18. यजुर्वेद, 25.21 : भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
    स्थिरैरड्गैस्तुष्टुवा सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।
19. भिक्षु धर्म रक्षित, बौद्ध–संस्कार पद्धति, पृ0 10
20. वही, पृ0 19–20। 21. वही, पृ0 20
22. आदिपर्व, 41.17–31
23. डॉ0 भदन्त आनन्द कौसल्यायन, बौद्ध जीवन पद्धति, नागपुर, 1993, पृ0 19।
24. वही, पृ0 19
25. सुश्रुत शरीरे स्थाने अ0 10.–47, 48:ऊन षोडश वर्षायाम् प्राप्तः पंच विंशतिम्।
    यद्याधत्ते पुमान् गर्भ कुक्षिस्थः स विपद्यते।।1।।
    जातो व न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्वेन्द्रियः।
    तस्मादत्यन्त वालायाम् गर्भाधानं न कारयेत्।।2।।
26. मनुस्मृति, 9.88
27. भिक्षु धर्मरक्षित, बौद्ध संस्कार पद्धति, पृ0 21
28. बौधा0 गृ0सू0, 1.43,
29. भिक्षु धर्मरक्षित, बौद्ध संस्कार पद्धति, पृ0 20–27; डॉ0 भ0आ0 कौसल्यायन, बौद्ध जीवन पद्धति, पृ0 21–24

❋

पुराणोक्त भक्ति का स्वरूप

प्रज्ञा पाण्डेय*

भारतीय-भक्ति का आदि स्रोत ऋग्वेद है। ऋग्वेद की ऋचाएँ वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त हैं। जिन विद्वानों ने ऋग्वेद में भक्ति के तत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टाएँ की हैं, उन्होंने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें किसी देवता को माता, पिता या सखा आदि सम्बन्धों से युक्त किया है। ऐसी ऋचाओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें स्तुति और नाम स्मरण की बात की गयी है।[१]

वेदों में अनेक स्थानों पर भक्ति की महत्ता बतायी गयी है। कष्टों, विघ्नों तथा असफलताओं से विवश होने पर गुण - कीर्तन के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके सुख एवं शान्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति वैदिक काल में विद्यमान थी। भौतिक जीवन को आनन्दमय बनाने तथा अपने स्वार्थों की पूर्ति कर देने पर ही वे उपास्यों को अधिक महत्त्व देते थे।[२]

वेदों में अनेक स्थानों पर भक्ति की महत्ता बतायी गयी है। संसार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भक्ति आवश्यक है। भक्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, वह प्रत्येक क्षण ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करता है। भक्त का विश्वास हमेशा बना रहता है कि भक्त को ईश्वर की शरण में जाना चाहिए।

भक्ति का आदि स्रोत वेद ही है। वेदों में वर्णित भक्त भगवान् के प्रति पूर्णरूप से आत्म समर्पित होता है।

उपनिषदों के अनुसार, मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष या मुक्ति प्राप्त करना है और मुक्ति है जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा। मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे फिर से जन्म लेना नही पड़े क्योंकि जन्म लेने से ही जीव को अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं। उपनिषदों ने ही इस बात को जोर देकर घोषित किया कि मनुष्य का सर्वोच्चा लक्ष्य स्वर्ग पाना नहीं (क्योंकि पुण्य के क्षीण होने पर जीव को स्वर्ग से लौटना पड़ता है) बल्कि जीवन और मृत्यु के बन्धन से छूटकर मोक्ष पाना अथवा ब्रह्म में लीन हो जाना है।

कठोपनिषद् के कुछ मन्त्र निश्चित रूप से भक्ति भावना को उत्प्रेरित करते हैं। ''श्वेताश्वतर'' उपनिषद् से हमें सगुण ब्रह्म की झलक मिल जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी उस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता परमात्मा की कल्पना की जाने लगी थी जो अव्यक्त के साथ व्यक्त भी है।

भारत में भक्ति का आरम्भ कब हुआ था तथा इसके बीज कहां-कहां विकीर्ण थे इसके सम्बन्ध में विद्वानों में अभी भी काफी मतभेद हैं। वेद में भक्ति को अनुपस्थित देखकर तथा दूसरे

** शोध छात्रा, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी०जी० कालेज, वाराणसी*

मोहन जोदड़ों की खुदाई से मिलने वाले निशानों में भक्ति का किंचित प्रमाण पाकर विद्वान् यह अनुमान लगाने लगे कि भक्ति आर्येतर तत्व है, जो आर्य तथा आर्येतर जातियों के मिलने के बाद भारत की संस्कृति में समाविष्ट हो गयी। मतों की अस्थिरता से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने तो यहां तक अनुमान लगा डाला कि भक्ति का वास्तविक विकास हिन्दुस्तान में मुसलमानों के आगमन के बाद हुआ।[३]

वास्तव में भक्ति की भावना से तो नकारा नहीं जा सकता। भक्ति आर्येतर प्रवृत्ति थी। वह आर्यों एवं द्रविड़ों के भारत आगमन के पहले से ही भारतीय जनता में विद्यमान थी। चूँकि द्रविड़ भारत में आर्यों से पहले आये, इसलिए भक्ति-तत्व पहले द्राविड़-धर्म में समाविष्ट हुआ।[४]

भारत में भक्ति के उद्भव के विषय में विदेशी विद्वानों ने प्राय: विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। वेबर के अनुसार भक्ति आध्यात्मिक चरम मोक्ष के साधन और उसके लिए एक शर्त के रूप में एक विदेशी विचार था जो भारत में ईसाई-धर्म के साथ आया और जिसने पुराणों और महाकाव्य युगीन हिन्दू धर्म पर गहरा प्रभाव डाला।[५] किन्तु ईसाई-धर्म और हिन्दू धर्म के बीच मूर्तियों और संस्कारों के साम्य आकस्मिक है। भक्ति एक ऐसा साक्षात् तत्व है, जो सार्वभौम और मानवीय है, कठोर बौद्धिकवाद के विरुद्ध हृदय की प्रतिक्रिया है।[६] मनुष्य सुख दु:ख, भय, घृणा, आदि भावनाओं से संसार में बंधा रहता है, इसी कारण वास्तविक एवं नित्य आनन्द का उपभोग नहीं कर पाता। आनन्द का वास्तविक स्रोत परमेश्वर है। उसी के साथ रहने, उसका गुणगान करने, उसी में संलग्न रहने और समस्त द्वन्द्वों से सदा के लिए मुक्त होने से आनन्द प्राप्त होता है। शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का यह पथ ही भक्ति-मार्ग कहलाता है।[७] जब भक्त को शाश्वत आनन्द की अनुभूति का आभास होने लगता है तो यह स्थिति और परिस्थिति ईश्वर के प्रति उसके मन में परकाष्ठा की रति है।[८] किसी मनुष्य के विचार कुछ भी क्यों न हों, यदि वह पूर्ण आस्था से ईश्वर की भक्ति करता है तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मुख्य साधना-मार्ग है। सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने के साधनों अथवा तरीकों को ''योग'' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस प्रकार धार्मिक-जगत् में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग प्रसिद्ध हुए। मानसिक संयम पर आधारित राजयोग को भी कुछ लोग प्रमुख साधना पथ मानते हैं।[९]

भक्ति भावना को दृढ़ कर देने वाले साधनों में ईश्वर का आश्रय लेते हुए विभिन्न कर्त्तव्यों, अनुष्ठान, उसके प्रति श्रद्धा, संयम और व्रत के द्वारा भोगों का त्याग, अहिंसा, आस्तेय, अपरिग्रह, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का सेवन, विषयों से निवृत्त होकर मन को दैवी आध्यात्म पथ पर ले जाना, पवित्रता प्राप्त करना, समस्त कामनाओं का ईश्वर पर केन्द्रित करना आदि प्रमुख है।[१०] ये भक्ति के अंग माने जाते है।

भक्तिशास्त्र के आचार्यो ने भक्ति शब्द की विभिन प्रकार से व्याख्या की हैं। शांडिल्यभक्ति सूत्र में भक्ति की व्याख्या विविध रूप में की गयी हैं। ईश्वर के प्रति अनुराग ही भक्ति है, भक्ति क्रियारूप नहीं है, क्योंकि ज्ञान की भांति वह भी कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती है।[११] कर्म, ज्ञान और योग भक्ति श्रेष्ठ है।[१२] इसी प्रकार ''नारदीय'' नारदीय भक्ति सूत्र में बताया गया है कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है जो अमृत स्वरूप है, जिसको प्राप्त कर व्यक्ति सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। भक्ति प्राप्त कर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है। भागवत में भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि सांसारिक विषयों का

ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में लग जाती है तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं।[१३] ''नारद पांचरात्र'' के अनुसार प्रेम परितृप्त मन का हरि के प्रति स्वार्थरहित होकर प्रभावित होते रहना ही भक्ति है।[१४] ''भक्ति रसायन'' में भक्ति को मन की वह वृत्ति माना गया है, जो आध्यात्मिक साधन से द्रवित होकर ईश्वर की ओर प्रभावित होती है।[१५] ''हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'' में ज्ञान और कर्म के प्रभाव से रहित होकर किसी प्रकार के फल की इच्छा किये बिना निरन्तर कृष्ण का प्रेमपूर्वक ध्यान करने को भक्ति माना है।[१६]

भागवत में भक्ति का रूप दो तरह से वर्णित है- सगुण और निर्गुण। भगवान् के प्रति सगुण - भक्तों की अनुरक्ति वास्तव में अपने आप में चकित करने वाली एक अद्‌भुत अद्वितीय आसक्ति है, जो चकित एवं विकारों को विवश कर देने वाली है।[१७]

साधारणतया भक्ति दो प्रकार की होती है। ''साधनरूपा'' जिसे गौणी भक्ति कहते हैं, ''साध्यरूपा'' जिसे पराभक्ति कहते हैं। गौणी-भक्ति पराभक्ति से ही है।[१८] गौणी-भक्ति की सीमा पार करने के उपरान्त भक्त पराभक्ति के प्रथम सोपान पर पहुँचता है। भगवान् की महिमा और दया के स्मरण से साधक के हृदय में भक्ति, जो प्रथम अवस्था में उदय होती है, उसको गौणी-भक्ति कहते हैं। गौणी-भक्ति के दो भेद हैं - ''वैधीरागानुगा'' - जिस भक्त में केवल शास्त्रोक्त विधि का शासन होता है, उसे वैधी - भक्ति कहते हैं।[१९] जिस प्रेमभाव की दशा में भक्त के हृदय में परम शान्ति का उदय होता है उसे ''रागानुगा-भक्ति'' कहते हैं।[२०]

श्रीमद्‌भागवत् में भक्ति के चार भेद कहे गये हैं, जो मनुष्य की वृत्तियों के अनुसार हैं। सात्विकी, राक्षसी, तामसी और निर्गुणी। क्रमशः प्रथम तीन भक्तियाँ काम्य हैं, और चौथी निर्गुणी-भक्ति निष्काम है।[२१]

नारदभक्ति सूत्र में भक्ति को एक ही परम प्रेमरूप मानते हुए भी उसे ग्यारह आसक्तियों में बाँटा गया है जो निम्नलिखित है - गुण - माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्त्रयासक्ति, परमविरहासक्ति।[२२] इसी प्रकार भक्ति के विविधरूपों की व्याख्या प्राचीन आचार्यों और आधुनिक समालोचकों ने विभिन्न रूपों में की है।

पुराणों में भक्ति का स्वरूप सर्वोपरि था। भक्ति के ही माध्यम से देवता तक पहुँचने की पुष्टि की गई है। भक्ति के तीन प्रकार दर्शित होत हैं, मानसिक, वाचिक और कायिक। मन में बुद्धि के आधार पर ध्यान करना मानसिक भक्ति थी। जप, मंत्र, पाठ आदि को वाचिक भक्ति कहा गया था। शरीर, मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण लगाने हेतु उपवास, व्रत नियम आदि कायिक भक्ति के अन्तर्गत गृहीत किये गये थे। पद्य पुराण में भक्ति की विशद व्याख्या की गई है। तथा इसके तीन अन्य रूप भी बताये गये हैं। लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक। लौकिक भक्ति में सामग्री अर्पित करते हुए आराध्य देव की पूजा की जाती थी। फल, फूल, घी, दूध, दीप, चन्दन, धूप, आभूषण, सुवर्ण, हार, भोज्य पदार्थ आदि नैवेद्य में अर्पित किये जाते थे। वैदिक भक्ति के अन्तर्गत वैदिक मंत्रों का मनन, जप, संहिताओं का अध्यापन आदि आता था। सांख्य दर्शन और यौगिक अभ्यास के आधार पर की जाने वाली भक्ति आध्यात्मिक भक्ति कही जाती थी, एक में सांख्य दर्शन से सम्बन्धित प्रकृति और पुरूष का विमर्श होता था एवं दूसरे में योगाभ्यास के आधार पर ध्यान किया जाता था। यही नहीं, पुराणों में तीन और रूप भी चर्चित किये गये हैं - सात्विकी, राजसी और तामसी। सत् मार्ग का अवलंबन करते हुए, इच्छा समाप्त

कर, मोक्ष को अभीप्सित मानकर भक्ति करना सात्विक भक्ति थी, विषय में स्थिति रहते हुए यश और ऐश्वर्य की कामना के निमित्त की जाने वाली भक्ति राजसी भक्ति थी। अहंकार, मान, आडम्बर, ईर्ष्या, द्वेष से की जाने वाली भक्ति कही गयी। अतः पुराणों में भक्ति की व्यख्या विभिन्न रूपों में की गई है। अतः पुराणों में भक्ति की व्याख्या विभिन्न रूपों में की गई है।

भक्ति के क्षेत्र में गुरू के निर्देश का बहुत बड़ा महत्त्व है। बिना गुरू के ज्ञान की प्राप्ति असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। ज्ञान प्राप्ति गुरू वचन से ही संभव है। भागवत पुराण[२३] में उल्लिखित है कि गुरू कृपा के अभाव में भक्त उसी प्रकार समुद्र में पड़कर सैकड़ों क्लेशों से ग्रस्त रहता है, जिस प्रकार जहाज से व्यापार करने वाला बनिया मल्लाह के अभाव में विभिन्न प्रकार के कष्ट समुद्र में झेलता है।

मनुष्य के परम कल्याण की प्राप्ति के लिए भक्ति के अतिरिक्त और कोई सरल सुगम उपाय नहीं है। संपूर्ण भगवत् पुराण में सर्वत्र भक्ति की महिमा का ही विशद आख्यान है। भक्ति ही मनुष्य के लिए सर्वोत्कृष्ट श्रेयस्कर साधन है। जो लोग भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उनको तो केवल क्लेश ही प्राप्त होता है, जैसे थोथा तुष कूँटने वालों को केवल तुष ही प्राप्त होता है।[२४]

भक्ति का लक्षण देते हुए भागवत् पुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार गंगा के श्रवण द्वारा मन की गति अविच्छिन्न रूप से भगवान् के प्रति जाना ही भक्ति योग है।[२५] मधुसूदन सरस्वती[२६] भी भक्ति के सम्बन्ध में यही कहते हैं कि भगवद् धर्म के द्वारा भगवान् के विषय में धारावाहिकता को प्राप्त हुई चित्त की वृत्ति ही भक्ति है। भागवत् पुराण[२७] के अनुसार इस प्रकार की चित्त वृत्ति द्वारा समस्त भाग के आश्रय भगवान् ही भजनीय हैं।

चित्त तीन गुणों की वृत्ति से निर्मित है। अतः इस प्रकार गुणों के आधार पर तीन प्रकार के भक्त बताये गये हैं। स्वभाव और भेद से मनुष्य - मनुष्य के भावों में भेद आ जाता है। इस प्रकार साधकों के भाव के अनुसार भक्तियोग भी अनेक प्रकार से प्रकट होता है।[२८] गुणों के भेद से निम्नलिखित तीन प्रकार के भक्त बताये गये हैं -

(१) तामसी :- जो पुरूष हृदय में हिसा, दंभ, मत्सर या भेद दृष्टि रखकर भगवान् में भक्ति करता है, वह तामसी भक्त कहा गया है।[२९]

(२) राजसी :- जो पुरूष विषय, यश या ऐश्वर्य आदि की कामना से प्रतिमा आदि में भेद-भाव से भगवान् में भक्ति करता है वह राजसी भक्त अभिहित किया गया है।[३०]

(३) सात्विक भक्त :- जो पुरूष कर्मों का परिहार करने के उद्देश्य से, या भगवान् को अर्पित करने का भावना से, पूजन करना ही मेरा कर्तव्य है यह सोचकर, अभेद दृष्टि से भगवान् की भक्ति करता है वह सात्विक भक्त अभिहित किया गया है।[३१]

भागवत् पुराण में भक्ति तत्व का वर्णन अत्यन्त विशद् रूप में उपलब्ध होता है। भक्ति ही भागवत पुराण का सर्वस्व है। इसमें नवधा भक्ति की बड़ी विशद मीमांसा उपलब्ध होती है। नवधा भक्ति मार्ग के अन्तर्गत भागवत पुराण की स्वयं एक मौलिक विशिष्टिता है। इसमें भक्ति के नौ प्रकार अभिहित किये गयें हैं - (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पाद सेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्म निवेदन। इस प्रकार इस नवधा भक्ति का भागवत पुराण में विशद आख्यान है।[३२]

भगवान का नाम चरित एवं गुणादि का श्रवण ही श्रवण भक्ति है।

भगवान के नाम, लीला एवं गुण इत्यादि का उच्चारण ही कीर्तन है। जन्म-मरण से युक्त इस घोर संसृति को प्राप्त हुआ मनुष्य उसका नाम मात्र लेने से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।[३३] भगवान का यश कलि-मल को दूर करने वाला है।[३४] भगवान के नाम की महिमा का वर्णन तो अनेक प्रसंगों में अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। भगवान का नाम लेने से वक्ता एवं श्रोता दोनों ही पवित्र हो जाते हैं।[३५]

घोर, सुरापान करने वाला, मित्र द्रोही, ब्रह्मघाती, गुरू पत्नीगामी, स्त्री, राजा, पिता और गौ की हत्या करने वाला, कोई भी पापी क्यों न हो, सबके लिए यही प्रायश्चित है कि वे भगवान नाम का कीर्तन करे। भगवान नाम का कीर्तन करने से उनकी मति भगवद् - विषयक हो जाती है।[३६] भगवान नाम का संकीर्तन करने से अथवा श्रवण करने से भगवान् मनुष्य के चित्त में प्रवेश करके उसके समस्त दु:ख उसी प्रकार दूर कर देते हैं जैसे सूर्य अन्धकार को दूर कर देता है।

जिस किसी प्रकार भी मन का भगवान के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाना ही स्मरण कहा गया है।[३७] भगवान के श्रवण एवं कीर्तन द्वारा चित्त का भगवान के साथ सम्बन्ध उत्तरोत्तर प्रगाढ़ता को प्राप्त करता है। वह नित्य भगवान के स्मरण में लीन होता जाता है। उसी प्रकार नित्य भगवान का स्मरण करने से चित्त भगवान में लीन हो जाता है।[३८]

स्मरण द्वारा भगवान में चित्त आसक्त हो जाने पर भक्त को साक्षात् ईश्वर की अनुभूति होने लगती है और निरन्तर प्रभु की सेवा मे लग जाता है। भक्त के हृदय में सर्वदा भगवान के चरण कमल विराजमान रहते हैं। संसार के विविध तापों से त्राणकारी उपाय एक मात्र भगवान के चरणों का आश्रय ही है।[३९] भगवत्पाद सेवा की अभिरूचि तपस्वियों के समस्त जन्मों के संचित पापों को नष्ट कर देती है। भगवान के चरणों की सेवा से भक्त जन उसी प्रकार से पवित्र हो जाते हैं जैसे वे भगवान के पादांगुष्ठ से नि:सृत होने वाली भगवती गंगा के जल से पवित्र हो जाते हैं।

अर्च धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाने से अर्चन शब्द निष्पन्न होता है। अर्चन का अर्थ है पूजन। अत: विविध उपादानों से भगवान का पूजन ही अर्चना है। भागवत पुराण[४०] में वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र तीन प्रकार की अर्चना बताई गई है। इसकी दृष्टि में अन्तिम प्रकार की अर्चना ही अभीष्ट है। भागवत पुराण में अर्चना के दो रूप बताये गये हैं - (१) मानसी अर्चना और (२) भौतिकी अर्चना। मानसी अर्चना में भक्त अपने मन-मन्दिर में भगवान के चरण कमलों की प्रतिष्ठा करके उनकी अर्चना करता है। उसे किसी भौतिक पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती है। वह तो अपने हृदय में भावना मात्र से भगवान की अर्चना करता है।[४१] मानसी अर्चना के लिए भक्त को शरीर में वायु और अग्नि के शुद्ध हो जाने पर हृदय कमल में स्थित भगवान की जीव कला का ध्यान करना चाहिए।

दूसरी प्रकार की अर्चना भौतिकी अर्चना है। इसके अन्तर्गत भक्त भौतिक उपादानों से भगवान की प्रतिमादि का पूजन करता है। यद्यपि भागवत पुराण के अनुसार मानसी अर्चना ही श्रेष्ठ है तथापि भौतिकी अर्चना का विधान भी उसमें उपलब्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति मानसी अर्चना का अधिकारी नहीं हो सकता है और न ही प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की अर्चना में सफलता प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार से इतर व्यक्तियों के लिए भौतिकी अर्चना का भी विधान है। भागवत पुराण में भौतिकी अर्चना का भी कई स्थलों पर विशद वर्णन उपलब्ध होता

है।[४२] भागवत पुराण[४३] के अनुसार जब तक पुरूष को यह ज्ञान न हो जाये कि भगवान उसके हृदय में स्थित हैं और वही सब चराचर में भी विद्यमान है तब तक उस पुरूष को अपने कर्मों को करते हुए प्रतिमा आदि का पूजन करते रहना चाहिए।

भगवान को प्रणाम, नमस्कार व अभिवादनादि करना ही वन्दना है। भगवान की स्तुति-पाठ आदि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में कीर्तन और वन्दना में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। भागवत पुराण के अनुसार उच्चावच पौराणिक अथवा प्राकृत स्तव एवं स्त्रोतों से स्तुति करके, भगवन् प्रसन्न हो गये, यह प्रार्थना करते हुए, दण्डवत् करते हुए इसी प्रकार भगवान की वन्दना करनी चाहिए।[४४]

पूर्ण रूप से अपने को भगवान के प्रति अर्पित कर देना ही दास्य है। दास्य भक्ति के अन्तर्गत भक्त के हृदय में किसी प्रकार की कामना नहीं रहती है। वह तो अपने को प्रभु का सेवक समझता है। भगवान में व भक्त में स्वामी व सेवक का सम्बन्ध रहता है। प्रह्लाद भगवान से यही कहता है कि प्रभो: मैं तो आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निष्पक्ष स्वामी हैं। हम दोनों का सम्बन्ध तो राजा और सेवक जैसा है।[४५] दास्य भक्ति का मुख्य तत्व यही है कि मन में किसी प्रकार की कामना न रहे और भगवान के प्रति सेवा की भावना हो।

सख्य भक्ति के भागवत पुराण में अनेक उदाहरण मिलते हैं। गोप व गोपिकाओं की भगवान के प्रति सख्य भक्ति ही है। दास्य भाव ही कालान्तर में सख्य भाव में परिणत हो जाता है। उद्धव की भी कृष्ण में सख्य भक्ति ही है। ज़ो भक्त अनन्य भाव से भगवान की शरण को प्राप्त हो जाते हैं, भगवान स्वयं उनके अधीन हो जाते हैं। स्वयं राम ने वानरों के सथ मित्रता का निर्वाह किया।[४६] भगवान के सख्य भाव को प्राप्त हुए ब्रजवासियों की भागवत पुराण में भूरि-भूति प्रशंसा की गई है। - अहो, इन ब्रजवासियों का क्या भाग्य है जो स्वयं परमानन्द स्वरूप पूर्ण सनातन ब्रह्म इनके मित्र हैं।''

सर्वथा अहंकार रहित होकर प्रेमपूर्वक अपने को पूर्ण रूप से भगवान के प्रति अर्पित कर देना ही आत्म निवेदन है। आत्म निवेदन नवधा भक्ति के अन्तर्गत एक भक्त के द्वारा प्राप्त की जाने वाली चरम स्थिति है। इस अवस्था में भक्त का बाह्य भौतिक अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह कहा गया है कि जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके पूर्ण रूप से अपने को भगवान को समर्पित कर देता है उस समय वह अमरत्व स्वरूप मोक्ष ही प्राप्त कर लेता है और भगवत्स्वरूप हो जाता है।[४७] भक्ति की चरम परिणति आत्म निवेदन है। इस अवस्था में भक्त अपने को पूर्ण रूप से भगवान में विलीन कर देता है। इस अवस्था में वह समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है।

सन्दर्भ :

१. मोहम्मद, मलिक, वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३०.
२. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ८५.
३. दिनकर, पूर्वोक्त पृ० २८८.
४. हुसेन, यूसुफ, मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४.
५. हुसैन, पूर्वोक्त पृ० ४-५.
६. उपरोक्त पृ० ४.
७. शर्मा, मुंशीराम, भक्ति का विकास, पृ० ६२.

८. स्वामी विवेकानन्द, भक्ति रहस्य, पृ० ३१.
९. पूर्वोक्त, पृ० ३१. १०. शर्मा, पूर्वोक्त पृ० ७७.
११. दीक्षित, छोटे लल, रामकृष्ण काव्योत्तर हिन्दी भक्ति सगुण भक्ति-काव्य, पृ० ११.
१२. शांडिल्यभक्ति सूत्र, 'सदेव कर्मज्ञानियोगिभ्यः आधिक्य शब्दात्।'
१३. श्रीमद्भागवत्, स्कन्ध ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३.
१४. मनोगति रविछिन्ना हरौ प्रेम परिप्लुता, अधिसन्धिविनिर्मूला भक्ति विष्णु वंशकरी ३१५, नारद पाँचरात्र।
१५. भक्तिरसायन १/३१.
१६. श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व भाग - प्रथम लहरी (११)
१७. राधा कृष्णन, इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम २, पृ० ६६५-७२.
१८. द्विवेदी, हजारी प्रसाद; मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १४९.
१९. श्री हरिभक्तिसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ४.
२०. वही, श्लोक ६२.
२१. श्रीमद्भागवत्, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २९, श्लोक ७-१४.
२२. नारदभक्ति सूत्र ८२, गीता प्रेस गोरखपुर।
२३. भागवत पुराण, १०.८७.३३. २४. वही, १.१४.४.
२५. वही, ३.२९.११-२१. २६. भक्ति रसायन १.३.
२७. भागवत पुराण, ५.१७.१८. २८. वही, ७.२९.७.
२९. वही, ७.२९. ३०. वही, ७.२९.९.
३१. वही, ७.२९.१०. ३२. वही, ७.५.२३-२४.
३३. वही, १.१४.
३४. यशः कलिमलापहम्। भागवत पुराण, १.१.६.
३५. भागवत पुराण, १.३४.१७. ३६. वही, ६.२.९-१०.
३७. यथा कथंचिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते। कल्याण (साधनांक) पु० ११०.
३८. भागवत पुराण, ११.१४.२७. ३९. वही, ३.५.३८.
४०. पुराण, ११.२७.७. ४१. भागवत पुराण, ११.२७.१५.
४२. भागवत पुराण ११.२७१९-४९, ११.३४८-५४.
४३. वही, ३.२९.२५. ४४. वही, ११.२७.४५.
४५. वही, ७.१०.६. ४६. वही, १०.२९.४.
४७. वही, १०.१४.३२.

पुरागाथाएँ - एक वैश्लेषिक अध्ययन

कु० रेणु सिंह*

विज्ञान के किसी भी प्रामाणिक अन्वेषण की तुलना में पुराणों का सृष्टि वर्णन किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। लन्दन युनिवर्सिटी के डॉ० पामेल एल० रोबिन तथा कलकत्ता के इण्डियन स्टेटिस्टिकल इन्स्टीट्यूट के जियोलॉजिकल स्टडीज यूनिट के एक दशक के अनुसंधान ने उक्त कथन की पुष्टि कर दी है और कहा है कि पुराण गाथाएँ कपोल कल्पित नहीं वरन् करोड़ो वर्ष पूर्व घटित हुयी घटनाएं हैं। आज से सात करोड़ वर्ष पूर्व सारे महाद्वीप आपस में जुड़े थे जो प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण अलग-अलग हो गये जिसके कारण सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन आदि सब कुछ पूर्णतया भिन्न-भिन्न हो गये।[१] वेदों और पुराणों में निहित सार्वभौमिकता (सर्वे भवन्तु सुखिन: ...) किसी समय में समस्त महाद्वीपों के परस्पर जुड़ाव की बात सिद्ध करती है।

पार्जिटर महोदय ने अपने अनुसन्धान में वेदों एवं पुराणों को इतिहास एवं संस्कृति को कोष कहा है।[२] जिस प्रकार प्रसिद्ध ग्रीक महाकाव्य 'होमर कृत इलियट और ओडिसी' को ट्राय के उत्खनन के पश्चात् ही प्रामाणिक माना गया उसी प्रकार हमारे देश मे भी वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि धर्मग्रन्थों को तीन दशकपूर्व तक काल्पनिक माना जाता था और १९५६ ई० में हस्तिनापुर की खुदायी से पाण्डवों के पाँचवें वंशज 'निचक्षु' के युग के खण्डर प्राप्त हुए तब महाभारतादि की प्रामाणिकता पुष्ट हुयी। खुदायी में प्राप्त अवशेषों ने हस्तिनापुर पर टिड्डियों के आक्रमण एवं गंगा के बाढ़ को प्रमाणित किया। आर्यभट्ट ने भी ज्योतिष के आधार पर ३१०२ वर्ष ईसा पूर्व कलियुग का आरम्भ माना था। महाभारत काल के साथ ही द्वापर युग की समाप्ति भी प्रमाणित हो गयी है।[३]

कतिपय पश्चिमी विद्वान मानते हैं कि भारतीयों को अपना इतिहास लिखने नहीं आता। परन्तु ब्रिटिश के सुप्रसिद्ध विद्वान 'एच०जी० वेल्स' ने अपनी पुस्तक 'Out line of history' में इतिहास की रूपरेखा रचने में हमारे पौराणिक प्रणाली का ही अनुसरण किया है। पुराणों को पंचम वेद कहा जाता है। क्योंकि पुराण वेदों को पूर्ण करते हैं, 'पूरणात् पुराणम्' अर्थात् जिसके द्वारा किसी वस्तु को पूर्ण किया जाय, यह पुराण की व्याख्या है। पुराण अपने आख्यान अर्थ से भिन्न नहीं है। वेदों के रहस्यों को पुराणों ने सरल कथानक के माध्यम से उद्घाटित किया और जनमानस तक पहुँचाया। वेदों के विज्ञान को पुराणों ने आख्यान या चरित्र का रूप दे दिया। किसी भी मानव समाज का इतिहास पूर्ण तभी माना जाता है जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमानकाल तक क्रमपूर्वक दी गयी हो। इतिहास की यह वास्तविक कल्पना पुराणों में प्रतिबिम्बित होती है।

* *शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी*

हमारी जीवनचर्या, सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति, सभ्यता, व्यावहारिक नीति, आचार एवं मार्यादा पर वेदों के साथ-साथ पुराणों का ही अधिक प्रभाव है। पुराण वर्णित पावन चरित्र हमारे मन एवं प्राणों में रम गये हैं। सतीत्व के ऊँचे आदर्श, जितेन्द्रियता, शौर्य, रणक्षेत्र में हँसते-हँसते प्राण न्योछावर कर देने की उदात्त भावना तथा बलिदान के लिए सतत् समुन्नत रहने की प्रबल प्रेरणा हमें पुराणों से सदा प्राप्त होती आयी है। पुराणों के ये सभी विषय कथोपकथन के ढंग पर लिखे गये हैं। किसी ऋषि ने किसी दूसरे ऋषि से सुना, उसने भी किसी देवता से जाना, देवता ने भी ब्रह्मा से सुना इस प्रकार मौखिक रूप में या शिष्य परम्परा के क्रम से जीवित रहते आये हैं। यदि इतिहास के क्रम की बात करें तो प्रत्येक राजा के राजदरबार में कोई न कोई कवि या सूत (चारण-भाट) अवश्य रहता था जो उनकी वंशावलि और कीर्ति को कण्ठस्थ किये रहता था। लिपि की खोज से पूर्व तक भारतीय इतिहास एवं संस्कृति इसी प्रकार श्रुत परम्परा से जीवित रही।

पौराणिक आख्यानों का ही परिवर्तित व आधुनिक नाम मिथक है। मिथक का अर्थ दो का योग होता है। अर्थात् एक कथा के माध्यम से दूसरे किसी गूढ़ बात की शिक्षा देना। प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक 'युग' ने अपनी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू दि साइंस ऑफ माइथेलॉजी में कहा है कि - मिथक मानव मस्तिष्क की कहानी मात्र नहीं है, वरन् प्रकृति के चिरन्तन निरीक्षण का कथात्मक स्वरूप है। अर्थात् मिथक सत्य घटना पर आधारित कल्पना है जिससे उस रहस्य का पता लगता है, जो किसी वस्तु के उत्पन्न होने, अस्तित्त्व में आने और फिर नष्ट होने में कारण है।

सृष्टि उत्पत्ति विषयक एक पौराणिक कथा है - सृष्टि के प्रारम्भ मे ब्रह्मा की इच्छा से सप्तर्षि उत्पन्न हुए उनमें अत्रि ऋषि ने अपनी नेत्र ज्योति को आकाश में स्थित किया जो चन्द्रमा के नाम से प्रसिद्ध हुई। अग्नि पुराण में भी विष्णु की कमलनाभि से ब्रह्मा की ओर ब्रह्मा के पुत्र अत्रि से चन्द्रमा की उत्पत्ति वर्णित है। समुद्र मन्थन के समय चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से मानी गयी है। यहाँ पर चन्द्रमा की उत्पत्ति में कई उपादान कारण हैं। परन्तु सबका प्रतीकार्य यही है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति परमप्रकाशमय दिव्य (सूर्य) से हुयी है। पृथ्वी की उत्पत्ति विषयक एक लोककथा को छत्तीसगढ़ की कमार जाति में आज भी लोक विश्वास की मान्यता प्राप्त है। जब अथाह जल सागर के वक्ष पर पृथ्वी तैर रही थी उसे स्थिर करने के लिए महादेव ने चारों दिशाओं में चार विशाल स्तम्भ गाड़ दिये और उन पर काली सुरही गाय का चमड़ा इस तरह लगाया कि पूरी तरह से पृथ्वी को ढँक ले फिर भी चमड़ी की चादर ढीली रह गयी। इसीलिए महादेव ने भिन्न प्रकार की कीलें ठोंककर उसे ठीक कर दिया। अब पृथ्वी स्थिर हो गयी। वह चादर ही आकाश और वे कीलें ही आकाश के तारें हैं। यह कथा पृथ्वी की जल से उत्पत्ति सिद्ध करती है।

दूसरी दृष्टि से देखने पर यह पौराणिक आख्यान सृष्टि उत्पत्ति के संदर्भ में काम की अनिवार्यता को सिद्ध करते हैं। सृष्टि के लिए मिथुन की आवश्यकता एक प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक सत्य है। अकेला ब्रह्म किसी भी प्रकार की सृष्टि नहीं कर सकता। अत: उपनिषदों में जो ब्रह्म अद्वैत है वही सृष्टि की इच्छा से अपने को माया और ईश्वर रूप दो भागों में विभक्त करता है और अज्ञान के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति करता है। पुराणों में उसी ब्रह्म को ब्रह्मा और नारायण कहा गया है। पुराणों में ब्रह्मा विष्णु और महेश (शिव) को क्रमश: सृष्टि के स्वयिता, पालनकर्ता और संहारकर्ता के रूप में निरूपित किया गया है। सृष्टि सदैव दो के सम्मिलन से

ही होती है। छान्दोग्योपनिषद् में जो अण्डे से सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी उसके भी मूल में यही अर्थ संकेतित है। वह अण्डा भी पृथ्वी और आकाश के संघर्षण से जल में उत्पन्न हुआ। सर्ग अर्थात् सृष्टि की धारणा में एकता और अनेकता का संतुलन रहता है। मिथुन रूपों के तात्त्विक प्रतीक हैं, जो इस प्रकार है - प्रकृति - पुरुष, मन - वाक्, श्री-नारायण, शिव-शक्ति, ब्रह्मा-सरस्वती इत्यादि के जोड़े।[४]

उपरोक्त सृष्टि कथाओं में ब्रह्म या नारायण को ही आदितत्त्व माना गया है जो मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की द्योतक है। अवतार या लीला की अवधारणा भी दिव्यात्मा का धरती पर अवतरण है तथा लीला में देवी-देवताओं के विशेष उद्देश्य को लेकर किये गये कार्य व्यापार होते हैं जो आदर्श की कसौटी बन जाते हैं। अत: सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भगवान विष्णु के दश अवतार मानवेतर प्राणी से लेकर मानव तक के विकासक्रम को दर्शाता है जो अत्याधुनिक है।

प्रथम अवतार मत्स्य है जो कि नितांत जलीय है; जिससे जीव की जल से उत्पत्ति सिद्ध है, दूसरा कूर्म अवतार है जो अंशत: जल में और अंशत: पृथ्वी पर रहने में समर्थ है। इस दूसरी अवस्था में जीव विकास का एक क्रम आगे बढ़ता है। जब प्राणी दो प्रकार के माध्यमों में एक साथ जीवित रह सकता है तो उस अवस्था को वैज्ञानिक शब्दावली में एम्फीबियन कहते हैं। वाराह अवतार (मैमल्स) स्तनधारी जीवों के विकास का द्योतक है जो जैव विकास की अगली कड़ी है। चौथा अवतार नृसिंह का है जो नर और पशु (सिंह) का मिश्रित रूप है तथा मानव में पशुता के अंश का द्योतक है। वामनावतार में यह पशु अंश उन्नयन की ओर अग्रसर है, जो साक्षात् मानव का स्वरूप है, पर थोड़े अंश में वह मानवेतर भी है। मनुष्य में जो रक्तपिपासा की पशुप्रवृत्ति जाग्रत होती रहती है उसी का मानवीय रूप परशुराम है। सातवाँ अवतार राम का है जो परशुराम के पशुप्रवृत्ति का दमन करते हैं और सर्वश्रेष्ठ मानव के प्रतीक स्वरूप पुरूषोत्तम कहलाते हैं। आठवें अवतार कृष्ण हैं जिनमें मानव के चतुर्मुखी व्यक्तित्व का अर्थात् बुद्धि और मन के सुन्दर समन्वय का विकास दृष्टिगोचर होता है। नवें अवतार भगवान बुद्ध हैं जो संसार के प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसते हैं। यह मानव के भावी विकास का संकेत देता है जो कल्कि अवतार में अपने चरम विकास की अवस्था में प्राप्त होता है।[५] अन्तिम अवतार (कल्कि अवतार) के सम्बन्ध में कुछ पुराणों भागवत आदि में दशवी अवतार हो गया माना जाता है जबकि (मत्स्य, पद्म, गरुड़ आदि) कुछ पुराणों में दशवाँ अवतार अभी भविष्य में होना बताया गया है। अस्तु, जो भी हो अन्तिम दोनों अवतार मानव के विकसित भविष्य की ओर संकेत देते हैं जहाँ मानव आध्यात्मिक अतिमानव हो जाएगा। महर्षि अरविन्द ने भी सुपर मैन (Superman) की अवधारणा दी है जिसमें उन्होंने चेतना शक्ति के सूक्ष्मतर आयामों का साक्षात्कार किया है जो ईश्वर से जीव की एकरूपता स्थापित करती है। सर्वप्रथम सूक्ष्म आत्मतत्त्व जड़ अवस्था में उत्पन्न होता है तदुपरान्त वनस्पति रूप में, पुन: पशुयोनि में जिसमें वही आत्मा थोड़ा और विकसित होकर चेतना जीव के प्रथम चरण में आता है। पुन: मानवयोनि में अत्यधिक चैतन्यता को प्राप्त करता है। मानवजन्म में भी एक ही जन्म में आत्मा का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अत: उसे पुन:-पुन: जन्म लेते रहना होगा जब तक अतिमानसिक अवस्था न आ जाए।[६] अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार एवं एकाकार न हो जाये। जन्म-मृत्यु का बन्धन टूट न जाये। परन्तु उस अतिमानस अवस्था का आधार भी यह मानव शरीर ही है जो धार्मिक चेतना को विकसित कर उसे सामान्य से विशिष्ट की ओर ले जाता है-

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'।[७]

मानसिक प्रगति के पश्चात् मानव में विद्यमान पशुत्व का क्रमश: लोप होता जाता है। भारतीय देवी-देवताओं जैसे दुर्गा, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, सरस्वती इत्यादि को सिंह, गरुड़, कमल, हंस या किसी अन्य जीवधारी पर आसीन बताया गया है जिसका एक प्रतीकात्मक अर्थ निकलता है कि मानव के अन्दर जो दिव्यता का अंश है वही उसके अन्दर विद्यमान पशु-प्रवृत्ति पर अंकुश लगाकर बुद्धि द्वारा उसे नियन्त्रित करती है।[८] इसके अतिरिक्त ये पशुवर्ग उस विशिष्ट देवी-देवता के विशेष गुण या कार्य को भी दर्शाते हैं। उदाहरण स्वरूप - ब्रह्मा का आसन कमल है जो कि भगवान विष्णु के नाभि से (जल से) उत्पन्न हुआ है तथा जिसका एक विशेष्र गुण है कि वह जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मा भी सृष्टि की रचना तो करते हैं पर उसमें रमते नहीं हैं। सरस्वती जो ज्ञान की देवी हैं, हंसासन पर विराजमान हैं। हंस विवेक का प्रतीक है जिसके माध्यम से सरस्वती ब्रह्मा की सृष्टि में ज्ञान का अवतरण कराती हैं। दुर्गा जो शिव की शक्ति हैं। शिव जिसका अर्थ ही है कल्याणकारी होना, जिन्होंने लोकहित के लिए स्वयं विषपान किया और जिसे अपने कण्ठ में ही धारण कर नीलकण्ठ बन गये। उन विषपायी शिव की अर्द्धाङ्गिनी शक्ति जो सिंह पर आसीन है। देवी भागवत में 'ऐश्वर्य एवं पराक्रम(को 'शक्ति' का स्वरूप माना गया है। सिंह साक्षात पराक्रम का प्रतीक है जिसके द्वारा वे पाप का नाश करती हैं। देवताओं के मनोहर स्वरूप एवं अनेक पदार्थों के साथ समाहार भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। विष्णु के स्वरूप में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म उनके तीन प्रमुख कार्यों व शक्तियों के द्योतक हैं। चक्र विकासमार्ग में आने वाली बाधा का नाश करता है। शङ्ख प्रणव या शब्द का प्रतीक है और पद्म (कमल) शुभ फल का द्योतक है।[९]

पौराणिक पूजा विधान जीवन का एक छन्दोबद्ध, लयबद्ध व्यापार है जो जीवन का संगीत है जिसके द्वारा आराधक आराध्य के निकटवर्ती हो जाता है। पूजा में इसी कारण ध्यान पर अत्यधिक बल दिया जाता है। ध्यान सर्वप्रथम प्रतीक का, तत्पश्चात् सूक्ष्म का, तदनन्तर शून्य का, तदुपरान्त बिन्दु का और पुन: ध्याता ही विलीन हो जाता है। अंतत: शेष रह जाता है केवल एक गूँज, एक नाद जिसमें ध्येय, ध्याता, ध्यान तीनों समाहित हो जाते हैं। इसीलिए प्रत्येक पूजा की आरती के समय जो घण्टे, शङ्ख एवं प्रकाश का समन्वय रहता है वह प्रकाश और नाद की एकाकारिता स्थापित करने के लिए ही होता है।[१०] ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप माना गया है और नाद में भी ब्रह्म का ही रूप है। अत: ये ब्रह्म (परमसत्ता) के प्रतीक हैं।

प्रतीकों की कल्पना मनुष्य ने संसार के रहस्यों को जानने के लिए भी की है जिनमें प्रमुख है 'मृत्यु। मृत्यु के पश्चात् भी जीवन की कल्पना एवं उसका स्वरूप के समाधान के लिए ही स्वर्ग एवं नरक (Heaven & Hell) की कल्पना की गयी।[११] मनुष्य मृत्यु से भयभीत होता था। अत: भय को समाप्त करने हेतु उसने मृत्यु को अपने जीवन से जोड़ दिया। मृत्यु के अनन्तर 'पितर लोक' की कल्पना की गयी जिसमें मृत्यु का एक देवता 'यम' बना। आत्मा को अमर बनाया गया हो मृत्यु को चुनौती थी। यम मनुष्यों को मृत्यु के पश्चात् उनके शुभ और अशुभ कर्मों के आधार पर स्वर्ग या नरक का अधिकारी बनाते थे। शुभ कर्मों का कर्त्ता स्वर्ग का और अशुभ कर्म का कर्ता नरक का भागी बनता है। स्वर्ग एवं नरक की भावना मनुष्य को नैतिक आचरण एवं सत्कर्म में प्रवृत्त होने के ध्येय से की गी है और यही धर्माचरण है।[१२]

हमारी भारतीय संस्कृति सामञ्जस्यपूर्ण हैं - जिसका प्रमुख उद्देश्य है सर्वेंभवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःभगभवेत्।।'' प्रत्येक जीव में आत्मा है इसीलिए जियो और जीने दो की भावना वाले सिद्धान्त बने जिनमें दया, करूणा त्याग और परमार्थ की भावना है जिनकी शिक्षा हमें पौराणिक आख्यानों से मिलती है और पौराणिक आख्यान वेदों के ही रहस्यों का उद्‌घाटन करते हैं।

संदर्भ :

१. डॉ० उषापुरी विद्यावाचस्पति - मिथकसाहित्य - विविध संदर्भ, पृ० १.

२. पार्जिटर - एन्शयेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, पृ० ५०, ५१.

३. डॉ० अरुण - भारतीय पुरा इतिहास कोष, प्रथम संस्करण, १९७८, पृ० १, ७.

४. उपनिषद् भाष्य - खण्ड - ३, पृ० ३४३, ४६.

५. के०ए० अय्यर - पुराणज इन दि लाइट ऑफ माडर्न साइंस, पृ० २०८.

६. महर्षि अरविन्द - दि लाइफ डिवाइन, भाग - १, पृ० १०८, ७३४, ९६२.

७. कुमारसम्भवम्, ५/३३

८. डॉ० वीरेन्द्र सिंह - प्रतीक दर्शन, पृ० ४०, ४१.

९. डॉ० तैभनी के पुराणों के संदर्भ में दिये गये एक व्याख्यान का अंश जो उन्होंने प्रयाग मे नवम्बर - १९६० में दिया था।

१०. विद्यानिवास मिश्र - हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज, पृ० ६३.

११. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इथिक्स एण्ड रिलीजन, भाग - १२.

१२. डॉ० रांगेय राघव - संस्कृति और समाजशास्त्र, भाग - १.

पुराणों में भक्ति

महेन्द्र नाथ सिंह*, डॉ० रूचि सिंह**

भक्ति आन्दोलन के इतिहास में पुराणों का भी प्रमुख स्थान है। आचार और दर्शन के विश्वकोष प्रस्तुत करके इन्होंने भक्ति आन्दोलनों के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार किया[१]। उच्च आदर्शों और उपासना सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये कथाओं का माध्यम बहुत ही उपयोगी है। इसी युग ने भक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य अंगों का वह पूर्ण विकास किया था जो परवर्ती भागवतों के भक्ति तत्व एवं आचार का आधार तत्व बना। पुराणों के विभिन्न भागों में परम्परा से बतायी जाने वाली कथायें संकलित हुई हैं। इन कथाओं में भक्ति एवं उपासना के तत्कालीन आदर्शों को उत्तेजना प्रदान की है। देवताओं तथा भक्तों की कथाओं को पुराणों का मुख्य विषय मानना गलत नहीं है। पुराणों के सबसे लोकप्रिय देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हैं। पुराणों के अति प्राचीन होने और उनके वेदों के समकक्षी होने के प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं।[२] वेदों में जो तत्व संक्षिप्त रूप में बताये गये, उनको पुराणें में व्याख्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया। वास्तव में यह वेदों को ही समस्त[३] भारतीय विचारधाराओं का एकमात्र उद्‌गम मानने की प्रवृत्ति का परिणाम है। प्राचीन पुराणों का विकास ५वीं शताब्दी ई० पहले ही लगभग पूरा हो चुका था, इसके बाद भी उनमें नवीन अंश जोड़ दिया जात था। अपेक्षाकृत आधुनिक पुराणों की बात अवश्य इन प्राचीन पुराणों से पूर्णतः भिन्न है।

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने पुराणों की प्राचीनता उपनिषद् काल तक मानी है, जहां इतिहास, पुराणों को अध्ययन का मान्य विषय स्वीकार किया जाता है। हम पुराणों की प्राचीनता तिथि गीता के आसपास का था, उसके कुछ बाद का समय स्वीकार कर सकते हैं परन्तु पुराणों में परिवर्तन-परिवर्द्धन बहुत बाद तक होते रहे और इस प्रकार विद्वानों ने पुराणों के वर्तमान रूप का समय तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी तक स्वीकार किया है।[४] श्री जे०एन० फर्गुटर ने यह तिथि आठवीं शदी तक मानी है।[५] पुराणों का जो भी निश्चित समय रहा हो परन्तु पुराणों ने पुरातन धर्म का पक्ष लेकर क्रियाकर्म तथा भगवत भजन पर बल दिया, पर धार्मिक मान्यताओं में ऐसा परिवर्तन उपस्थित हो गया जिसके फलस्वरूप वैदिक पुरोहितों का स्थान पुराणवेत्ता पण्डितों ने लिया।[६]

इन पुराणवेत्ता पण्डितों के लिये अन्य धर्मों को परास्त करना और अपने धर्म को अत्यधिक बढ़ावा देना सरल था। पुराणों ने वर्ण संकीर्णतर एवं जातिगत भेदभावना के प्रति विद्रोह व्यक्त किया और सवर्ण, असवर्ण एवं अनुलोम-प्रतिलोम विवाह प्रणाली को प्रचलित

** रीडर एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, वाराणसी*

*** प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, वाराणसी*

किया। यह भक्ति-जगत् में मान्यता प्राप्त अत्यधिक समानता एवं विश्वबन्धुत्व की भावना की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति थी।[७] भक्ति साहित्य के निर्माण एवं अर्जन-वर्धन में पुराणों का प्रमुख हाथ रहा है, वास्तव में सम्पूर्ण भक्ति साहित्य का आधार पुराणा मात्र हैं, वैदिक साहित्य का अध्ययन करने के अनधिकारी समझे जाने वाले वर्णाश्रम लोगों तथा अन्य साधारण लोगों के लिये भक्ति प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ तथा विकास हम पुराणों में ही पाते हैं।[८] यही कारण है कि तमिल प्रदेश की धार्मिक मान्यताओं और तमिल जनता ने रीतिरिवाजों को ग्रहण कर सांस्कृतिक समन्वय का भी कार्य किया।[९] पुराणों के वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि एक ऐसा समय आ गया जब इन ग्रन्थों को अप्रामाणिक कहकर उड़ाने की चेष्टा की गयी थीं, परन्तु अब इतिहास अनुरागी उन्हें बहुत बहुमूल्य निधि मानने लगे हैं, उनमें दी गयी बेहूदी बातें उत्तरकालीन पण्डितों की कृति समझी जाती हैं। असल में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले से लेकर आज तक पुराण बहुत अविकसित बुद्धि के लोगों के हाथ में रहे हैं, फलत: उनमें बेहूदी बातें इतनी आ घुसी हैं कि पुराणों का मूल रूप खोज निकालना बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है।[१०]

पुराण वेदों की तरह ब्राह्मणों की परम्परा नहीं, क्षत्रियों की परम्परा एवं कथाएं प्रस्तुत करते हैं। यह भागवत-भक्ति से उनके सम्बन्ध का परिचायक है।[११] पुराणों ने मुख्यत: ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना पर बल दिया, यह उन पर पड़े साम्प्रदायिक प्रभाव का परिचायक है। पुराणों के सूक्ष्म विवेचन से हमें यह पता चलता है कि उनमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों देवतओं को प्रमुख स्थान दिया गया है।

भक्ति पद्धति के परिपोषक तत्वों की व्याख्या करके पुराणों ने उनके प्रति जनता की आस्था बढ़ायी। पुराण लक्षणों का जो उल्लेख हुआ है, वह उसकी प्रतिपादन शैली पर प्रकाश डालता है -

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशी मन्वन्तराणिच।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्।।[१२]

परमात्मा ब्रह्मा रूप में सृष्टि कर्म, विष्णु रूप में पालन और शिव रूप में संहार करते हैं। यही पुराणों की साधारण विचारधार है। पुराणों का त्रिमूर्ति सिद्धान्त एकेश्वरवाद का ही नहीं, त्रिमूर्तियों में से किसी एक की उपासना का समर्थन करता है। पुराणों के एकेश्वरवाद ने ईश्वर मात्र को चिरस्थायी और शेष सभी वस्तुओं को उन्हीं के अंश सिद्ध करके वेदान्त दर्शन का पोषण किया। यह भक्ति के दार्शनिक रूप के विकास के काम आया। पुराणों ने सगुण, निर्गुण, दोनों पद्धतियों की व्याख्या करके सगुण मार्ग को सहज ही साध्य सिद्ध कर दिया।[१३] पूजा-पद्धति तथा प्रतिमा-पूजन का समर्थन करके पुराणों ने भक्तों के लिये उपासना का सरल मार्ग खोल दिया है।[१४] भक्तियोग की सरलता, ज्ञानयोग और कर्मयोग की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता तथा भक्ति का अनुसरण करने में सर्वसाधारण के अधिकर का उल्लेख पुराणों में हुआ है।[१५] भक्ति मार्ग को गणतांत्रिक धर्म बना देने में पुराणों को अतिशय सफलता मिली है। पुराणों के अनुसार भक्ति चाण्डाल को भी ब्राह्मण से ऊंचा सिद्ध कर देने वाली है तथा भक्तिहीन होने पर ब्राह्मण को भी चाण्डाल होने का प्रतिपादन पुराणों में मिलता है।

विभिन्न तीर्थों, पुण्य स्थानों, पूजा केन्द्रों की महिमा प्रस्तुत करके पुराणों ने हिन्दुस्तान की भावात्मक एकता की ओर इंगित किया है। गया, काशी, प्रयाग, रामेश्वरम् आदि स्थान तथा

नर्मदा, गंगा, यमुना, गोदावरी आदि नदियों और अनेक धार्मिक केन्द्र इस कारण से भक्तों को आकर्षित करने लगे। पुराणों ने पापों से मुक्ति पाने के लिये प्रायश्चित की प्रथा की लोकप्रियता बढ़ायी।[१६] दर्शन के उच्चाकाश में विचरण करने वाले उपनिषद् धर्म को साधारण मानव के दैनिक जीवन में आवश्यक सुधार उपस्थित करने योग्य एवं व्यावहारिक बनाने की पवित्र साधना पुराणों में अंकित मिलती है।[१७] उपासना एवं भक्ति के लिए आवश्यक अभ्यास पाने के अनेक अवसर इन तीर्थस्थानों में उपलब्ध होते हैं।

सन्दर्भ :

१. गैरोला, वाचस्पति, संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९६० पृ० २८५-२८६.
२. वही, १९६० पृ० २८६-२८७.
३. डॉ० हरवंश लाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० १६४-१६६.
४. डॉ० आर०सी० हाजरा ने पुराणों तथा उप-पुराणों की तिथियों का पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन "Studies in Puranic records on Hindu rites and customes and studies in the Up-Puranas" में किया है।
5. J.N. Pargutar, An outline of the Religions Literature of India.
६. गैरोला, वाचस्पति, वही, पृ० २८२-२८५.
७. श्री राधामोहन चक्रवर्ती, पुराणों में भक्ति, कल्याण, भक्ति अंक, पृ० ५५.
८. वही।
९. डॉ० मलिक मोहम्मद, वैष्णव-भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३७.
१०. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, संस्करण १९६९, पृ० १४८.
11. A.D. Pusalkar, Studies in Epics and Puranas of India Introduction, p-63.
१२. रामदास गौड़, हिन्दुत्व (सं० १९९५), पृ० १६२.
१३. पद्मपुराण, शिव गीता १४-५१.
१४. श्रीमद् भागवतगीता, ११-२७, ५२-५३ तथा ११-३-४७-४८.
१५. देवी भागवत ७-३७, २-३ तथा श्रीमद्भागवत ११-२०-३२.
16. P.E. Pergiter, Puranas, Vol. 10. E.R.E.
१७. डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६१.

❋

दान का पौराणिक माहात्मय

(भूमिदान के विशेष सन्दर्भ में)

प्रियंका सिंह*, अजीत कुमार चौधरी**

भारतीय संस्कृति में दान का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही दान की महिमा में अनेकों स्तुतियों का प्राप्त होना इस महात्म्य का और भी प्रतिपादन करता है। कही इसे अपरमित पुण्य फल देने वाला तो कही इसे स्वर्ग की प्राप्ति में सहायक बताया गया। दान की अन्य प्रकारों की भांति भूमिदान की परम्परा भी समाज में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक साहित्य से ही भूमिदान के संकेत प्राप्त होने लगते है। ऋग्वेद[१] में देवों द्वारा आर्यों को भूमिदान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद[२] में पृथ्वी के प्रतीकात्मक दान के रूप में भूमिदान का उल्लेख हैं सूत्र साहित्य[३] में तो प्रत्येक यज्ञ की अलग-अलग दक्षिणा सन्दर्भ में पृथ्वी के दान का उल्लेख मिलता हैं। स्मृतियों[४] एवं महाकाव्यों[५] में भी भूमिदान की व्यापक महत्ता बतायी गयी है। महाभारत[६] में भिन्न-भिन्न रूपों में भूमि के दान से पुण्य फल की प्राप्ति का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। जैन[७] एवं बौद्ध[८] साहित्य में भी भूमिदान के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार पुराणों में भी भूमिदान के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार सर्वप्रथम राज पृथु ने अवासार्थ एवं आजीविका हेतु भूमि का प्रसाद किया तब से भूमि का नाम पड़ा। कुछ स्थलों पर इन्हें कृषि का अनुसन्धाता एवं प्रथम अभिषिक्त राजा कहा गया है। वायु पुराण[९] में राजा पृथु द्वारा भूमिदान दिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। वामन पुराण[१०] में भगवान विष्णु द्वारा दानवराज बलि से भूमि प्राप्त करने का उल्लेख है। इस कथा का संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना काल से ही मिलने लगता है। शतपथ ब्राह्मण[११] के अनुसार असुरों ने देवताओं को उतनी ही भूमि देना स्वीकार किया जितनी भूमि पर विष्णु लेट सकें भगवान विष्णु ने तीन पगों में ही पृथ्वी को ढ़क लिया और असुरो को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवताओं को पृथ्वी देनी पड़ी। इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि भूमिदान की परम्परा समाज में अति पुरातन काल से ही प्रचलित थी तथा बाद के निबन्ध ग्रन्थों एवं दानपत्रों में भूमिदान परम्परा का और भी अधिक विकसित स्वरूप मिलता है।

पुराणो में दान कर्मकाण्ड का विस्तार से विवरण प्राप्त होता है जिसमें भूमिदान सम्बन्धी प्रसंग तो और भी रोचक है। मत्स्य पुराण[१२] में धरादान को सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है। इस धरादान (भूमि अथवा पृथ्वी) की विधि का विस्तार से उल्लेख किया गया है। जिसके अनुसार इस दान में जम्बूद्वीप के आकार की भांति सुवर्णमयी पृथ्वी की रचना करवायें। उसके मध्य भाग

*शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

**भारत कला भवन, का०हि०वि०वि०, वाराणसी

में सुमेरू हो, आठो लोकपाल एवं नवों वर्षों से युक्त हो, नदी एवं नदो से समन्वित तथा सातों समुद्रों से परिवेष्टित हों। उसे महारत्नों से जटित, वसु-रूद्र तथा आदित्यों से संयुक्त बनवायें। इस तरह सभी प्रकार की पूजा अर्चना के उपरान्त धरा के आधे भाग को गुरू को तथा शेष बराबर भाग को पुरोहित को समर्पित करें। इस प्रकार उपर्युक्त में जो मनुष्य सुवर्ण निर्मित कल्याणी पृथ्वी का दान करता है वह वैष्णव पद प्राप्त करता है। इसी प्रकार तुला पुरूष दान[१३] की विधि को विस्तार से प्रस्तुत कर दक्षिणा में भूमि के निवेदन का उल्लेख प्राप्त होता है। इस पुराण में हलों से युक्त भूमि के दान की विधि भी प्राप्त होती है। विभिन्न साक्ष्यों के अनुरूप हेमाद्रि[१४] ने भी भूमिदान की विधि प्रस्तुत की है। प्रारम्भिक अभिलेखीय साक्ष्यों में इस प्रकार की विधियों का अभाव दिखायी देता है। किन्तु बाद में वाकाटक, पल्लव, चालुक्य, चाहमान आदि लेखों[१५] में भूमिदान से सम्बन्धित विधि विधानों का विस्तृत उल्लेख हुआ है।

भूमिदान का महत्व साहित्य में इतना अधिक दिखाया गया है कि इसे पुण्य एवं यश के साथ-साथ स्वर्ग प्राप्ति का माध्यम भी बताया गया है। इन्हीं पुण्य फलों के सन्दर्भ में देवी भागवत पुराण[१६] का उद्वहरण भी महत्वपूर्ण है। जहां भूमि के निवेदन से भिन्न-भिन्न पुण्यफलों की चर्चा विस्तार से मिलती है। इसमें कहा गया है कि जो मनुष्य ब्राह्मण को सस्ययुक्त भूमिदान देता है वह लम्बे समय तक स्वर्ग भोगने के पश्चात् पुनः इस योनि में जन्म लेकर महान भूमिप बनता है। इसी प्रकार ग्राम का दान करने वाला लक्ष ग्राम प्राप्त करता है तथा वापी, तड़ाग, नानावृक्ष आदि से समन्वित प्रजायुक्त दश नगर देने वाला स्वर्ग में सुख भोगने के पश्चात इस योनि में राजराजेश्वर पद प्राप्त करता है। अग्नि पुराण[१७] भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है जिसमें पृथ्वी को सौ करोड़ योजन में विस्तृत बताया गया है तथा जम्बूद्वीप तक सीमित पृथ्वी को उत्तम बताया गया है। इस प्रकार की पृथ्वी का दान करने वाला बुद्धिमान पितरों के साथ चिरकाल तक ब्रह्मलोक में आनन्द प्राप्त करता है। इसी पुराण में यह भी कहा गया है सस्य-सम्पन्न, गॉव सौ-पचास निर्वतन भूमि, ग्रह आदि का और एक गोचर्म पृथ्वी का दान करने से सभी वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। स्कन्द पुराण[१८] में ऐसे दो ब्राह्मणों का उल्लेख है जिन्होंने भूमि का दान करने के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त किया था।

महाभारत[१९] एवं स्मृतियों[२०] की भांति पुराणों में भी भूमिदान को प्रायश्चित आदि विधानों से सम्बन्धित किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण[२१] एवं कूर्म पुराण[२२] में गोचर्म बराबर भूमि के दान से पाप शुद्धि की बात कही गयी है। गोचर्म भूमि से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार का नाप है। मत्स्य पुराण[२३] में गोचर्म का परिमाण देते हुए कहा गया है कि एक वृषभ तथा बछड़े-बछियों सहित एक हजार गायें जितनी भूमि पर आराम से घुम सके उतनी लम्बी चौड़ी भूमि गोचर्म कहलाती है। आचार्य वृहस्पति[२४] ने गोचर्म भूमि की लम्बाई-चौड़ाई बताते हुए लिखा है कि दस हाथ के दण्ड से तीस दण्ड की लम्बाई और दस दण्ड भर चौड़ाई वाली भूमि गोचर्म भूमि के बराबर होती है। इस प्रकार दान की रक्षा करने, उसको वापस न लेने तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा उसको बाधित होने से बचाने के उदेश्य से दान पात्रों[२५] में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अवधारणाओं का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है।

प्रारम्भिक अवस्था में दान एक सामाजिक सहयोग था जिसे बाद में धर्म से जोड़कर इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए पुण्य लाभ का प्रमुख साधन समझा जाने लगा। यद्यपि वैदिक काल में दान के साथ देश काल का कोई बंधन नहीं था। किन्तु बाद में

धीरे-धीरे दान के लिये देश काल का विधान साहित्य में प्राप्त होने लगता है। प्रारम्भ में भूमिदान को यज्ञ स्थल आदि से सम्बन्धित किया गया किन्तु बाद में तीर्थ, भगवान के मन्दिर आदि पवित्र स्थानों से जोड़ दिया गया। दान की स्मार्त परम्परा में मनु[२६] ने भी दान को तीर्थ आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित किया है। महाभारत[२७] में भी दान के लिये विशेष तीर्थों व पुण्य क्षेत्रों की मान्यता प्राप्त होती है। इसमें यज्ञ भूमि से सम्बन्धित भूमिदान के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

दान की पौराणिक मान्यता में तीर्थ आदि की गरिमा शाश्वत पुण्य स्थलों के रूप में हो गयी। पुराणों में दान से सम्बन्धित तीर्थ एवं धार्मिक स्थलों की लम्बी सूची मिलती है। स्कंद पुराण[२८] में वाराणसी, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर, गंगा, समुद्रतट, नैमिषारण्य, अमरकण्टक, श्रीपर्वत, महाकाल, गोकर्ण तथा इन्हीं के समान पवित्र स्थलों को तीर्थ क्षेत्र बताते हुए इसमें किये गये दान से अनन्त फल प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। कूर्म पुराण[२९] में यह उदाहरण प्राप्त होता है कि प्रयाग आदि तीर्थों, पवित्र मन्दिरों, नदियों के किनारे तथा नैमिष आदि पुण्यप्रद अरण्यों में दान देने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है। बल्लालसेन[३०] की दान सागर में विष्णु, मनु, भविष्य पुराण एवं मत्स्य पुराण के उदाहरणों द्वारा सभी पर्वतों, नदियों, मंदिरों आयतनों आदि को दान के लिये पुण्य क्षेत्र घोषित किया गया है। इस प्रकार हेमाद्रि[३१] ने तीर्थों में दिये गये दानों को परम पुण्य प्रद लाभदायक बताया है।

इस सन्दर्भ में पी०वी० काणे[३२] का मत है कि पुराणों में पुण्य स्थलों की लम्बी सूची का कारण सम्भवत: तीर्थों में स्थायी रूप से रहने वाले पुरोहितों द्वारा धन की लालच में आकर बाद में नये-नये तीर्थ का बनाया जाना था। वैसे पुराणों में तीर्थों की लम्बी सूची का कारण जो भी रहा हो लेकिन इतना स्पष्ट है कि पवित्र स्थलों की परम्परा पौराणिक काल में अधिक विकसित हुयी। पौराणिक साक्ष्यों के अतिरिक्त अभिलेखीय साक्ष्यों में भी ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं। जहाँ पवित्र स्थलों पर भूमिदान दिये जाने का विवरण प्राप्त होता है। गाहड़वाल[३३] एवं कलचुरि[३४] ताम्रपत्रों में ऐसे उदाहरणों की भरमार है जहाँ गंगा अथवा प्रयाग में स्नान कर भूमिदान का कार्य सम्पन्न किया गया।

दान से सम्बन्धित विशिष्ट स्थलों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने विशिष्ट अवसरों का भी निर्धारण किया है जिससे दिये गये दान प्रतिदिन के दान कर्म से अधिक पुण्यप्रद माने गये हैं। पुराणों में कुछ शुभ महीनों, कुछ निश्चित तिथियों, व्रत आदि शुभ अवसरों पर दान दिये जाने का उल्लेख है। अग्निपुराण[३५] में विषुवत, पुण्यपर्व, व्यतिपात, दिनक्षय, युगादि, संकान्ति, चतुर्दशी, अष्टमी, शुक्ल पंचदशी, सर्वाद्वादशी, अष्टकाख्या, यज्ञ, उत्सव, मन्वन्तर तथा धृतियोग में दु:स्वप्न देखने पर दान का उल्लेख किया है। कूर्म पुराण के उदाहरण से ज्ञात होता है कि अयन, विषुव, चन्द्र व सुर्यग्रहण आदि समयो में दिया गया दान अक्षय होता है। पुराणों में प्रतिपादित दान सम्बन्धी निर्देश पूर्वमध्यकालीन निबन्धों ग्रन्थों में भी मिलता है। हेमाद्रि[३६] ने अपने काल प्रकरण में स्कन्द पुराण, पद्म, पुराण, भविष्य पुराण के उद्धहरणों द्वारा महीनों के तिथियों का उल्लेख किया है जिसमें स्नान-दान आदि को अक्षय पुण्य कारक बताया गया है। ये तिथियां है अश्विन मास की शुक्ल पक्ष की द्वितीया, वैशाख मास शुक्ल की तृतीया, भाद्र मास शुक्ल पक्ष की चतुर्थी, षष्ठी, पौष मास शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चैत्र मास की त्रयोदशी व चतुदर्शी इत्यादि। ब्राह्मण परम्परा की भाँति जैन व बौद्ध परम्परा में भी कुछ तिथियों को दान देना पुण्य कारक माना गया है तथा धर्मिक महत्व के कारण इन्हें दान कृत्यों से सम्बन्धित किया

गया है। बौद्धों को सर्वाधिक दान वैशाख मास में दिये जाने का उल्लेख मिलता है। यह मास बुद्ध के जन्म के कारण बौद्धों में विशेष महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार जैन धर्म अष्टन्हिक[३७] पर्व परम्परा में भूमिदान का महात्म्य प्राप्त होता है। उदाहरण स्वरूप आदि पुराण[३८] में जैन उत्सवों के समय ऐसे दानों का विधान प्राप्त होता है। साहित्यिक ग्रन्थों की भांति अभिलेखों में भी दान सम्बन्धी विशेष मास, दिन पक्ष के विवरण तथा विशेष अवसरों पर किये गये दान का उल्लेख प्राप्त होता है। आदित्यवर्मन् के कर्नूल ताम्रपत्र[३९] में कार्तिक पूर्णिमा, मंगलेश के नेरुरदान[४०] लेख में कार्तिक द्वादशी को भूमिदान करने का उल्लेख मिलता है। चालुक्य, होयसल एवं राष्ट्रकूट दानपत्रों[४१] से ज्ञात होता है कि इन राजाओं ने वैदिक यज्ञों के साथ-साथ सूर्य व चन्द्रग्रहणों, अयनों एवं विभिन्न संक्रांतियों में भी भूमि दान किया। इस प्रकार पुराणों में विभिन्न कर्मकाण्डों, विशिष्ट समय, तीर्थ आदि स्थानों को दान से जोड़ दिया गया। पौराणिक काल में दान का यह कर्मकाण्डीय रूप इतना दृढ़ हो गया कि इसका पुण्यफल भारतीय वैदिक यज्ञ, यज्ञादि से भी अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा और आगे चलकर भारतीय परमपरा में धर्मकृत्य एवं विश्वास का एक प्रमुख अंग बन गया।

सन्दर्भ

१. विभा उपाध्याय, प्राचीन भारत में भूमिदान, पृ० ८.

२. अथर्ववेद, ५, ११, १, ५, ११, ८.

३. आश्वलायन श्रौत सूत्र ३.१४, लाट्यायन श्रौतसूत्र ९, ११, १४, २२.

४. याज्ञवत्क्य स्मृति ३१८-३२०.

५. महाभारत, अनुशासन पर्व, ६१, १८, १९.

६. वही, अनुशासन पर्व, ६५.३०. ७. आदि पुराण, २०.२८.

८. मज्झिम निकाय, चंकि सुत्त २.५.५. ९. वायुपुराण अ० ६२.

१०. वामन पुराण, सुरामहात्म्य २.८. ११. शतपथ ब्राह्मण, १.२.५.५.

१२. मत्स्य पुराण, उत्तरा भाग, रामप्रताप त्रिपाठी, पृ० ५५८. हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग १९८८.

१३. वही। १४. हेमाद्रि, दानखण्ड पृ० ५०६-०७.

१५. जैन शिलालेख, जिल्द, २, पृ० २४१-२४४, १४१-१४८, ११४, १२९, १४८, २२५.

१६. देवी भागवत पुराण, ९.३०, ३७-४८.

१७. अग्निपुराण (हिन्दी अनुवाद सहित) पृ० ३७१ अनुवाद तारिणीश झा, हिन्दी सम्मेलन प्रयाग।

१८. स्कंद पुराण, वैष्णव खण्ड २०.५६-८८.

१९. महाभारत अनुशासन पर्व, ६२.१९. २०. वृहस्पति स्मृति १.७.

२१. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, १.३-४.

२२. कुर्मपुराण, उपरिविभाग, अं० २६, १२-१३.

२३. मत्स्य पुराण, अ० २८३. २४. वृहस्पति स्मृति, ७.९.
२५. डी०सी० सरकार, इण्डियन एपिग्राफी, पृ० १७४-२०९.
२६. मनुस्मृति, २.१७.१८. २७. महाभारत, अनुशासन पर्व, २६.४.
२८. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग एक पृ० ४५४, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९९२.
२९. कूर्मपुराण (हिन्दी अनुवाद सहित) अनुवादक तारिजिशका पृ० ६९४-३०.
३०. बल्लालसेन, दानसागर पृ० ३५-४०.
३१. दृष्टव्य, धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग, पृ० ५४.
३२. वही, तृतीया भाग, पृ० १३०९.
३३. राजबली पाण्डेय, हिस्टारिकल एण्ड लिटरेटी इंस्क्रप्शंस, पृ० १८७.
३४. वही, पृ० १८५.
३५. द्रष्टव्य, अग्निपुराण, अनुवादक तारिणीश झा, पृ० ५५४.
३६. हेमाद्रि, दानखण्ड पृ० ८३.
३७. एपिग्रफिया इण्डिका, जिल्द ६ पृ० २५-२७.
३८. आदिपुराण, १७.१५६-१५७.
३९. ज०बा० ब्रांच रा०ए०सो० जिल्द ७, पृ० १६१ (जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी)
४०. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृ० १६१.
४१. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ११, पृ० २७९, जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, पृ० ९५-९६.

✸

गीता में भक्ति का स्वरूप

महेन्द्र नाथ सिंह*, रुचि सिंह**

प्रचीन भारत के दर्शन का एक अत्यन्त लोकप्रिय काव्यात्मक प्रतिपादन भगवद्गीता में हुआ है, जो महाभारत काव्य का एक अंग है। भक्तियोग की चर्चा ही गीता सबसे महत्वपूर्ण अंश है।[१] गीता में मोक्ष के जिस पंथ का उद्घाटन हुआ है उसमें निष्काम कर्म का भी प्रमुख स्थान है।[२] कुरुक्षेत्र के युद्ध में अपने बन्धु-बांधवों की हत्या तथा युद्ध की भयानकता से त्रस्त पाण्डव और अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कर्म के लिये जो प्रेरणा दी है, वही भगवद्गीता में निरूपित है। घोर अंगिरस ने अपने शिष्य तथा गीता के वक्ता कृष्ण को सिखाया था कि सत्य, अहिंसा आदि यज्ञानुष्ठान कराके ब्राह्मणों को दान देने के समान उपयोगी है। वास्तव में घोर अंगिरस ने यज्ञेतर संस्कारों पर बल दिया और घोषणा की कि हमारा जीवन ही सबसे बड़ा यज्ञ है।

गीता की विशेषता यह है कि उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्त इस ग्रन्थ में सामाजिक जीवन पर लागू किये गये हैं। उपनिषदों ने वैराग्य को तो मुक्ति का साधन माना किन्तु शूद्रों को भक्ति पाने का अधिकार नहीं दिया, क्योंकि वेद और उपनिषद् नहीं पढ़ सकते थे। बौद्ध और जैन धर्मों के निर्वाण या मुक्ति का वादा तो सबके लिये किया, लेकिन उन्होंने भी शर्त लगा दी कि श्रमण या संन्यासी हुए बिना मुक्ति किसी को नहीं मिलेगी। गीता की सबसे बड़ी विशेषता है कि गीता मुक्ति का दरवाजा सबके लिये खोलती है[३] और यह भी कहती है कि गृहस्थी का काम करते हुए भी आदमी मोक्ष पा सकता है। अत: गीता को गृहस्थों की उपनिषद् कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

गीता की सबसे बड़ी विशेषता है कि कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग की चर्चा समान रूप से की गयी है। गीता के अट्ठारह अध्यायों में से प्रथम छः अध्यायों में कर्मयोग, बीच में छः अध्यायों में भक्तियोग और अंतिम छः अध्यायों में ज्ञान की चर्चा हुई है। भक्तियोग सम्बन्धी अध्यायों में सुगण, साकार-निराकार एवं निर्गुण-निराकार की उपासना का उल्लेख है। गीता असल में समन्वयात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है।[४]

भगवद्गीता के अट्ठारह अध्यायों में सन्देह में डूबे अर्जुन को कृष्ण ने लम्बा दार्शनिक उपदेश दिया है। एक क्षत्रिय के रूप में अपने शत्रुओं का संहार करना अर्जुन का कर्तव्य था, किन्तु ये शत्रु उनके सगे-सम्बन्धी थे। इसलिए अर्जुन उनकी हत्या करने में नैतिक रूप से विचलित हो उठे - इनमें तो 'मेरे आचार्य, मामा और दादा, मेरे चचेरे और ममेरे भाई, मेरे पुत्र और पौत्र, मेरे मित्र, मेरे श्वसुर और शुभचिन्तक हैं।'[५] इन सबसे अर्जुन पुराने दीर्घकालीन रक्त-सम्बन्धों और

* *रीडर एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, वाराणसी*

** *प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, वाराणसी*

कुल-धर्म से बंधे थे। किन्तु कृष्ण ने अर्जुन का आह्वान किया कि वह अपने वर्ण कर्तव्य को अंत:करण की पीड़ा की चिन्ता किये बिना पूरा करे। वास्तव में यह आह्वान नई ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की बढ़ती हुई शक्ति का द्योतक था। अर्जुन की भावना जहां यह थी कि कुल-धर्म का उल्लंघन करना पाप है, वहीं कृष्ण ने इस बात पर जोर दिया कि स्वधर्म के पालन से बढ़कर कुछ भी नहीं है और युद्ध करने वाले वर्ण (क्षत्रियों) के लिये न्यायपूर्ण युद्ध में भाग लेने से बढ़कर कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।[६] अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ व्यक्ति श्रेय का भागीदार होता है जबकि किसी दूसरे के कर्तव्य को पूरा करने की ओर दौड़ना खतरे से खाली नहीं है।[७] गीता में जो भिन्न-भिन्न दार्शनिक स्थितियां अपनायी गयी हैं, वे सब इस संसार में अपने कर्तव्य (धर्म) की पूर्ति के लिये कर्म करने पर जोर देती हैं। शरणागत भक्त ही उनके यथार्थ रूप को समझ सकता है। भक्त उन्हें जिस प्रकार भजता है, वे उसी रूप में प्रकट होते हैं।[८] भगवान देवताओं का ईश्वर और सम्पूर्ण भूत प्राणियों का सुहृद् है, जो यह समझकर भगवान का अनुयायी तथा परम प्रेमी बन जाता है, वही द्वेष-भाव से हीन तथा तन-मन भगवान में अर्पित भक्त है, गीता में ऐसे भक्तों का लक्षण वर्णित है।[९] गीता की व्याख्या करते हुए महात्मा गांधी ने भक्तों को कर्मयोगी बताते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं -

"भक्त वही है जो किसी से ईर्ष्या नहीं करता, जो दया का सागर है, जो अहंकार रहित है, जो निस्वार्थ है, जो सर्दी और गर्मी, सुख और दुख दोनों के प्रति समचित रहता है, जो सदा क्षमावान है, जो सदा सन्तुष्ट है, जिसका संकल्प दृढ़ है, जिसने अपने मन और आत्मा को ईश्वर को अर्पित कर दिया है, जो किसी में भय उत्पन्न नहीं करता, जो दूसरों से भयभीत नहीं होता, जो आह्लाद, दुख और सुख से मुक्त है, जो शुद्ध है, जो कर्म में पटु है किन्तु उसमें आसक्त नहीं होता, जो भले और बुरे सभी फलों को त्याग देता है, जो शत्रु और मित्र से समता का व्यवहार करता है, जो आदर तथा अनादर से विचलित नहीं होता, जो प्रशंसा सुनकर फूल नहीं उठता, जो अपनी बुराई सुनकर मर्माहत नहीं होता, जो शांति और एकान्त पसंद करता है और जिसने अपनी तर्क बुद्धि को अनुशासित कर लिया है। ऐसी भक्ति के साथ गहन आसिक्त का रहना असंगत है।"

उपनिषद् काल के अंतिम क्षणों में जो बौद्धिक ज्वार उठा उसने न केवल ईश्वरवादी तथा आदर्शवादी विचारधाराओं को चुनौती दी, बल्कि आदर्शवाद की जड़ों को हिला दिया। साथ ही साथ ब्राह्मणों के छोटे से समुदाय की सत्ता और समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था की निन्दा की गयी थी। सत्तारूढ़ लोगों ने इस असंतोष को देखा, समझा और तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ईश्वर की अटल आस्था रखने का प्रयत्न किया। उस काल में जो धार्मिक प्रणालियां प्रचलित थीं उस पर भण्डारकर का विचार था कि 'उनमें से अधिकांशत: अनीश्वरवादी थीं।' भरतीय मस्तिष्क केवल ऐसे नैतिक विचारों और नैतिक उन्नयन पर वाद-विवादों का जिनकी किसी ईश्वरवादी आस्था से कोई सम्बन्ध नहीं था, आदी हो गया था। बौद्ध धर्म तथा अन्य प्रणालियों पर ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह अत्यन्त शुष्क नैतिक विचारों का भी प्रचलन था जो महाभारत में भी भरे पड़े हैं। अत: ऐसी प्रवृत्तियों का मुकाबला करने के लिये ही भगवद्गीता जैसी विचार पद्धति की आवश्यकता थी। उपनिषदों में ईश्वरवादी विचार इतने बिखरे हुए थे कि व्यावहारिक कार्यों के लिये उन्हें मानव उद्धार की ऐसी प्रणाली में बांधना आवश्यक था जो आसानी से लोगों की समझ में आ जाय। ऐसा लगता है कि ये ही वे परिस्थितियां थीं जिनमें गीता का आविर्भाव हुआ।[१०]

गीता में वर्णित भावनाओं के आधार पर सभी लोगों को भक्ति का अधिकार प्राप्त है, यहां तक कि शुद्रादि भी भगवान की शरण में आकर परमगति पा सकते हैं।[११] भक्ति साधना की यह विशेषता है कि भक्त अपने नेत्रों के द्वारा भगवान को देख सकता है। भक्त से अर्पित होने वाले पत्र-पुष्प फलादि को भगवान प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं।[१२] भक्ति साधक के समस्त पापों को मिटाकर उसे मोक्ष प्रदान करने वाली है। गीता के अनुसार भगवान की शरण में रहने की तैयारी के अलावा और किसी धर्म की आवश्यकता नहीं है।[१३] भगवद्गीता में चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख मिलता है - अथार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु, ज्ञानी। इनमें से अथार्थी से आर्त्त, आर्त्त से जिज्ञासु और जिज्ञासु से ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है।[१४]

डॉ० वी०एम० बरुवा ने गीता को विश्वास तत्व की प्रमुखता की दृष्टि से भक्ति का ग्रन्थ स्वीकार किया है।[१५] गीता में कर्मयोग सिद्ध करने वाले श्री बालगंगाधर तिलक भी गीता में भक्ति तत्व की पूर्णता स्वीकार करते हैं और साथ ही साथ उनकी मान्यता है कि निष्काम कर्म की साधना के साथ भक्ति की श्रेष्ठता का ज्ञान भी गीता से ही प्राप्त होता है।[१६] गीता में ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों धर्म, साधनाओं का समुचित विवेचन होते हुए भी, अंत में भक्ति को सर्वोपरि ठहराया गया है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं - मेरे जिस रूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन दुर्लभ है, देवता भी इस रूप को देखने की इच्छा रखते हैं। न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ, जैसे तुमने देखा है। हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्वत: जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ।[१७] कृष्ण आगे अर्जुन को-सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज[१८] का उपदेश देते हैं, जो इस बात का सबल प्रमाण है कि कृष्ण ने जिन-जिन साधना पद्धतियों का विवेचन गीता में किया है, इन सबमें भक्ति श्रेष्ठ है। वह भक्ति शरणागति भाव की भक्ति है।

गीता के बारहवें अध्याय में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति को सुन्दरतम कहते हुए कृष्ण ने सगुण भक्ति को इसलिए महत्व दिया है कि यह सर्वसाधारण द्वारा साध्य है जबकि निर्गुण भक्ति केवल ज्ञानी पुरुषों के लिये ही है। भक्ति मार्ग को सरलतम बताते हुए और साथ ही सगुण भक्ति पर बल देते हुए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं - अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों (निर्गुणोपासकों) को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि देहाभिमानियों के लिये अव्यक्त में गति होना दु:साध्य है, परन्तु जो सब कर्मों का मुझमें समवेश करके अनन्य भाव से मन लगाकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, मुझमें पूर्णतया चित्त लगा देने वाले व्यक्तियों को मैं मृत्युरूपी संसार सागर से शीघ्र ही पार करता हूँ। अत: तुम मुझमें मन लगाओ, मुझमें ही बुद्धि स्थिर करो क्योंकि ऐसा करने से उन्नत होकर नि:संदेह मुझमें ही निवास करोगे... अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान विशिष्ट है, ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तुरन्त शांति प्राप्त होती है।[१९] गीता में स्मरण, कीर्तन, वन्दना आदि को भी भगवत् प्राप्ति का साधन बताया गया है। मानसिक और बाह्य दोनों प्रकार के अर्चनों का प्रमाण गीता में मिलता है। कृष्ण भगवान ने (गीता में) एक स्थान पर स्वयं कहा है कि जो मुझे भजते हैं, मैं उनको वैसे ही भजता हूँ।[२०]

इस प्रकार गीता में भक्ति से सम्बन्धित तत्वों का विकसित रूप दृष्टिगत होता है। श्रीकृष्ण के धार्मिक उपदेश जो उन्होंने गीता में अर्जुन को दिये थे, भक्ति मार्ग का आदिम रूप तथा गीता इसका आदिम ग्रन्थ कहा जा सकता है। भगवद्गीता भक्ति की उष्णता को पैदा करती है तथा जीवन के नैतिक महत्व पर बहुत बल देती है। भगवद्गीता वेदों के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित

करने के बजाय उनके प्रति आदर का आदेश देती है। मध्यकालीन भक्तों ने जिनकी कठोर आलोचना की गयी है, भक्ति मार्ग को आस्था का उपाय, ज्ञान-मार्ग को ज्ञान का साधन और परम मोक्ष प्राप्ति के उपायों के रूप में स्वीकार किया है। भक्तों ने एक ही काल में आस्तिकता, सर्वेश्वरवादिता तथा भक्ति को मानव मनोविकार की एक आस्थामय व्याख्या मानी है।[२१] फिर भी गीता का भक्ति मार्ग ही एक ऐसी वस्तु है जिसका बीज आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में मौजूद था।[२२] वास्तव में गीता में हम इस भक्ति का पुष्पित और पल्लवित रूप देखते हैं। भक्ति ने ठीक-ठीक इसी समय पर आकर, आकार क्यों लिया, इसका कारण यह है कि जिस वस्तु का बहुत अभाव होता है, उसकी कामना लोगों को और जोर से होने लगती है। चूंकि बौद्ध मत ने भक्ति के सभी दरवाजे बंद कर दिये थे इसलिए वह हिन्दू धर्म में जोरों से बढ़ने लगा।

सन्दर्भ :

1. Balmukunda Gupta, The Development of Krisnaite Poetry in Hindi Literature, p. 47.
२. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २:४५, ५३ तथा ४२-४३.
३. रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १५८.
४. श्री जयदयाल जी गोयन्दका, श्रीमद्भगवद्गीता मे भक्ति योग, कल्याण, भक्ति अंक, पृ० ११४-११५.
५. श्रीमद्भगवद्गीता, १, २६, २७. ६. वही, ३, ३४.
७. भगवद्गीता, ४, १३. ८. वही, ४/११.
९. वही, अध्याय १२/१३, १६.
१०. आर०जी० भण्डारकर, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० ६१.
११. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ६/४७.
१२. वही, अध्याय ९/२६, अध्याय ११, ५४.
१३. वही, अध्याय १८/६६. १४. वही, अध्याय ७/१७.
15. The Geeta must be judged as a treatise on Bhakti by virture of the prominence accored to the element of faith, The Bhakti Doctrine in Sundily-Sutra Dr. B.M. Barua
१६. बालगंगाधर तिलक, गीता रहस्य, पृ० ४३७.
१७. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ११/१४-१५.
१८. वही, अध्याय १८.
१९. भगवद्गीता, अध्याय १२/५.
२०. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४/११.
२१. डॉ० युसुफ हुसैन, मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति, पृ० ७.
२२. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १५९.

कृष्ण का उद्‌भव एवं विकास

(वेद से पुराण काल तक)

सरोज रानी*

भारतीय संस्कृति के विकास के इतिहास में श्रीकृष्ण बहुमुखी व्यक्तित्व से सम्पन्न संस्कृति-निर्माता हैं। उनके चरित्र में नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य और शास्त्रीय तथा लौकिक तत्वों का समन्वय हुआ है। कृष्ण का जीवनचरित, व्यक्तित्त्व और लीलारूप दीर्घकालीन भारतीय चिंतन और भावना के विकास का समन्वित रूप है। भारतीय विचारधारा का उत्कर्षित रूप श्रीकृष्ण में प्रकट है। दर्शन, धर्म और काव्य में श्रीकृष्ण के मिथकीय स्वरूप के लौकिक और अलौकिक मानवीय और अतिमानवीय रूपों को ही चिंतन, भावना और अनुभूति का विषय बनाया गया है।

कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के आठवें मण्डल में ८५वें सूक्त के रचयिता या वैदिक ऋषि के रूप में आया है। सूक्त की तीसरी और चौथी ऋचा में वह ऋषि स्वयं को कृष्ण कहता है। इस प्रकार कृष्ण का समय ऋग्वेद के समय के लगभग माना जा सकता है। प्रारंभ में वैदिक धर्म की प्रबलता के युग में इंद्र से कृष्ण की पराजय का आयोजन हुआ। किन्तु बाद में पौराणिक काल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता से इंद्र की अनेक पराजयों की कथा लिखी गई। इन दोनों देवताओं का वैरभाव भी कृष्णोपासना की प्राचीनता प्रकट करता है।[१]

'कौशितकी ब्राह्मण' में कृष्ण आंगिरस का निर्देश है। पाणिनी के सूत्र ४,१,१६ के गणपाठ में कृष्ण नाम का उल्लेख मिलता है। साथ ही सूत्र ४,१,९९ में कृष्ण से कार्ष्णायन नामक गोत्र बनाया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (३,.१७) (जिसका रचनाकाल ६०० ई०पू० है) में देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के शिष्य थे। छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस द्वारा अपने शिष्य कृष्ण को दिए उपदेश तथा श्रीमद्भगवतगीता में वासुदेव कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश में पर्याप्त वैचारिक साम्यता हैं। वासुदेव के आराध्य देव बन जाने पर कार्ष्णायन गोत्र परम्परा द्वारा वासुदेव के साथ ऋषि कृष्ण का अभेद-स्थापन प्रारम्भ हुआ। भंडारकर के विचार में वासुदेव को कृष्ण कहे जाने का सबसे अच्छा स्पष्टीकरण जातकों की गाथाओं के टीकाकार द्वारा किया गया है कि कृष्ण एक गोत्र नाम है।[२] वासुदेव कार्ष्णायन-गोत्रीय थे। इस गोत्र के होने के कारण वे कृष्ण नाम से पुकारे जाते रहे होंगे।

'वासुदेव' शब्द की व्युत्पति महाभारत और पुराणों में 'वस' धातु से मानी गयी है, जिसका अर्थ है, वह जो सभी वस्तुओं में निवास करता है।[३] वासुदेव मूलतः एक देवता का नाम था। तैत्तिरीय आरण्यक के दशम् प्रपाठक में नारायण के लिए निर्धारिक मंत्र[४] में नारायण के साथ वासुदेव एवं विष्णु अभिज्ञापित है। अतः यह स्पष्ट है कि ई०पू० तीसरी शताब्दी में

***** *प्रवक्ता, चित्रकला विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय*

वासुदेव का नारायण एवं विष्णु के साथ ऐक्य स्थापित हो चुका था। गीता में वासुदेव वृष्णिवंशोदभूत कहे गये हैं - 'वृष्णणीनां वासुदेवों स्मि' वृष्णिवंश का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में है। साथ ही तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरींय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी वृष्णि का उल्लेख है। इस प्रकार वृष्णिवंश और उसमें उत्पन्न होने वाले वासुदेव की प्राचीनता प्रमाणित है। वृष्णि जाति का दूसरा नाम सात्वत है। वासुदेव कृष्ण सात्वत वंश के पूज्य पुरुष थे एवं उन्हें के द्वारा वे सर्वप्रथम देवता या ईश्वर के रूप में माने गये थे।[५]

सात्वत, पांचरात्र, एकांतिन एवं भागवत एक ही मूल धर्म से संबंधित है।[६] इन सभी का समाहार 'भागवत-धर्म में हो गया और वही वासुदेवोपासना का एकमात्र प्रतिनिधि धर्म माना जाने लगा। सामान्य धारण यह है कि 'भागवत' शब्द मूलत: वृष्णिनायक वासुदेव कृष्ण के उपासकों की उपाधि थी। भागवत धर्म मूलत: वैदिक परंपरा में प्रचलित रूढ़िवाद, याज्ञिक हितों और विधि विधान से आबद्ध शास्त्रीय धर्म के स्थान पर सहज मानवीय धर्म के स्वाभाविक विकास का उदय है।[७] वासुदेव पूजा और भागवत धर्म का ऐतिहासिक आधार बौद्ध ग्रंथ निद्देश और घट जातक में उपलब्ध है। ४०० ई०पू० के निद्देश में वासुदेव और बलदेव की पूजा और अर्चना का स्पष्ट उल्लेख है। बौद्ध घट जातक में उपसागर और देवगम्भा के दो पुत्रों का नाम वासुदेव और बलदेव बतलाया गया है।[८] इसलिए बौद्ध परम्परा के अनुसार देवकीपुत्र वासुदेव कृष्ण की पूजा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

वासुदेव-कृष्ण-उपासना का स्पष्ट रूप से संकेत मेगस्थनीज ने भी किया है जो ई०पूर्व चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य की सभा में यूनानी राजदूत था। मेगस्थनीज का कथन है कि एक भारतीय जाति शौरसेनोयी हेराक्लीज की विशेष पूजा करती थी। उस लेख के अनुसार उनके प्रदेश में मेथोरा एवं क्लेइसोबोरा नामक दो विशाल नगर थे जिनके बीच में जोवारो नामक बड़ी नदी बहती थी। भण्डारकर ने हेराक्लीज को वासुदेव, कृष्ण, शौरसेनोयी को शूरसेन वंश अथवा सात्वत मेथोरा को मथुरा तथा क्लेइसोबोरा को कृष्णपुर तथा जोवारो को यमुना नदी स्वीकारा है।[९] ई०पू० दूसरी शताब्दी के बेसनगर (विदिशा) के अभिलेख में वासुदेव को 'देव देव' (देवताओं का देवता) कहा गया है, जिनके उपासक यूनानी राजा एंटियाल्किडस के राजदूत हेलियोडोरा द्वारा वासुदेव के सम्मान में गरुड़ध्वज की स्थापना का उल्लेख है। इसमें हेलियोडोरा स्वयं को भागवत कहता है। इस शिलालेख से भागवत धर्म और कृष्ण वासुदेव की महत्ता और प्राचीनता का प्रमाण मिलता है।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के राजपूताना के घोसुंडी के अभिलेख में संकर्षण एवं वासुदेव के उपासना-मण्डप के चारों ओर एक भित्ति के निर्माण का उल्लेख है। नानाघाट के शिलालेख (ई०पू० पहली शताब्दी) के प्रारम्भिक वन्दन में अन्य देवों के नामों के साथ संकर्षण एवं वासुदेव के नाम द्वन्द्व समास में प्राप्त होते हैं। ई०पू० दूसरी शताब्दी में पाणिनि (४, ३, १.८) पर अपने भाष्य में पतंजलि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सूत्र में विद्यमान वासुदेव क्षत्रिय की संज्ञा नहीं अपितु परमात्मा की संज्ञा है। भण्डारकर का कथन है कि महाभाष्य में उल्लिखित वासुदेव वृष्णिवंश कुल के वासुदेव हैं।[१०] पतंजलि ने कृष्ण द्वारा कंस के वध के नाटकीय वृत्तान्तों का भी उल्लेख किया है।[११]

उपरोक्त आधारों से यह सिद्ध होता है कि ई०पू० दूसरी शताब्दी के पूर्व ही कृष्ण कथा का विकास हो चुका था, जिसमें कृष्ण को देवत्व प्राप्त था, वासुदेव और नारायण-विष्णु से कृष्ण का तादात्म्य स्थापित था, कृष्ण-बलराम का संयुक्त रूप लोक प्रचलित था एवं कृष्ण द्वारा कंस-वध की कथा भी प्रचलन में थी।

ई०पू० चौथी शताब्दी से ईस्वी सन् के बाद की चौथी शताब्दी तक रचित एवं संगृहीत महाभारत मे कृष्णकथा के अनेक तत्त्व और सूत्र उपलब्ध है। महाभारत में कृष्ण के मूल मानवी चरित्र सुरक्षित हैं तथापि उनका देवत्व भी विद्यमान है। महाभारत नारायण और विष्णु की अभिन्नता को सर्वत्र स्वीकार करताहै। वैष्णव धर्म पर्व में 'नमोस्तु वासुदेवाय' तथा 'ॐ नमोनारायणाय' आदि कहकर नारायण एवं वासुदेव का समीकरण कर दिया गया है।[१२] इसी प्रकार महाभारत में विष्णु और वासुदेव कृष्ण का ऐक्य स्थापित किया गया है। 'भगवद्‌गीता' में अर्जुन वासुदेव कृष्ण को प्राय: विष्णु कहकर सम्बोधित करता है।[१३] भगवद्‌गीता में कृष्ण के विराट रूप को वैष्णव रूप कहा गया है।[१४]

महाभारत के कृष्ण मुख्यत: ज्ञानी और कर्मठ रूप में पाण्डवों के एक आध्यात्मिक मार्गदर्शक एवं सहायक के रूप में चित्रित हैं। प्राय: सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि कृष्ण एक उपदेशक या धर्म सुधारक भी थे। सभापर्व में राजसूय यज्ञ में कृष्ण युधिष्ठिर के सलाहकार हैं। 'गीता' से प्रमाणित होता है कि उनको देवता के साथ-साथ उपदेश भी माना जाने लगा था। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के विकास में महाभारत काल के अंत में और पुराणकाल के प्रारंभ में वैदिक साहित्य के विष्णु का देवत्व, ब्राह्मण ग्रंथों और आरण्यकों के नारायण का विश्वात्म और दार्शनिक रूप, छांदोग्योपनिषद के श्रीकृष्ण का ज्ञानी रूप और महाभारत के पूर्ववर्ती ऐतिहासिक देवता वासुदेव के जीवन-चरित्र के अनेक तत्त्वों का संयोग समाहित है।

उपरोक्त चरित्रों के अतिरिक्त वासुदेव कृष्ण का गोपाल कृष्ण स्वरूप भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। डॉ० रतिभानुसिंह नाहर के अनुसार गोपाल कृष्ण ईसा के प्रथम या द्वितीय सती के हैं।[१५] भण्डारकर ने इंगित किया है कि आदि पर्व (अध्याय २१, १२) में यह कहा गया है कि कृष्ण इसलिए गोविंद कहलाते हैं क्योंकि उन्होंने वराह के रूप में पृथ्वी को (गां) जल में पाया था (विन्दति)। संभवत: 'गोविन्द' ऋग्वेद में गायों को पालने वाले अर्थ में इंद्र के विशेषण 'गाविद्' शब्द का परिवर्तित रूप है। गोविन्द कालान्तर में, जब वासुदेव कृष्ण एक प्रमुख देवता का स्थान प्राप्त कर लेते हैं तो उनके साथ जोड़ दिये जाते हैं।[१६]

पूर्ववर्ती साहित्य में कृष्ण कथा के जो बिखरे सूत्र यत्र-तत्र उपलब्ध हैं उन सबके सहयोग से पुराणों में कृष्ण कथा का निर्माण हुआ है। प्राय: पुराणों में कृष्ण को विष्णु का पूर्ण अवतार माना गया है। हेमचन्द्र राय चौधरी महोदय का विचार है कि कृष्ण कथा से संयुक्त पुराणों का समय चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नही हो सकता, किन्तु वे पाँचवी शताब्दी के परवर्ती भी नहीं माने जा सकते क्योंकि, महाभारत के अंत में अठारह पुराणों का उल्लेख है और महाभारत का वर्तमान रूप छठी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था।[१७] पुराणों में श्रीकृष्ण के अलौकिक स्वरूप की अभिव्यक्ति उनके अवतारी रूप में हुई है। अवतारी रूप में उनके जन्म और कर्म दिव्य हैं। वे लीला पुरुषोत्तम सच्चिदानंद हैं। विष्णु पुराण में विष्णु के काले केश से कृष्ण की उत्पत्ति बतलाई गई है।[१८] नारदीय पुराण में श्रीकृष्ण-महात्म्य है। इस पुराण के प्रथम तथा द्वितीय श्लोक

में नर, नारायण सरस्वती देवी तथा लक्ष्मी के आनंद निकेतन, परमानन्द स्वरूप, पुरुषोत्तम वृन्दावनवासी भगवान कृष्ण की स्तुति की गई है।[१९] सथ ही कृष्ण को ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का स्वरूप बताकर ज्ञानस्वरुप आदिदेव माना है।[२०]

गरूड़ पुराण में विष्णु के नाम के साथ ही साथ विष्णु के कृष्ण नाम की भी महत्ता वर्णित है। कृष्ण का नाम लेने से नरक से व्यक्ति का उसी प्रकार उद्धार हो जाता है, जैसे जल को भेदकर कमल निकल आता है।[२१] वराह पुराण में वासुदेव शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। 'नमो वासुदेवाय' मंत्र का भी उल्लेख यत्र-तत्र हुआ है।[२२] पद्मपुराण कृष्ण की लीला के विभिन्न तत्त्वों की दार्शनिक, आध्यात्मिक व्याख्या है। मार्कण्डेय पुराण में भी कृष्ण लीला है। ब्रह्म-वैवर्तपुराण में राधा-कृष्ण लीला की विशद चर्चा हुई है। इस पुराण में कृष्णावतार के साथ-साथ राधा के अवतरण के कारणों की व्याख्या हुई है। अनेक स्थलों पर राधा-कृष्ण के अद्वैत भाव की विवेचना भी है। इस पुराण में कृष्ण की बाल लीलाओं में इनकी अलौकिक लीलाएं भी हैं। रासलीला का अत्यंत रसात्मक वर्णन इस पुराण में है तथा कृष्ण का मथुरा गमन और उद्धव का ब्रजागमन भी है।

भागवत पुराण कृष्ण का स्रोत और सम्पूर्ण मध्यकालीन कृष्ण का प्रधान उपजीव्य है। इस पुराण में कृष्ण के चरित्र की प्रधानता है और आदि, मध्य तथा अंत श्रीकृष्ण की लीलाओं से पूर्ण है-

आदिमध्यावसानेषु ....।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दित सत्सुरम्।। भागवत पुराण, ११/१३/१

भागवत के बृहद् दशम् स्कंध के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खण्डों में कृष्ण की समग्र लीलाओं का अत्यंत मनोहारी वर्णन है। भागवत के श्रीकृष्ण विष्णु के अंशावतार हैं और वे स्वयं भागवत कहे गये हैं - 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[२३] इस पुराण में अवतारी श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं की विशद व्यंजना है, जिसमें उनका प्रेममय और ऐश्वर्यमय स्वरूप प्रकट हुआ है। कृष्ण की अनेक लीलाएँ मानवीय हैं, किन्तु अधिकांश लीलाएँ अलौकिक और रहस्यात्मक हैं। कृष्ण की लीलाओं में लौकिकता व अलौकिकता का संपुजन है। भागवत का प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व ही है। भागवतकार ने श्रीकृष्ण के बाल रूप तथा बाल लीलाओं में प्राय: उनका मानवीय रूप उपस्थित किया है यथा - गोचारण, दुग्धदोहन, माखनचोरी, माटी भक्षण आदि में कृष्ण का मानव रूप उद्घाटित हैं, किन्तु कालिया दमन, दावानलपान, यमलार्जुन-उद्धार इत्यादि प्रसंगों में उनके दिव्य स्वरूप की आभा भी विद्यमान है।

भगवान में अनेक प्रसंगों के सहारे श्रीकृष्ण को देवाधिदेव सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ब्रह्मा द्वारा वत्स गोपहरण में श्रीकृष्ण ब्रह्मा से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। कृष्ण और इंद्र के द्वंद्व में कृष्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। श्रीकृष्ण द्वारा इंद्र यज्ञ निवारण और गोवर्धनधारण में उनका ज्ञानी, कर्मठ, मानवीय रूप तथा अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवी रूप प्रकट हुआ है। वेणुवादन, चीरहरण और महारास लीलाओं में कृष्ण के शृंगारिक रूप का चित्रण है। कृष्ण-प्रेम के लोकोत्तर प्रभाव की जो सुंदरतम कल्पना भागवत पुराण में की गई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'चीरहरण' लीला में कृष्ण के प्रति आत्म समर्पण द्वारा भक्ति की पराकाष्ठा का अनुपम रूप

दर्शाया गया है। रासलीला भागवत की कृष्ण लीलाओं का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। कृष्ण की रासोल्लसित क्रीडाएँ प्रत्यक्षत: लौकिक होकर भी भागवतकार की व्याख्या के कारण आध्यात्मिक बन गई है। महारास आत्मा तथा परमात्मा का पूर्ण मिलन दर्शाता है।

ब्रज की रसमयी लीलाओं के पश्चात् श्रीकृष्ण का मथुरा गमन तथा वहाँ पर कंस वध का प्रकरण आता है। तत्पश्चात् जरासंध, वाणासुर संहार तथा कृष्ण-शिव युद्ध भी वर्णित है, जिसमें कृष्ण की शिव से श्रेष्ठता सिद्ध हुई है। इस प्रकार भागवत पुराण में कृष्ण कथा पूर्ण विकसित रूप में मिलती है।

संक्षेपत: पुराणकाल तक विशेषत: भागवत पुराण के समय तक कृष्ण के चरित्र का सर्वांगिक विकास हो चुका था। उनकी विभिन्न लीलाओं का भी सांगोपांग वर्णन भागवत पुराण में प्राप्त है। यहाँ पर कृष्ण का दिव्य स्वरूप और उनकी अलौकिक लीला, रहस्यमयी और विस्मयकारी है। भागवत में कृष्णकथा के विशद निरुपण में गोकुल, मथुरा और द्वारिका तीनों स्थलों को ग्रहण किया गया है। मथुरा और द्वारिका में कृष्ण का ऐश्वर्यमय रूप तथा गोकुल में बाल एवं किशोर लीलाओं में बालसुलभ मानवीय एवं प्रेममय रूप उद्‌घाटित हुआ है। कृष्ण सखाओं के साथ कलोल क्रीड़ा में सख्यभाव की व्यंजना है। ब्रह्मा द्वारा वत्सहरण में कृष्ण के ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा हैं। यज्ञ पत्नियों पर कृपा, गोवर्धन पूजा और गोवर्धन धारण में कृष्ण के दार्शनिक, उपदेशक एवं अलौकिक रहस्यमय रूप का दिग्दर्शन होता है। वस्तुत: भागवत पुराण में कृष्ण का देवत्व और नरत्व, मानवीय और अतिमानवीय, सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म स्वरूप, शृंगारिक व आध्यात्मिक, अनुरागी तथा वैरागी इत्यादि विविध रूपों का कृष्ण के चरित्र के साथ प्रतिपादन किया गया है।

सन्दर्भ:

१. डी०आर० भण्डारकर- सम आस्पेक्ट्स आफ द ऐंसिएंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ८२-८३.
२. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर- (अनुवादक) माहेश्वरी प्रसाद, वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १३.
३. महाभारत १२.३२८.३६ विष्णु पुराण १.२.१२.
४. 'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नोविष्णु: प्रचोदयात।' तै०आ०, १०.१६.
५. सुवीरा जायसवाल- वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, पृ० ५६.
६. मुल्कराज आनन्द- द हिन्दू व्यू आफ आर्ट, पृ० ४५.
७. मैनेजर पाण्डेय- भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, पृ० ५६.
८. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर- वही, पृ० १२.
९. आर०जी० भण्डारकर- कलेक्टेड वर्क्स, भाग-४, पूना, १९२९, पृ० १५.
१०. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर- (अनुवादक) माहेश्वरी प्रसाद, वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० ४.
११. पाणिनि के अष्टाध्यायी (३.१.९६) पर पतंजलि का महाभाष्य, खण्ड-२, पृ० ३४, पंक्ति १७-१८, पृ० ३६, पंक्ति १४-२१.

१२. डॉ० रतिभानु सिंह नाहर- भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ६०.

१३. सुवीरा जायसवाल- वही, पृ० ६६.

१४. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर- वही, पृ० ३९.

१५. डॉ० रतिभानु सिंह नाहर- भक्ति आंदोलन का अध्ययन, पृ० ७४.

१६. रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर- वही, पृ० ४२.

१७. हेमचन्द्र राय चौधरी- मैटिरियल्स फार दि स्टडी ऑफ दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्टर, पृ० ९.

१८. विष्णु पुराण ५/१/५९-६०.

१९. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवी सरस्वती चैव ततो जयमुदीरयेत।
वन्दे वृन्दावनासीनमिन्दिरानन्द मन्दिरम्। उपेन्द्र सान्द्रकारूपयं परमानन्द परात्मपरम्।।
नारदपुराण पूर्व १/१

२०. ब्रह्माविष्णु महेशख्यं यस्यांशालोक साधका:।
तमादिदेवं त्रिद्रूप विरूद्धं परमं भजे।। नारद पुराण, पूर्व १/३.

२१. कृष्ण कृष्णोति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यश:
जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्। ग०पु०उ०ख० २८/४-६

२२. वराह पुराण १२९/३, ५१-५२, १४८/१०.

२३. भागवत पुराण ८/३/६.

✸

महर्षि भरद्वाज के अनुसार सूर्यरश्मियाँ एवं दर्पण-विज्ञान

शैलजा पाण्डेय*

ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के मन्त्रद्रष्टा महर्षि भरद्वाज यन्त्रशास्त्र, धातु विज्ञान वैमानिकी, अन्तरिक्ष एवं सूर्यश्मिविज्ञान तथा दर्पण विज्ञान आदि विविध विद्याओं के अधिकारी उपदेष्टा थे। अपने नोकोत्तर सामर्थ्य से उन्होंने वैदिक मन्त्रों के दर्शन के साथ सांसारिक सुख एवं अभ्युदय हेतु पदार्थ-विद्या अथवा आधुनिक विज्ञान का उपदेश दिया। अपने ग्रन्थ 'यन्त्रसर्वस्व' के वैमानिक प्रकरण में महर्षि भरद्वाज ने अन्तरिक्ष में सूर्य-रश्मियों के प्रभाव का अतीव सूक्ष्म एवं गहन विवेचन प्रस्तुत किया तथा उसी प्रकरण में दर्पण-विज्ञान पर भी प्रकाश डाला।

वेदों में सूर्य का वर्णन द्युस्थानीय देवता के रूप में प्राप्त होता है। इन्हें आदित्य भी कहा गया है। आदित्य शब्द का प्रयोग वेद एवं पुराण दोनों में प्रकाशमान् देवों के गण के लिये प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इनकी संख्या ६ कही गयी है -

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नू: सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोनि।

श्रणोतु मित्रो अर्यामा भगो नस्तु विजातो वरुणो दक्षो अंश:।। - ऋग्वेद, २/२७/१

पुराणों में द्वादश आदित्यों का उल्लेख मिलता है -

विवस्वानर्यमा पूषात्वष्टाथ सविता भग:।

धाता विधाता वरुणों मित्र: शक्र: उरुक्रम:।। - विष्णु पुराण, १/१५/१३१-१३३

इन १२ आदित्यों के द्वारा ऋषियों ने १२ महीनों में सूर्य के प्रकाश, ताप एवं रश्मिगत प्रभावों के परिवर्तन को दर्शाया है - कतमे आदित्या इति। द्वादशमासा: संवत्सरस्य। एते आदित्या:।- शतपथ ब्राह्मण, ११/६/६/८

आकाश में सूर्यरश्मियों का संयोग जब वायु, आकाशीय अग्नि, मेघ-विद्युत, ग्रहों-नक्षत्रों, राशियों एवं धूमकेतुओं के साथ होता है तब उनका अन्तरिक्ष एवं भूलोक पर पृथक्-पृथक् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूर्य-रश्मियों तथा उनकी विषशक्तियों के दुष्प्रभावों से रक्षा हेतु महर्षि भरद्वाज ने अपने ग्रन्थ 'यन्त्रसर्वस्व' के वैमानिक प्रकरण में दर्पण-विज्ञान का विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के दर्पणों के निर्माण की प्रक्रिया विवेचित है। इन दर्पणों के प्रयोग से विमान एवं विमान चालक की सूर्य-रश्मियों के दुष्प्रभावों से सुरक्षा की जाती है तथा कुछ दर्पण सूर्य-रश्मियों से प्राप्त शक्तियों के प्रयोग के लिये होते हैं।

विविध प्रकार के दर्पण एवं उनका प्रयोग

अन्तरिक्ष-यान विमान में ७ प्रकार के दर्पणों का प्रयोग प्राप्त होता है। आचार्य लल्ल ने विश्वक्रिया दर्पण, शक्त्याकर्षण दर्पण, वैरूप्य दर्पण, कुण्टिणी दर्पण, पिञ्जुता दर्पण, गुहागर्भ

* *राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, गांगानाथ झा परिसर, इलाहाबाद।*

दर्पण तथा रौद्री दर्पण का उल्लेख किया है।[1] इन दर्पणों के कार्य एवं इनकी निर्माण-विधि वैमानिक प्रकरण में वर्णित है, जो इस प्रकार है -

विश्वक्रिया दर्पण - इस दर्पण को यान के पीठ पर लगाया जाता है। इसकी सहायता से विमान-चालक सभी प्राणियों के कार्यकलापों का साक्षात् दर्शन करता है।[2]

निर्माण-विधि - क्रियासार ग्रन्थ में इसमें प्रयुक्त होने वाले पदार्थों तथा दर्पण के निर्माण की विधि दी गई है।

इसमें प्रयुक्त पदार्थ हैं - २ भाग सत्त्व, २ भाग शुण्डिलक, १ भाग गृध्र की अस्थि, ५ भाग पारा, २ भाग सिंचोरणी के पैर के नाखून, ६ भाग शुद्ध अभ्रक, ५ भाग लाल वर (सीसा, लेड), ८ भाग मोती का चूर्ण, १८ भाग सौम्यक मीन के नेत्र, १ भाग जले कोयले का सत्त्व, ८ भाग सर्प का केचुल, ६ भाग मातृण्ण, १० भाग वर शर्करा (ग्रेनाइट पत्थर का चूर्ण), ८ भाग क्षार, ४ भाग नाग (सीसा, लेड), २ भाग समुद्री फेन, ३ भाग गरुड़ पक्षी की त्वचा, ७ भाग बॉस का नमक, ५ भाग वैराज्य एवं श्वेत उटुम्बर वृक्ष की छाल। इन सभी पदार्थों को शुद्ध कर चोंच के मुख वाले मूषिका पात्र में भर कर चण्डोदर संज्ञक कुण्ड के मध्य में अच्छी तरह स्थापित कर देना चाहिये। इसे ८०० डिग्री के ताप पर गलाकर दर्पण के आधार भाग पर फैला देना चाहिये। इस प्रकार विश्वक्रिया दर्पण तैयार हो जाता है।[3]

शक्त्याकर्षण दर्पण - अन्तरिक्ष में यान के मार्ग में शरीर का नाश करने वाली अनेक विषशक्तियाँ होती हैं। उनके प्रभाव को नष्ट करने का सामर्थ्य इस दर्पण में होता है।

निर्माण-विधि - इसके निर्माण की विधि दर्पण प्रकरण में इस प्रकार वर्णित है -

२ भग हरतान, ५ भाग विरञ्ज सत्त्व, ८ भाग क्षार, ४ भाग विष्ट, ६ भाग जम्मारि (हीरा), १ भाग, रजताम्र, ८ भाग, जला कोयला, ८ बालू, २ भाग कछुये के अण्डे का सत्त्व, ३ भाग भारणि, ३ भाग कन्द, ५ भाग पौष्कल, ५ भाग प्रवात (मूँगा) २ भाग मोती, ६ भाग शुक्ति (सीपी), ८ भाग टंकण (बोरेक्स), ३ भाग भातूर बीज, ५ भाग शंख, - इन सभी को शुद्ध कर एवं इनका चूर्ण बनाकर बगुले के आकार के मूषा-पात्र में भरकर मण्डूक संज्ञक कुण्ड के मध्य में अच्छी तरह स्थापित करना चाहिये। इसे ५०० डिग्री ताप पर पकाना चाहिये। पक जाने पर इसे धीरे-धीरे विस्तृत दर्पण के मुख पर फैला देना चाहिये। इस प्रकार शक्त्याकर्षण दर्पण तैयार होता है।[4]

वैरूप्य दर्पण - इसे वैराजिक दर्पण भी कहते हैं। इसके प्रयोग से शत्रुओं के यान को रोका जाता है। उसके प्रभाव से शत्रु भय, मूर्च्छा एवं विस्मृति की स्थिति प्राप्त करते हैं। इस दर्पण के प्रभाव से शत्रु, के सम्मुख अपने यान की आकृति अग्नि, जल, वायु, अशनि, विद्युत्, धूम, सागर, पर्वत, सर्प, भालू, सिंह, व्याघ्र, भूत-प्रेत, पिशाच एवं भयंकर पक्षी आदि की बन जाती है।[5]

निर्मार्ण-विधि - दर्पण प्रकारण में इसके निर्माण की विधि इस प्रकार दी गई है -

५ भाग शल्य (हड्डी) का क्षार, ३ भाग क्ष्विंका (जिंक), ३ भाग लाक्षा, भाग सोमक, ३ भाग शश, २ भाग राजकुरंटिका, ८ भाग इंगानसार, ३ भाग टंकण, ८ भाग नख, ७ भाग बालू, ६ भाग मातृण्ण, ६ भाग रवि चुम्बक (सन-क्रिस्टल) ३ भाग पूर (चूना), २५ भाग

परा, ३ भाग हरताल, ४ भाग चाँदी, ६ भाग क्रव्याद, ८ भाग गरद, ३ भाग पिष्ट, ४ भाग कन्द (अर्शोह्न की जड़), ३ भाग वाराह पित्य, ५ भाग सार (अमोनियम क्लोराइड), २५ भाग गुंजा का तेल - इन सभी पदार्थों को शुद्ध कर मूषक-मूषिका पात्र में भर कर मूषास्य कुण्ड (विशेष आकृति का कुण्ड, भट्ठी) के मध्य में अच्छी तरह स्थापित कर ८०० डिग्री तापमान पर गलाना चाहिये। इस द्रव को दर्पण के मुख भाग पर फैला देना चाहिये। इस प्रकार वैरुप्य या वैनाजक दर्पण हो जाता है।[६]

कुण्टिणी दर्पण - विमान-पथ में जहाँ आकाशीय विद्युत् की तरङ्गे आपस में मिलती हैं, वहाँ बुद्धि को भ्रमित करने वाली विषशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उनके निवारण हेतु यान में कुण्टिणी दर्पण का प्रयोग किया जाता है। इन विषशक्तियों में एक की संज्ञा कुण्टिणी है।

निमार्ण विधि -कुण्टिणी दर्पण के निर्माण हेतु ५ भाग मिट्टी, ७ भाग सर्प का केचुल, ३ भाग समुद्री फेन, ५ भाग षण्मुख का सत्त्व, ८ भाग क्ष्विंक, ३ भाग खड्ग (गैंडा) के नख, ८ भाग क्षार, ७ भाग बालू, ८ भाग पारा, ४ भाग शंख, ६ भाग मातृण्ण, ३ भाग वरतताल (हरताल), ४ भाग गज एवं ऊँट का नमक, ७ भाग सुरंध्रिका, ५ भाग तेल (ginelly oil), ८ भाग मुक्ता त्वक् (मोती का सीप), ३ भाग शुक्ति (सीपी) तथा ४ भाग कपूर - इन सभी को शुद्ध कर शिञ्जिका मूषा-पात्र में भर कर शिञ्जीरक कुण्ड के मध्य में अच्छी तरह रखकर ७०० डिग्री पर गलाना चाहिये। इस द्रव को दर्पण के आधार पर फैलाना चाहिये। इससे उदित होते सूर्य की आभा के समान दर्पण तैयार होता है।[८]

पिञ्जुला दर्पण - सूर्य की हानि कारक शक्ति को पञ्जुला कहते हैं। पिंजूष आदि चार प्रकार की विषशक्तियों से यान-चालक आदि के नेत्र की रक्षा हेतु इस दर्पण का प्रयोग किया जाता है।[९]

निर्माण-विधि - इसके लिये ६ भाग वार्ष्णीक (बकरी का दूध), ५ भाग लाल सीसा, ८ भाग क्षार, ७ भाग बालू, ५ भाग वृक्ष की गोंद, ८ भाग टंकण, २ भाग दम्भोलि सत्त्व, ८ भाग पारा, ५ भाग शुद्ध अभ्रक, २ भाग रवित्रपु (ताम्र एवं सीसा), ४ भाग सुरोलिका सत्त्व, ८ भाग त्वक्, ३ भाग वार्ध्यषिक, ३ भाग कन्द, ४ भाग पिष्ट, ३ भाग हरताल, ७ भाग माक्षिक तथा ४ भाग वृकोदरी का बीज - इन पदार्थों को शुद्ध सुकपाल संज्ञक मूषा पात्र में भर कर व्यासटिक कुण्ड के मध्य में अच्छी प्रकार से रखकर ७०० डिग्री ताप पर गलाना चाहिये। इस द्रव को धीरे-धीरे दर्पण के आधार पर फैला देना चाहिये। इससे पिंजुला दर्पण तैयार होता है।[१०]

गुहागर्भ दर्पण - वारुणी वात तथा सूर्य-रश्मियों के संयोग से गुहा आदि विष-शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस दर्पण के माध्यम से उन रोगकारक विषशक्तियों को शत्रु के यात पर प्रक्षेपित किया जा सकता है।

निर्माण विधि - इसमें ७ भाग वराटिका, ७ भाग मञ्जु (मंजिष्ठा की जड़), ६ भाग, डिम्भीर (समुद्री नमक), ८ भाग रजक (फास्फोरस) ६ भाग मण्डूर, ८ भाग परा, ३ भाग हरताल, ७ भाग ब्राह्मिक, २ भाग नाग (सीसा), ८ भाग अञ्जनिका, ६ भाग मातृण्ण, ८ भाग बालू, ६ भाग किशोर, ५ भाग मुचुकुन्द, २ भाग तेल, २५ भाग लोहिक, मृडानिगर्भ से उत्पन्न सत्त्व, ५ भाग मृदा, ५ भाग स्फाटिक, ३ भाग हड्डी, १५ भाग इन्दूत्सव (मून स्टोन), ५ भाग दम्बोलिका द्रव्य का सत्त्व - इन २५ पदार्थों को शुद्ध कर चञ्चुपुट मूषा पात्र में भर कर

व्यासटिका कुण्ड के मध्य में रखकर ७०० डिग्री पर पकाना चाहिये। इस द्रव को दर्पण के आधार पर फैला देना चाहिये। इससे गुहागर्भ दर्पण तैयार होता है।[११]

रौद्री दर्पण - अन्तरिक्ष में रौद्री शक्ति एवं सूर्य-रश्मियों के संयोग से सभी पदार्थों को गलाने वाली रौद्री शक्ति उत्पन्न होती है। इस दर्पण के माध्यम से रौद्री शक्ति का प्रयोग शत्रु-पान के विनाश के लिये किया जाता है।[१२]

निर्माण विधि - इसके लिये, ८ भाग नाग या सीसा, ३ भाग शाल्मली, ६ भाग दुर्वार, ८ भाग कुंडुपिंजर, २१ भाग द्रोणी, ८ भाग रवि चुम्बक (सन-क्रिस्टल), २७ भाग रुद्राणी ग्रावोषर, ६ भाग वीराभ्रलिंग, ८ भाग क्षार, ७ भाग बालू, ६ भाग क्ष्विंक (जिंक), १३ भाग मंचुक मृत्तिका (चींटी की बाँबी की मिट्टी), तीन भाग तेल, २७ भाग माक्षिक, ६ भाग गोधाम्ल, ८ भाग वर पिंजुला (सिल्क काटन), ८ भाग विंरचि सत्त्व, ५ भाग कन्द, ३ भाग हरताल तथा ७ भाग कार्मुक इन सभी पदार्थों को शुद्ध कर, कृष्माण्ड, मूषिका-पात्र में भर कर कूष्मण्ड कुण्ड के मध्य में स्थापित करना चाहिये। इसे ८०० डिग्री ताप पर गलाना चाहिये तथा इससे तैयार द्रव को दर्पण के आधार पर धीरे-धीरे फैलाना चाहिये। इस प्रकार रौद्री दर्पण हो जाता है।[१३]

इस प्रकार महर्षि भरद्वाज ने अपने ग्रन्थ में विविध प्रकार के दर्पणों का वर्णन किया है। वर्णित दर्पणों के विषय में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि -

१. महर्षि भरद्वाज द्वारा वर्णित, यान में प्रयुक्त होने वाले दर्पण विशिष्ट प्रकार के होते थे। सामान्य दर्पण की भाँति प्रकाश की किरणें इस पर भी पड़ती थीं किन्तु इन दर्पणों का वैशिष्ट्य यह था कि इनके माध्यम से किरणों का आकर्षण तथा प्रत्यावर्तन कर विविध कार्य सम्पादित किये जाते थे।

२. इनके नामकरण इनके कार्यों के अनुसार अथवा जिन सूर्यरश्मियों से इनका सम्बन्ध था, उनके अनुसार होता था।

३. कार्यप्रणाली की दृष्टि से इन दर्पणों के २ वर्ग किये जा सकते हैं -

क - कुछ दर्पणों का प्रयोग सूर्य की हानिकारक शक्तियों से देह की सुरक्षा हेतु किया जाता था। यथा - विश्वक्रियादर्पण, शक्त्याकर्षण दर्पण, कुण्टिणी दर्पण एवं पिंजुला दर्पण।

ख - वैरुप्य, गुहागर्भ एवं रौद्री दर्पणों का प्रयोग शत्रुओं के अपवारण, निरोध एवं उन पर आक्रमण के लिये होता था। इनका सामरिक महत्त्व अधिक था।

संक्षेप में, दर्पण-विज्ञान प्राचीन भारतीय तकनीकी विद्या उन्नत निदर्शन है।

सन्दर्भ :

१. उक्तं हि मुकुरकल्पे। विश्वक्रियादर्पणोऽथ शक्त्याकर्षणदर्पण:।

वैरूप्यदर्पणस्तइत्कुण्टिणीदर्पणस्तथा। पिञ्जुलादर्पणश्चैव गुहागभीख्यदर्पण:। रौद्रीदर्पण इत्येते सप्तोक्ता यानदर्पणा:।। - वैमानिक प्रकरण, द्वितीय अध्याय।

२. तद्यानपीठोर्ध्वमुखस्थाने आवर्तनक्रमात्। प्रपञ्चे प्राणिभिस्सर्वैर्यद्यत्कर्मकृतं भवेत्। तत्साक्षाद्वीक्षणार्थं यो यन्तृणां स्थापितो भवेत्।। तत्रैव, द्वि०अ०

३. तदुक्तं क्रियासारे - सत्त्वद्वयं शुण्डिलकद्वयं च गृध्रास्थि चैकं वरपारपञ्चकम्। सिञ्चोरणीपादनखद्वयं तथा शुद्धाभ्रषट्कं वरशोणपञ्चकम्। मुक्ताष्टकं सौम्यकमीन नेत्रमष्टादशाङ्गरकसत्त्वमेकम्। सर्पत्वगष्टाञ्जनिकत्रयं तथा मातृण्णषट्कं वरशर्करा दश। क्षाराष्टकं नागचतुष्टयं च फेनद्वयं गारुउवल्कलत्रयम्। वैणव्यकं सप्त तथा सुशोधितं वैराज्यश्वेतौदुम्बरपञ्चकं च। एतानि संशोधितं वैराज्यश्वेतौदुम्बर पञ्चकं च।। एतानिक संशोध्य यथाविधि क्रमात्संतोल्प चञ्चुपुरमूषिकायाम् संपूर्य चण्डोदरकुण्डमध्ये विन्पस्य कक्ष्याशतउष्णवेगतः।। संगाल्य सम्यक्करदर्पणास्य यन्त्रोर्ध्वनालास्यमुखे प्रपूरयेत् एवं कृते विश्वक्रियाख्यदर्पणो भवेत् सुशुद्धो दृढ़सूक्ष्मरूपः। - तत्रैव, द्वि०अ०

४. तदुक्तं दर्पणप्रकरणे - पञ्चालिकं पञ्चविरञ्चसत्त्वं क्षाराष्टकं पिष्टचतुष्टयं च। जम्भारिषट्कं रजताभ्रमेकं रङ्गालसत्त्वाष्टकबालुकष्टयम्। कूर्माण्डसत्त्वद्वयं भारणित्रयं कन्दत्रयं पौष्कलपञ्चकं च। प्रवालमुक्ताकरपञ्चकद्वयं षट्शुक्तिकात्वग्वरङ्कणाष्टकम्। मालूरबीजत्रयशङ्खपञ्चकं संयोज्य सर्वं बकमूषमध्ये। मण्डूककुण्डान्तरमध्यकेन्द्रे संस्थाप्य मूषां विधिवद् दृढं यथा। पश्चात् धमेत् पञ्चशतोष्णकक्ष्यप्रमाणतश्शास्त्रविधनतस्सुधीः नेत्रानृसंगालिततद्रसं ततस्संगृह्य पश्चाद् विधिवच्छनैश्शनैः संपूरयेद् विस्तृतदर्पणास्य यन्त्रोर्ध्वनातास्यमुखे सुवृत्ते। एवंकृते शक्त्यपकर्षदर्पणो भवेत् सुसूक्ष्मस्सुदृढ़ो मनोहरः।। - तत्रैव, द्वि०अ०

५. तदुक्तं सम्मोहनक्रियाकाण्डे - अग्निवाताम्ब्वशनिविद्युद्धमसागरपर्वताः। सर्पवृश्चिकभल्लूक सिंहग्रादपस्त्रपा।। भूतप्रेतपिशाचाश्च पक्षिणोऽतिभपंकराः। - तत्रैव।

६. तदुक्तं दर्पणप्रकरणे - शल्यक्षारं पञ्च क्ष्विङ्कात्रयं च लाक्षात्रयं सोमकमष्टभागम्। शशत्रयं राजकुरण्टिकाद्वयं इङ्गलसाराष्टकटङ्कगत्रयम्। नखाष्टकं बालुकासपृकं च मातृण्णष्ट्कं रविचुम्बकद्वयम्। पूत्रयं पारदपाञ्चविंशत्क्रमेण। संगृक्षैतान् सप्तसंस्कारशुद्धान् सम्पूरयेन्मूषकमूषिकायाम्। मूषास्यकुण्डेदृष्टशतोष्णकक्ष्यात् संगातयेन्नेत्रनिमीतनान्तम्। पश्चाद् गृहीत्वा वरदर्पणास्य यन्त्रोर्ध्वनालास्यमुखे नियोजयेत्। एवंकृते वैराजकदर्पणो दृढश्शुद्धस्सुक्ष्मो भवति प्रसिद्धः। - तत्रैव।

७. उक्तं हि सम्मोहन क्रियाकाण्डे - मेदोऽसृङ्मांसमजजस्थित्वग्बुद्धीनां विकल्पदाः। गालिनी कुण्टिणी कालीस्पिंजुला चोल्बणामरा।। - तत्रैव।

८. तदुक्तं दर्पणप्रकरणे - मृत्पञ्चकं कञ्चुकसपृकं च फेनत्रयं षण्मुखसारपञ्चकम्। शिङ्काष्टकं खड्गचतुष्टयं च मातृण्णषट्कं वरतालकत्रयम्। गजोष्ट्रयोः क्षार-चतुष्टयं च सुरंध्रिका सप्तकपञ्चतैलम्। मुक्तात्वगष्टत्रितयं च शुक्तिक्षाएं तथा चेनुचतुष्टयं च। एतान् सुशुद्धान् क्रमतो गृहीत्वा संपूरयेच्छिञ्झिकमूषमध्ये। संस्थाप्य शिञ्जीरककुण्डमध्ये संगालयेत् सप्तशतोष्णकक्ष्यैः। पूर्वोक्तमार्गेण नियोजयेत् तद्रसं यथाशास्त्रविधानतस्ततः। अत्यन्तसूक्ष्म सुदृंढ भ्वेहचं बालार्कवत् कुण्टिणिकारव्यदर्पणम्। - तत्रैव।

९. अर्काशुयुद्धसञ्जातशक्तिस्स्यात् पिजुलेति हि। सा नेत्रकृष्णताराग्र प्रीभाग्राहीति वर्णिता। यतो निगृत्य तच्छक्तिं वेगेन स्वीयशक्तितः। यन्तृणं कृष्णताराग्रप्रकाशं पालयत्यतः। पिञ्जुलादर्पण इति नाम शास्त्रे निरूपितः। - तत्रैव

१०. तदुक्तं दर्पणप्रकरणे - बाण्णींकषट्कं वरशोणपञ्चकं क्षारष्टकं वालुकसपृकं च। निपीसमृत्पञ्चकटङ्कणाष्टकं दम्भोलिसारद्वयमष्टपारदम्। शुद्धाभ्रकं पञ्चरवित्रपुद्वयं सुरोलिकासत्त्वचतुष्टयं च। त्वगष्टकं वार्ध्युषिकत्रयं तथा कन्दत्रयं पिष्टचतुष्टयं च। तातत्रयं माक्षिकसपृकं च वृकोदरीवीजचतुष्टयं क्रमात्। अष्टादशैतान् वरशुद्धवस्तन् संगृह्य सम्यक् परिशोधयेत् क्रमात्। सम्पूर्ण पश्चात् सुकपालमूषामुखे न्यसेद् व्यासटिकान्तरे ह्रदम्। संगालयेत् सप्तशतोष्ण कक्ष्यप्रमाणतो नेत्रनिमीतनानृम्। संगृह्य सङ्गलितितडसं शनैः यन्त्रोर्ध्वनातास्यमुखात् प्रपूरयेत्। पश्चादृढं सूक्ष्ममतीवशुद्धं मनोहर पिन्जुलदर्पणं भवेत्। - तत्रैव।

११. तदुक्तं दर्पण प्रकरणे - वराटिकासप्रकमञ्जुनत्रयं डिम्भीरष्ट्कं रजकाष्टकं तथा। मण्डूषट्कं परपारदाचाञ्जनिकाष्टकं तथा मातृण्णषट्कं वरवातुकाष्टकम्। किशोरषट्कं मुचुकुन्पञ्चकं तैतद्वयं लोकिपञ्चविंशतिः। मृडानिगर्मोद्भवसत्त्वपञ्चकं मृदष्टकं स्फाटिकपञ्चक तथा। शल्यत्रयं पञ्चदशेनुसत्त्वकं दम्बोलिराका द्वयसत्त्वपञ्चकम्। एतान् क्रमाद् द्वाविंशतिवस्तुवर्गान् शुद्धान् समादाय तथाविधिक्रमात सम्पूर्ण चञ्चूपुरमूषमध्ये चञ्चूपुरव्यासटिकन्तरे न्यसेत्। संगातयेत् सप्रशतोष्णकक्ष्यैश्शास्त्रोक्तमागेण निमीत नान्तम्। पश्चात् समाहृत्य शनैशसनैः क्रमाद् मन्त्रोर्धत्रातास्पमुखे नियोजयेत्। ततो गुहागर्भकदर्पणं भवेच्छुद्धं सुसूक्ष्मं सुदृढं मनोहरम्।। - तत्रैव

१२. दर्शतादेव सर्वेषां द्रावणं येन जायते। तद्रौद्रीदर्पण इति प्रवदन्ति मनीषिणः। तत्रैव।

१३. तदुक्त दर्पणप्रकरणे - नागाष्टकं शाल्यतिकत्रयं तथा दुर्वरष्टकं रुद्राणिग्रावोषरसपृविंशतिः। शल्याकषट्कं वरकौटिलाष्टकं वीराभ्रलिङ्गत्रिंशतिकस्तथैव। क्षाराष्टकं सैकतसपृकं तथा मातृषट्कं वरडिम्भिकात्रयम्। क्ष्विङ्काष्टकं मञ्युकमृत्रयोदश निजीसषट्कं वरकुम्भिनीत्रयम्। तैतत्रणं माक्षिकसपृविंशतिर्गोधाम्लषट्कं वरपिञ्जुलाष्टकम्। वैरञ्जिसत्त्वाष्टककन्दपञ्चकं तातत्रयं कार्मुकसप्तकं तथा। षड्विंशदेतान् विधिवत् सुशोधितान् संपूरयेत् कूष्माण्डकमूषिकायाम्। कूष्माण्डकुण्डे सुदृढं विधाय संगातयेदष्टशतोष्णकक्ष्यैः। उन्मीचिताक्षान्सुगालितं वसं यन्त्रोर्ध्वनालास्यमुखे निषिञ्चेत्। एवंकृते रौद्रिकदर्पणो भवेत् सूक्ष्मस्सुशुद्धस्सुदृढ़ो मनोहरः।

❋

आचार्य शङ्कर तथा समन्वय एवं सद्भाव-स्थापन में उनका योगदान

सीताराम दुबे*

मानव एक चिन्तनशील सामाजिक प्राणी है। अत: मानव समाज में सफल वे ही होते हैं जो न केवल समय और समाज की माँग को पहाचनते हैं, वरन् युगानुरूप आचरण करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ने केवल समय की माँग से प्रभावित होते हैं; प्रत्युत अपने व्यक्तित्व एवं लोकमाङ्गलिक कृतित्व से हर क्षेत्र में मर्यादाओं की स्थापना करते हैं, युगान्तकारी परिवर्तन लाते हैं। ऐसे लोग सदियों सहस्राब्दियों में एक तथा युग की चाह होते हैं और अवतारी पुरुष कहे जाते हैं। शङ्कराचार्य ऐसे ही अवतारी पुरुषों में से एक थे। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी वे अलौकिक ज्ञानी, सिद्धयोगी, शास्त्रार्थी, पण्डित, पर्यटक, प्रचारक, तान्त्रिक, स्नेही गुरु, श्रद्धावान पुत्र और लोकमङ्गल में संलग्न महापुरुष के रूप में उभर कर सामने आते हैं। उनके व्यक्तित्व में अस्पृश्यता-विरोधी दृष्टिकोण तथा विचार- स्वातन्त्र्य जनित कर्मठता का सम्यक् समन्वय मिलता है। इस प्रकार विविध अद्भुत तथा कतिपय विरोधी गुणों का उनमें समावेश ही उन्हें किंवदन्ति-परक अलौकिक पुरुष बना देता है। यही कारण है कि उनकी विदित जीवनी और उनके कार्यों के मूल्याङ्कन के आधार परम्परागत चरित और अनुश्रुतियाँ ही रही हैं। यहाँ उन्हीं अनुश्रुतियों परम्परागत जीवनियों, स्वयं शङ्कराचार्य की प्रसिद्ध कृतियों, उनके शिष्यों, समसामयिकों, आसन्नवर्तियों की रचनाओं तथा अन्य प्रकीर्ण साहित्य एवं अनेक आलोक में हुए अधुनातन इतिहासपरक अध्ययनों के आधार पर 'आचार्य शङ्कर तथा समन्वय एवं सद्भाव-स्थापन में उनका योगदान' की ऐतिहासिक विवेचना का प्रयत्न होगा।

शङ्कर की प्रामाणिक रचनाओं में दस उपनिषद् भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता भाष्य, अध्ययन पटल भाष्य, योगसूत्र भाष्य विवरण, उपदेशसाहस्त्री, प्रपञ्चसार और लघु प्रकरण को स्थान दिया जा सकात है। इनमें भी प्रपञ्चसार को सङ्ग्रमात्र कहा जाता है और 'सूत्रभाष्य' की प्रामाणिकता पर संशय व्यक्त किया जाता है।[१]

शङ्कर की स्वयं की इन रचनाओं के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के निर्धारण के लिए 'शङ्कर विजय' का सामान्यतया प्रयोग किया जाता है, जिसका इस शोध पत्र के स्वरूप-निर्धारण में भी बहुधा उपयोग हुआ है, परन्तु स्वयं की इसकी अपनी अने सीमाएँ हैं, प्रथम सीमा तो यही कि इसमें सङ्ग्रहीत सम्बन्धित परम्पराओं को चौदहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं कहा जा सकता।[२] यद्यपि स्वयं शङ्कर के शिष्य पद्मपादाचार्य कृत 'शङ्कर दिग्विजय' का यत्र-तत्र उद्धरण मिलता है। अपने मूल रूप में यह रचना निश्चय ही अत्यन्त प्रामाणिक होती, किन्तु दुर्भाग्यवश अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। अत: उनकी जीवनी को लेकर अभिरचित उक्त चौदहवीं शती के बाद

* *प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय*

के चरित ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जिनमें सङ्कलित सूचनायें शङ्कर की मध्यकालीन आख्यायिका के रूप में अधिक और इतिहास के रूप में कम लक्षित होती है। 'शङ्कर विजय' अथवा 'शङ्कर दिग्विजय' नाम के ये अनेक ग्रन्थ विविध रचनाकारों द्वारा विरचित है। यथा - आनन्दज्ञानकृत 'वृहत् शङ्कर विजय' आनन्दगिरि अभिरचित 'शङ्कर विजय' (१८८१, कलकत्ता) माधव रचित 'शङ्कर दिग्विजय' आदि। इनमें आनन्दज्ञान कृत सर्वाधिक प्राचीन एवं माधव कृत अत्यधिक लोकप्रिय रचना के रूप में मान्यता प्राप्त है। भिन्न-भिन्न समयों में और एकाधिक रचनाकारों के द्वारा रचित इन चरित ग्रन्थों में व्यापक समानताओं के होते हुए भी परस्पर विरूद्ध, सूचनाओं का उल्लेख है; चमत्कारी घटनाओं एवं अतिरञ्जनाओं का समावेश है। निश्चय ही इस प्रकार के विवरण को आधुनिक इतिहास-लेखन एवं दर्शन के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।[३] इन तथा इसी प्रकार की कतिपय अन्य रचनाओं के आधार पर २०वीं शताब्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाश मे आए हैं, जिनमें 'शङ्कर ग्रन्थावली' (पुनर्मुद्रित संस्करण, १९८३) स्वामी परमानन्द का 'शङ्कराचार्य, जीवन चरित्र (बम्बई, १९१३), बलदेव उपाध्याय का 'शङ्कराचार्य' (१९५०) तथा 'शङ्कर दिग्विजय' (माधव कृत सम्पादित एवं अनूदित, सं० २०००, हरिद्वार), एस०बी० राधाकृष्ण शास्त्री का 'श्री शङ्कर विजयमकरन्द' (१९८४, दिल्ली) का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। शङ्कराचार्य एवं रामानुजाचार्य को लेकर श्री राजेन्द्रनाथ घोष ने बङ्गाली भाषा में 'आचार्य शङ्कर और रामानुज' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। १९८८ में दशरथ ओझा ने 'एकता के अग्रदूत' नामक अध्ययन (दिल्ली) प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ है तो 'उपन्यास' किन्तु अत्यन्त परिश्रमपूर्वक मूल और माध्यमिक स्रोतों से सामग्री सङ्कलित कर इसमें उनकी ऐतिहासिक व्याख्या की चेष्टा की गई है। अध्ययनोपरान्त ऐसा लगता है कि उपन्यासकार अपने लक्ष्य में प्राय: सफल रहा है। विष्णुदत्त राकेश का १९८९ में प्रकाशित ग्रन्थ 'भारतीय अस्मिता और राष्ट्रीय चेतना के आधार - श्री जगद्गुरू आद्यशङ्कराचार्य' भी शङ्कराचार्य महोदय के व्यक्तित्व निर्धारण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

शङ्कराचार्य एवं उनके योगदान के विभिन्न पहलुओं को लेकर अङ्ग्रेजी में भी अनेक अध्ययन प्रस्तुत किए गए। १९११ में के०टी०एस० तेलङ्ग का 'शङ्कराचार्य फिलॉसॉफर एण्ड मिस्टिक' (आड्यार) नामक ग्रन्थ प्रकाश में आया। नीलकण्ठ शास्त्री ने १९३७ में 'ए नोट ऑन द डेट ऑव शङ्कर' विषयक महत्त्वपूर्ण शोध-लेख प्रकाशित कराया (जर्नल ऑव ओरियण्टल रिसर्च, जिल्द ११, १९३७)। टी०एस० नारायण का 'द एज ऑव शङ्कर (१९७१) तथा सी०एन कृष्णस्वामी ऐय्यर का 'शङ्कराचार्य : हिज लाइफ एण्ड टाइम्स' (मद्रास) भी व्यापक महत्त्व का कहा जा सकता है। इधर १९८० एवं १९९० के दशक में गोविन्द चन्द्र पाण्डे के शङ्कराचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को लेकर दो व्याख्यान शृङ्खलाओं से सम्बद्ध दो गम्भीर अध्ययन प्रकाशित हुए। एक जी०एस०पी० मिश्र का मेमोरियल लेक्चर के रूप में १९८९ में 'द रोल ऑव शङ्कराचार्य इन द कल्चरल एण्ड फिलॉसॉफिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (जयपुर), द्वितीय १९९२ में हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला का ११वीं कड़ी के रूप में प्रदत्त तीन लेखों के सङ्कलन के रूप में 'शङ्कराचार्य : विचार और सिद्धांत (इलाहाबाद)'।[४]

इन विविध अध्ययनों के प्रकाश में आने पर भी शङ्कराचार्य की जन्मतिथि, व्यक्तित्व एवं कृतित्व सम्बन्धि विवरण की वस्तुपरकता संशयास्पद बनी हुई है। शङ्कराचार्य की जन्मकाल विषयक ४ तिथियाँ प्रकाश में आती हैं। काँची की परम्परा में विश्वास रखने वाले विद्वानों ने ई०पू० ५०८-०९ में शङ्कराचार्य का जन्म और ई०पू० ४७६ में मृत्यु माना है।[५] कम्बुज के अभिलेखीय साक्ष्य

में उल्लिखित तथ्य, कि इन्द्र वर्मा के गुरु शिव सोम ने शङ्कराचार्य से शास्त्रों का अध्ययन किया था, के आधार पर कुछ विद्वान् शङ्कराचार्य को नवीं शताब्दी के अनन्तर रखने के पक्षधर हैं।[६] परन्तु ये दोनों मत इतिहास सम्मत नहीं जान पड़ते। गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने शङ्कराचार्य को सातवी शताब्दी के अन्तिम चरण तथा आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण में होने की सम्भावना व्यक्त की है।[७] साथ ही उनका यह भी कहना है कि यदि शिवसोम से शङ्कराचार्य का साक्षात् सम्पर्क स्वीकार किया जाए तो यह तिथि ७८८ ई० भी हो सकती है।[८] जबकि काँची की परम्परा में विश्वास रखने वाले विद्वान् इसे आदि शङ्कराचार्य तथा काँची कामकोटि पीठ के ३८वें आचार्य अभिनव शङ्कर को एक मान लेने से उत्पन्न विभ्रम का परिणाम मानते हैं।[९] यद्यपि इन सभी मतों के आलोक में शङ्कराचार्य को सातवीं आठवीं शती में रखना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।[१०]

पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक दोनों साक्ष्यों के प्रकाश में पूर्वमध्यकालीन इतिहास का यह समय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से सङ्कट और सङ्क्रमणकाल के रूप में उभरकर सामने आता है। धर्मपाल की खालिमपुर-प्रशस्ति से तो यह काल 'मात्स्य-न्याय' का युग दिखाई देता है, जिसे पाल शासक गोपाल कुछ सीमा तक नियन्त्रित करने में सफल रहा। इसी प्रकार की परिस्थिति मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति तथा अन्यक्षेत्रीय राजवंशों के अभिलेखों में भी लक्षित होती है।

राजनीतिक परिदृश्य पर विचार किया जाये तो यह युग अस्थिरता और अराजकता का काल दिखाई देता है। राजनीतिक दृष्टि से विखण्डित इस काल में शासकगण प्रजा-कल्याण के स्थान पर स्वकल्याण में लगे हुये थे। पश्चिमोत्तर क्षेत्र सिन्ध और कश्मीर पर अरबों के आक्रमण का सङ्कट था, सिन्ध और मुल्तान को तो उन्होंने अधिकृत भी कर लिया था। गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ भी उनकी दृष्टि में था। दक्षिण में तो मालबार का शासक चेरामन पेरुमल्ल ने मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया था और उसके प्रचार-प्रसार के लिये प्रयत्नशील था। पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल, चालुक्य जैसे राजवंशों के शासक भी भारतीय सीमा की रक्षा के लिये एकजुट होने के स्थान पर ने केवल परस्पर सङ्घर्षरत थे, बल्कि यथा-कदा इन अरब आक्रान्ताओं का, एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये, सहयोग लेते-देते भी दिखाई देते हैं। ऐसे स्वार्थान्ध शासकों के समय में प्रशासनिक वातावरण अव्यवस्थित था। अतः इस परिवेश में सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों मे 'मात्स्य-न्याय' की स्थिति स्वाभाविक ही कही जा सकती है। भारतीय समाज उन राजाओं, जिनसे वर्णाश्र धर्म की रक्षा और प्रजा- कल्याण की अपेक्षा थी, के स्वयं के मिथ्याभिमानों के प्रदर्शन और स्वहितसाधन में लगे होने के कारण विशृङ्खलित हो रहा था। विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा भारतीय एकजुटता को तोड़ने के लिये भेजे गये घुसपैठियों ने सामाजिक वातावरण को और अधिक अस्थिर बना दिया था। दक्षिण का मालाबार तट इसका ज्वलन्त प्रमाण कहा जा सकता है। समाजिक क्षेत्र में वैदिक संस्कृति की मूलाधार 'वर्णाश्रम व्यवस्था' पतनशील थी। सामान्ती-वृत्ति के प्रभाव में अनेक विकृतियाँ अपनी जड़ें जमा रही थीं। अनेक व्याववायिक जातियों - उपजातियों को प्रोत्साहन मिल रहा था। ऊँच-नीच, छूआ-छूत की भावना प्रभावशील थी। शासकों की निर्बलता और स्वार्थपरता से समाज आतङ्कित था, विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत में विदेशी आक्रमण की त्रासदी झेल रहा था। तान्त्रिक धर्म के प्रभाव में समाज में भी पञ्चमकारों के प्रति सम्मान बढ़ा, जिससे शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिला। अनेक पारम्परिक मर्यादाएँ भङ्ग हो रही थीं। विदेशी घुसपैठियों ने इसे और गति बना दिया था।[११]

धार्मिक दृष्टि से तो यह विभ्रम का काल था। ब्राह्मण - वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य तथा ब्राह्मणेतर बौद्ध, जैन आदि कई सम्प्रदायोपसम्प्रदायो में विभक्त हो गये थे। इनमें परस्पर विद्वेषपूर्ण बर्ताव था। कुमारिल भट्ट के 'तुषानल-दाह' के समय ७२ सम्प्रदायों की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है।[१२] पौराणिक-आगमिक प्रभाव के इस युग में यद्यपि यत्र-तत्र वैदिक यज्ञ-कर्मकाण्ड आदि भी सम्पादित किये जाते थे, किन्तु उनमें अन्धविश्वास एवं परम्परानुसरण की प्रवृत्ति का ही आधिक्य था। इस युग के तान्त्रिक प्रभाव ने बौद्ध, शैव, शाक्त सम्प्रदायों के अनेक उपसम्प्रदायों का रूप ही विकृत कर दिया था। इस समय क्रकच के नेतृत्व में दक्षिण में कापालिक सम्प्रदाय तथा पूर्वोत्तर भारत में नवगुप्त आदि के नेतृत्व में तान्त्रिक शाक्त सम्प्रदाय के गढ़ विद्यमान थे। इनमें तथा कतिपय अन्य क्षेत्रों में बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय के सदस्यों द्वारा शरीर में मांस, मज्जा, रक्त के लेप तथा रक्त, मदिरा के पान विषयक जो चित्र उभरते हैं वे सामानय-दृष्ट्या धर्म के प्रति जुगुप्सा-भाव पैदा करते हैं। इनके इस प्रकार के क्रूर कर्म से समाज में आतङ्क व्याप्त था। दक्षिण-भारत में तो कापालिकों का सङ्गठित समूह राजसैनिकों तक से होड़ लेने में सक्षम था।[१३] कहीं-कहीं तो ये धर्मसम्प्रदाय विदेशी आक्रान्ताओं से मिले होते थे। मालाबार के कापालिकों एवं सिन्धक्षेत्र के तान्त्रिक बौद्धों का इस प्रसङ्ग में उल्लेख किया जा सकता है। इन सबके चलते 'संगच्छध्वं' 'सहनाववतु सहनो भुनक्तु' सर्वेभवन्तु सुखिन: सर्वेसन्तु: जैसे वैदिक आदर्श धूमिल पड़ते जा रहे थे।

इस प्रकार की राजनीतिक-सामाजिक अस्थिरता और कलहपूर्ण धार्मिक वातावरण में अर्थिक स्थिति जर्जरित हो चुकी थी। बाढ़-सूखे के प्रकाप और राज्यपोषित सिंचाई आदि के साधनों के अभाव के कारण आर्थिक स्थिति और अधिक सङ्कटापन्न हो गई थी। ऐसे में थोड़ा-सा भी विदेशी आर्थिक प्रलोभन जनता को विचलित कर देता था। जन-सामान्य येन-केन प्रकारेण अपनी जीविका कमाने में लगा था। सामन्ती व्यवस्था के प्रभाव में परवशता और आर्थिक विपन्नता भयावह बन गई थी।

निश्चय ही ऐसे युग में एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो राजाओं को राजनैतिक एकीकरण के लिए प्रोत्साहित कर सके और सामाजिक समरसता स्थापित कर सके। धार्मिक सम्प्रदायों में मर्यादा, समता और सहअस्तित्व की भावना उत्पन्न कर सके। उन्हें ऐहिक - आमुष्मिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति में समर्थ बना सके। संयोग से शङ्कराचार्य के रूप में ऐसा व्यक्ति मिला भी ('दुष्टाचार विनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले। स एव शङ्कराचार्य: साक्षात् कैवल्य नायक:')। दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्र तट के सह्याद्रि पर्वत की गोद में, पूर्णा नदी के तट पर अवस्थित कालड़ी गाँव के वैदिक कर्मकाण्डी परिवार में श्री शिवगुरु एवं आर्यम्बा के पुत्र के रूप में एक विलक्षण बालक उत्पन्न होता है। शङ्कर नामाभिधान प्राप्त वह बालक वृषाचल के गुरूकुल में शिक्षा प्राप्त करता है। वही बालक अनतिचिर विविध-विद्याओं में पारङ्गत हो सम्मानार्ह बन जाता है।[१४] घर लौटने पर उनके यहाँ जिज्ञासुओं और शास्त्रार्थ चर्चा करने वालों की भीड़ लगी रहती है। कुछ समय के अनन्तर माता से अनुमति ले वे गृहत्याग कर देते हैं और नर्मदा तटवर्ती ओंकारेश्वर की गुफा में तपस्या कर रहे श्री गोविन्दपाद से सन्यास-दीक्षा लेते हैं। वहाँ वैदिक साहित्य, योग-प्रक्रिया आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन सबसे वे हठयोगसिद्धि, राजयोगसिद्धि, दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, सूक्ष्म-देह-ग्रहण, आकाश-गमन, देहान्तर-सञ्चरण, इच्छा-मृत्यु आदि अलौकिक शक्तियों के अधिकारी हो जाते हैं।[१५]

यद्यपि शङ्कराचार्य की इच्छा तो ध्यानावस्थित हो पूर्ण ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति थी, किन्तु गुरु गोविन्दपाद ने देश की दशा को देखते हुए उन्हें लोक-कल्याण के अनन्तर समाधिस्थ होने का निर्देश दिया और काशी, बद्रीनारायण आदि स्थलों के भ्रमण का परामर्श। श्री गोविन्दपाद जी का कहना था 'शङ्कर तुम में दिव्य शक्ति आ गई है। तुम अपरोक्षानुभूति का मार्ग दूसरों को बताने में समर्थ हो। तुम्हें ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो गई है। तुम शङ्कर के अंश हो। तुम्हें इस धरा पर वैदिक धर्म के संस्थापन के लिये भेजा गया है। तुम स्थल-स्थल पर जाकर अद्वैत् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करो। इसी से मानव-जगत का कल्याण हो सकेगा।'[१६]

शङ्कर ने न केवल अपेन गुरु के आदेश का ससम्मान पालन किया, वरन् अपने प्रभविष्णु सर्वातिशायी व्यक्तित्व एवं सतत् उद्योग से जहाँ मात्र दर्शन से हो सका दर्शन से, जहाँ उपदेश से हो सका उपदेश अन्यथा चमत्कार-प्रदर्शन से, कश्मीर से कन्याकुमारी, गुजरात-काठियावाड़ से लेकर उड़ीसा-बङ्गाल, यहाँ तक कि नेपल तिब्बत और सिन्ध क्षेत्र तक के लोगों को वशवर्ती बनाया।[१७] यह उनके सर्वातिशायी कृतित्व का ही सुफल था कि आते तो लोग उन्हें शास्त्रार्थ कर पराजित करने अथवा मारने, किन्तु प्रभावित हो श्रद्धावनत् हो उनके शिष्य बन जाते। वस्तुत: जिधर से वे गुजरते सर्वत्र वातावरण अद्वैतमय हो जाता। इस प्रकार उन्होंने अपने बारे में गुरु द्वारा की गई भविष्यवाणी को कि 'यह विशृङ्खलित देश का उद्धार करेगा' सिद्धकर दिखाया। यहाँ उनके सद्भाव-स्थापन का संक्षिप्त विवरण प्रासङ्गिक होगा।

गुरु की आज्ञा के अनुरूप शङ्कराचार्य सर्वप्रथम काशी पहुँचे। यहाँ उनके प्रातिभज्ञान, वाक्शक्ति, तपस्या, अकाट्य युक्ति से प्रभावित हो अनेक लोग अनुयायी बन गये। उनकी ऋतम्भरा प्रज्ञा को परख यहाँ की विद्वत् परिषद ने उन्हें 'आचार्य' उपाधि से विभूषित किया। अत: काशी ही वह स्थल है जहाँ वे शङ्कर से शङ्कराचार्य बन गये। यहीं उन्हें भूतभावन भवानी-पति बाबा विश्वनाथ द्वारा चाण्डाल के रूप में छूआ-छूत की भावना से मुक्त हो समदर्शी होने की शिक्षा मिली।[१८]

क्रमश: शङ्कराचार्य का ध्यान सामाजिक-धार्मिक शिथिलाचार, राजनीतिक विखण्डन और उससे उत्पन्न परिस्थितियों की ओर गया और उनको सुधारने के लिए उन्होंने उन कारकों, जो इस प्रकार की परिस्थिति के लिए उत्तरदायी थे, को ही समाप्त करने का निर्णय लिया। बिना शास्त्र का मर्म जाने-समझे सम्पन्न किये जा रहे यज्ञ तथा कर्मकाण्ड के कारण फैले भ्रम एवं अज्ञानान्धकार में निमग्र होते राष्ट्र को, राजनीतिक-सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक पतन से बचाने के लिए उस अन्ध विश्वास, जिसे जनता शास्त्र का वास्तविक अर्थ समझने लगी थी, को दूर करने के लिए वेद-शास्त्र की युक्ति-सङ्गत व्याख्या और आध्यात्मिक मान्यता की प्रतिष्ठा पर उन्होंने बल दिया। 'कृण्वन्तु विश्वमार्यम्' के आदर्श एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना वाले उस मनीषी के, सामाजिक-धार्मिक एकता, समन्वय एवं सद्भाव की स्थापना के लिये, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं सर्वखल्वमिदम् ब्रह्म' आदि मूलमन्त्र अथवा साधन थे।[१९] शङ्कराचार्य की दृष्टि में कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम व्यवस्था मिथ्या अभिमान और अविद्या पर आधारित है। संन्यास अपने को ठीक पहचानना ही है। ज्ञानी के लिए किसी विधि-विधान का बन्धन नहीं होता। निश्चय ही उनके इस चिन्तन में एक विश्वजनीन और रूढ़ि-मुक्त मानव समाज की सम्भावना निहित है[२०] और इसी सम्भावना को रूपायित करने में वे अहर्निश लगे रहे।

धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाये तो शङ्कराचार्य श्रौत कर्मकाण्ड के समर्थक नहीं लक्षित होते। वे स्मार्त धर्म को वैकल्पिक, उपासनाओं को सदुपयोगी और साधारण धर्म को आवश्यक मानते रहे। भक्ति का वे कर्म और ज्ञान में अन्तर्भाव करते तथा योग को सम्यक् दर्शन का अन्तरङ्ग मानते परिलक्षित होते हैं।[२१] इस प्रकार शङ्कराचार्य का नैष्कर्म्य, अकर्मण्यता का प्रतिपादक न हो कर्तव्यपालन, योग-साधना, सभक्ति देवोपासना, लोक सङ्ग्रह के समर्थक के रूप में उभरकर सामने आता है।[२२]

अद्वैतवादी होते हुए भी शङ्कराचार्य ने किसी धर्म अथवा पन्थ का विरोध नहीं किया; वरन् मन्दिर-मूर्तियों तक की स्थापना की। स्वयं उन्होंने ब्राह्मण, वैष्णव, शैव, शाक्त, कापालिक तथा ब्राह्मणेतर जैन एंव बौद्ध मन्दिरों में जाकर उपासना की। उनकी दृष्टि में सभी धर्मों, सम्प्रदायों का मूलतत्त्व तो एक ही है, सभी उसी परब्रह्म की प्राप्ति अथवा दिव्यानन्द की अनुभूति का मार्ग बताते हैं, किन्तु उनकी उपासना-पद्धति में समय के साथ जो बाह्याडम्बर अथवा अन्धविश्वास पूर्ण विकृतियाँ आ गई हैं, उनका परिष्कार होना कल्याणकारी होगा। उन्होंने इस प्रकार की विसङ्गतियों के निदान का मार्ग भी बताया और उसको दूर करने में जीवन-पर्यन्त लगे रहे। यहाँ तक कि तान्त्रिक पूजा, जो उन दिनों धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र की अनेक विकृतियों का कारक रही और उसने राजनीतिक क्षितिज को दुष्प्रभावित किया, का भी उन्होंने विरोध नहीं किया; क्योंकि उनकी दृष्टि में तन्त्र-पूजा मानव स्वभाव का एक अङ्ग और धार्मिक क्रिया का स्वरूप है। उपासना की यह परम्परा दीर्घकाल से भारत में चली आ रही है। वस्तुत: तन्त्र और उसके शास्त्र में दोष नहीं, दोष तो तन्त्र का नाम लेकर मनमाना भोग की इच्छा रखने वाले उन तान्त्रिकों का है, जो तान्त्रिक साधना का अनुसन्धान करने वाले ऋषियों के कथन के अभिप्राय को बिना समझे, उनकी स्वमति, स्वरुचि, व्याख्या कर उसके अनुरूप आचरण करने लगे।

शङ्कराचार्य महोदय का निर्देश था 'अपने देश की समस्याओं का समाधान अपनी संस्कृति में खोजो तथा अपनी समस्याओं के निदान के लिये स्वयं पर निर्भर रहो। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' को मत भूलो।' इस 'अहं ब्रह्माऽस्मि' के सिद्धान्त को तत्कालीन उद्‌भट मीमांसक मण्डन मिश्र ने भी न केवल स्वीकार किया, वरन् शङ्कराचार्य के शिष्य बन उसके प्रचार-प्रसार में लगे रहे।[२३] अपने सहयोगियों तथा स्वयं के प्रभविष्णु व्यक्तित्व से सिन्धु के सूफी-सन्तों, पूर्वोत्तर भारत के बौद्ध मतान्ध तान्त्रिकों, शाक्त परम्परा के वामपन्थी आचार्यों तक को शङ्कराचार्य ने वशवर्ती बना लिया।[२४]

अपने अध्यात्म-प्रवण स्वरूप के कारण उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में हस्तक्षेप तो नहीं किया परन्तु प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष एकजुटता स्थापित करने का प्रयत्न किया। परस्पर विद्वेष के होते हुए भी राजा महाराजा उनके पास आते श्रद्धा-वन्दन करते। प्रतिहार, पाल, राष्ट्रकूट राजवंश के अनेक शासक शङ्कराचार्य की शिक्षाओं के प्रभाव में एकजुट होने लगे। उन्होंने सिन्ध क्षेत्र के आतङ्कित समुदाय में साहस और निर्भयता का सञ्चार किया। उनका मन्तव्य था कि अद्वैत साधना का लक्ष्य रखने वाला निर्भय हो जाता है। उन्होंने अद्वैत तत्त्व को ध्यान में रखते हुए ईश्वरार्पण-बुद्धि एवं फलासक्ति से मुक्त होकर कार्य करना आवश्यक बताया। उनकी दृष्टि में देश की एकता के लिए जन-मन में देश-प्रेम जगाना तो आवश्यक है, परन्तु केवल यह उपदेश देने, देश-सेवा का अहङ्कार करने, स्वार्थपर हो सङ्कीर्ण भाव से दौड़ने-भागने, युद्धरत राजाओं में क्षणिक समझौते कराने मात्र से सम्भव नहीं और न ही इससे समस्या का समाधान हो सकता है। अत: समझौता नहीं वरन् समन्वय स्थापित करना चाहिये, जिसके लिये

मन, वाणी और कर्म में परस्पर सामञ्जस्य-भाव की आवश्यकता है। एक तरफ जहाँ शङ्कराचार्य धार्मिक, आध्यात्मिक जागृति का प्रयास करते रहे वहीं उनकी प्रेरणा से मण्डन मिश्र की पूर्व-पत्नी भारती ने देश को दक्षिण, उत्तर, पूरब एवं पश्चिम में विभक्त कर महिलामण्डली एवं अन्यों के सहयोग से जन-जागरण का कार्य करती रहीं।[२५]

सिन्ध-क्षेत्र में आचार्य के आगमन एवं अद्वैत दर्शन के प्रचार-प्रसार से अरबी, ईरानी, सिन्धी भाइयों में प्रेम बढ़ने लगा। उनकी दृष्टि में अहंवादी, भाग्यवादी, चमत्कार-विश्वासी बनने से समाज दुर्बल, आलसी और भ्रष्टाचारी बन जाता है। किसी देश के कृषक और श्रमिक समाज के स्तम्भ होते हैं। भाग्यवाद, तन्त्र और चमत्कार के हथौड़े से इन स्तम्भों को तोड़ने वाले समाज-कल्याण में साधक नहीं प्रत्युत बाधक हैं। इनसे समाज को बचाना होगा। अपने स्वत्व और अस्मिता को बनाये रखने के लिए 'किं स्मर्त्तव्यं पुरुषैः हरेर्नाम सदा न यामिनी भाषा' का व्यवहार करना होगा। ज्ञान-विज्ञान को सीखने के लिए तो विदेशी यवन आदि भाषाओं का प्रयोग उपयोगी है, किन्तु नित्य-प्रति के प्रयोग में स्वदेशी भाषा आवश्यक है। उन्होंने न केवल इस प्रकार का उपदेश दिया, वरन् स्वयं उसके अनुरूप व्यवहार भी किया। वे संस्कृत भाषा में उपदेश के साथ ही भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोगों से उनकी भाषा में कुशल-क्षेम पूछते और उन्हीं की भाषा में उनकी जिज्ञासाओं का शमन करते। उनकी लोकप्रियता-वृद्धि और जन-जन तक उनके उपदेश पहुँचाने में यह अत्यन्त सहायक रहा। पश्चिमोत्तर क्षेत्र की जनता ने तो उनको अपना आराध्य पुरुष स्वीकार कर लिया। वाह्लीक क्षेत्र के लोग उन्हें बुद्ध का अवतार समझते और उनमें बुद्ध की छवि देखते।[२६] इस प्रकार की छवि ने इस क्षेत्र में बौद्धों में शङ्कराचार्य के प्रति आत्मीयता और सम्मान में वृद्धि कर दी। श्रीनगर में उनकी 'शारदा सर्वज्ञ पीठ' पर प्रतिष्ठा की गई। यह प्रतिष्ठा अकस्मात् नहीं वरन् भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी सम्प्रदायों के नेताओं को शास्त्रार्थ में परास्त करने के अनन्तर मिली।[२७] चन्द्रभागा नदी के तट पर होते हुए ज्वालामुखी तीर्थ जाने का दृश्य तो अत्यन्त प्रभावोत्पादक कहा जा सकता है। इसमें जहाँ एक ओर वे क्रमशः समुच्चय सिद्धान्त को समझाते चलते दूसरी ओर उनके उदार विचारधारा से प्रभावित बौद्ध जैन तथा सामान्य जनता एक स्वर से 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन्' जैसे उद्बोधन से उनका अभिनन्दन करती चलती। नैमिषारण्य में उनके इस उपदेश से कि बुद्ध ने अद्वैत वेदान्त के आधार पर ही अपनी शिक्षाओं का उपदेश दिया था, बौद्ध वैदिक जनता एक साथ सद्भाव पूर्वक रहने लगी। नालन्दा में तो उन्होंने जैन, बौद्ध, वैदिक सभी के बीच कहा कि सभी धार्मिक महात्मा उसी अद्वितीय ब्रह्म के समीकरण का मार्ग बताते हैं। बोधगया में उनका कहना था कि बुद्ध विष्णु के अवतार हैं। इसका परिणाम हुआ कि अनेक बौद्ध, विष्णु की भी पूजा करने लगे और अपने को हिन्दू मानने लगे। बौद्ध तन्त्र से प्रभावित बङ्ग क्षेत्र में, शङ्कराचार्य का ही प्रभाव था कि, संस्कृत भाषा का प्रचार हुआ। वैदिक ग्रन्थ और शास्त्रों का पठन-पाठन होने लगा। वैदिक संस्कृति में लोगों की आस्था बढ़ने लगी।

शङ्कराचार्य संन्यासी होते हुए भी मातृ शक्ति के महत्त्व से सुपरिचित थे। माता को दिये गये इस वचन, कि उनका अन्त्येष्टि संस्कार वे स्वयं करेंगे, के पालन के लिए उनकी अन्तिम अवस्था में अपने गाँव कालड़ी गये। उन्होंने माता की सेवा-सुश्रूषा और विकट परिस्थितियों में अन्तिम संस्कार किया।[२८] वस्तुतः शङ्कराचार्य के जीवन दर्शन से स्पष्ट है कि वे निस्पृहता, प्रज्ञा और करूणा के मूर्त रूप थे। श्री वाचस्पति मिश्र द्वारा शङ्कर-भाष्य पर लिखा गया 'मङ्गलाचरण'-'नत्वाविशुद्ध विज्ञानं शङ्करङ्करुणाकरम्' उनके व्यक्तित्व का पूर्ण परिचायक है। प्रस्थान त्रयी -

ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् एवं गीता जो क्रमश: न्याय-प्रस्थान, श्रुति-प्रस्थान एवं स्मृति-प्रस्थान से सम्बद्ध है, पर भाष्य लिखना उनके प्रज्ञा सम्पन्न अलौकिक ज्ञान का ही सुफल कहा जा सकता है। यह उनकी गुरु-भक्ति तथा करुणा का ही परिणाम कहा जा सकता है कि उन्होंने लोगों में विवेक-जागृति का निर्णय लिया और अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी वे अपने लक्ष्य-साधना जन-मन में सद्भाव-स्थापन में लगे रहे। उन्होंने अपने उन ग्रामवासी बन्धुओं, जिन्होंने उनकी माता की अन्त्येष्टि जैसे अवसर पर अमानवीय आचरण का परिचय दिया था, अनेक बाधायें उपस्थित की थीं, को इस दुष्कृत्य के लिये राजा द्वारा दण्डित करने के आदेश पर हस्तक्षेप कर रोक लगायी थी।[२९] हत्या के लिए प्रयासशील उग्र भैरव, नवगुप्त आदि के प्रति भी अनुग्रह भाव प्रदर्शित किया था। नवगुप्त के द्वारा आभिचारिक शक्ति के प्रयोग से अस्वस्थ होने पर भी पद्मपाद के निदान के परामर्श को मात्र इसलिये नहीं माना था कि वे स्वयं तो बच जायेंगे, किन्तु नवगुप्त मर जायेगा।[३०] इससे बढ़कर करुणा का और दूसरा उदाहरण क्या हो सकता है?

शङ्कराचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर व्यापक दृष्टि से चिन्तन करने पर उनमें भारतीय परम्परा के प्राचीन युग का समन्वयात्मक उत्कर्ष एवं मध्ययुगीन एकान्तनिष्ठा का सूत्रपात मिलता है।[३१] उनके कार्य एवं चिन्तन के आधार पर हिन्दू धर्म का आकार मध्यकाल में निर्मित और परिष्कृत हुआ और जो अब एक विशालतर मानवीय सांस्कृतिक प्रेरणा का नया और अक्षय स्रोत है।[३२]

वस्तुत: प्रज्ञा-करुणा सम्पन्न निस्पृत शङ्कराचार्य युग की माँग थे और अपने सतत उद्योग से उन्होंने ने केवल विकट परिस्थितियों से देश को कुछ समय के लिए ही सही, मुक्ति दिलाई वरन् समन्वय, सद्भाव एवं एकजुटता का, अहं ब्रह्माऽस्मि के रूप में, अद्वैत वेदान्तीशास्त्र प्रदान किया, जिसका समय-समय पर उपयोग किया जाता रहा है और आज जबकि भारत की सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने का नारा व्यक्ति अथवा समुदाय को तिरस्कार पूर्ण बना देता है यह और अधिक उपयोगी लगता है। भूमि का खण्डित-अखण्डित होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि वैचारिक धरातल पर मतभेद का। आज आत्मवादी, अनात्मवादी, स्वार्थ-केन्द्रित जातिवादी आदि तत्त्वों ने लौह शृङ्खला के समान भारत की आत्मा को जकड़ लिया है। स्थल-स्थल पर धर्मिक साम्प्रदायिक संघर्ष हो रहे हैं। नीति-अध्यात्म सम्पोषित राजनीति एवं राजनीतिक पार्टियों के स्थान पर जाति-पोषित पार्टियों का बाहुल्य है। राष्ट्र-भाषा हो अथवा संस्कृति दोनों पर भयावह ग्रहण लगा हुआ है। ऐसे में शङ्कराचार्य महोदय के उपदेश का स्मरण और प्रचार-प्रसार भारतीय चिन्तन को लोकमाङ्गलिक सार्थक दृष्टि दे सकता है। समाज में सद्भाव, समन्वय, एकजुटता और वैचारिक एकता स्थापित कर सकता है। वैचारिक एकता से आचार में एकता आयेगी और इससे राष्ट्र का संवर्धन होगा। अत: शङ्कराचार्य के सिद्धान्त आज भी सामाजिक सद्भाव और समन्वय की दृष्टि से उपयोग कहे जा सकते हैं।

सन्दर्भ :

१. देखें, पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, शङ्कराचार्य : विचार और सन्दर्भ, पृ० ३२.
२. देखें, पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, शङ्कराचार्य : विचार और सन्दर्भ, पृ० २.
३. वही, पृ० ४.
४. इस ग्रन्थ की प्रा० वी०एन०एस० यादव महोदय द्वारा की गई विद्वत्तापूर्ण समीक्षा के लिए देखिये 'इतिहास', भारतीय अनुसन्धान परिषद् की शोध-पत्रिका, अङ्क २, १९९३, पृ० २४९-५३.

५. महासहस्राब्दी दिग्विजय महोत्सव के पावन पर्व पर श्रीमद् जगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य वैदिक शोध संस्थानम्, वाराणसी द्वारा प्रकाशित 'शङ्कर श्वेत पत्रम्' पृ० ५ और आगे।

६. शास्त्री, नीलकण्ठ, ए नोट ऑन द डेट ऑव शङ्कर, जर्नल ऑव ओरियण्टल रिसर्च, (जे०ओ०आर०), जिल्द ११, वर्ष १९३७, पृ० २८५ और आगे।

७. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, शङ्कराचार्य : विचार और सन्दर्भ, पृ० १२.

८. वही, पृ० १३.

९. वही, शङ्कर श्वेत पत्रम्, पृ० ५ और आगे।

१०. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, द रोल ऑव शङ्कराचार्य इन द कल्चरल एण्ड फिलासॉफिकल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, १९८९, पृ० २ आगे; शङ्कराचार्य : विचार और सिद्धान्त, १९९२, पृ० १२-१३.

११. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, शङ्कराचार्य : विचार और सन्दर्भ, पृ० १३-१५.

१२. देखें, उपाध्याय, बलदेव, 'शङ्कराचार्य', १९५०, पृ० ५७-७०.

१३. देखें, उपाध्याय, वही, पृ० ८९-१०४.

१४. शङ्कर दिग्विजय, ४.१ और आगे।

१५. देखें, उपाध्याय, वही, पृ० ४१-५६.

१६. देखें, ओझा, दशरथ, एकता के अग्रदूत, पृ०

१७. देखें, शङ्कर विजय, १५.५, १५.१९, १५.१९, १५.१५६, १५.५१६१, १५.१७३ आदि तथा अध्याय १६ भी; उपाध्याय, वही, पृ० ८९-१२४.

१८. शङ्कराचार्य दिग्विजय, ६.४५; उपाध्याय, वही, पृ० ५० तथा १०९.

१९. देखें, शङ्कर विजय, १५.७५, १५.१६३, १५.१६४, १५.१७३ अदि।

२०. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, शङ्कराचार्य : विचार और सन्दर्भ, पृ० ८२-८३.

२१. पाण्डे, वही, पृ० ११. २२. पाण्डे, वही, पृ० ११५.

२३. देखें, उपाध्याय, वही, पृ० ७१-८८.

२४. शङ्कर विजय, ५.७५, १५.१७३ आदि।

२५. देखें, उपाध्याय, वह, पृ० ८३-८८.

२६. शङ्कर विजय, १५.१४२ देखें, उपाध्याय, वही, पृ० १५.१४२, १५.१५६ आदि

२७. देखें, उपाध्याय, वही, पृ० ११६. २८. उपाध्याय, वही, पृ० १०२-१०३.

२९. उपाध्याय, वही, पृ० १०४.

३०. शङ्कर विजय, अध्याय १६; उपाध्याय, वही, पृ० ११६-२४.

३१. पाण्डे, शङ्कराचार्य : विचार और सन्दर्भ, पृ० ९.

३२. वही, पृ० ११६.

✵

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक संस्कृति की प्रासंगिकता

रामनाथ यादव*

सृष्टि एक रहस्य है, ऐसी अनसुलझी गुत्थी जिसको प्रकाशित करने एवं सुलझाने का सहारा मानव संस्कृति एवं सभ्यता के विकास के साथ-साथ गतिमान है। सूक्ष्म चिन्तन से सृष्टिकर्त्ता की आनन्देच्छा ही सृष्टि के प्रयोजन का कारण सिद्ध होती है। जीवों, वनस्पतियों, नदियों, समुद्रों, पहाड़ो, ग्रहों तथा नक्षत्रों आदि की विविधता से भरी हुई सृष्टि किसी विशेष प्रयोजन की ओर संकेत करती है क्योंकि कोई उपभोक्ता है तो कोई उपभोग्य। मानों सृष्टि के सभी तत्व एक दूसरे को अनुप्राणित कर रहें हैं जड़ एवं चेतन का भी अपूर्व सामन्जस्य किन्तु चेतन का चेतन से सामन्जस्य के साथ-साथ विरोधात्मक द्वन्द्व जारी है, जिससे संसार दु:खों से सर्वथा मुक्ति पाने के लिए हमारे मनीषी पूर्वजों ने अपने सतत परिश्रम, ज्ञानानुभव एवं सूक्ष्माति सूक्ष्म विवेचन से जिस साधन को ढूढ़ निकाला वही संस्कृति एवं सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। अर्थात् जहाँ लोक मंगल की भावना से सराबोर मानव व्यक्तित्व के विकास की सनातन प्रक्रिया के बीज निहित हैं वहीं संस्कृति मुखरित हो उठती है। संस्कृति एवं सभ्यता में थोड़ा सा अन्तर है। आध्यात्मिक अभ्युदय, नैतिक उत्थान तथा लोक कल्याण की भावना हेतु निर्मित कानून, धर्म, रीति-रिवाज तथा ज्ञान-विज्ञान आदि को संस्कृति कहतें हैं और मानव द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्मित समस्त भौतिक संसाधन जैसे- मकान, यातायात के साधन, कृषि के यंत्र, दूरभाष के साधन, सुरक्षा के साधन तथा सुखोपभोग की समस्त वस्तुएं सभ्यता के अन्तर्गत आती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सभ्यता भौतिकता के यथार्थ ज्ञान से सांसारिक सुख-सुविधाओं का संसाधन प्रदान करते हुए सांसारिक ढांचे में वाह्य मजबूती प्रदान करती है जबकि संस्कृति आध्यात्मिक ज्ञान से मानसिक सुख व शान्ति प्रदान करते हुए समाज में स्थायित्व एवं अटूट स्नेह भर देती है। वेदों के अन्तिम भाग को उपनिषद की संज्ञा प्राप्त है- वेदान्तों नाम उपनिषद प्रमाणम्। उपनिषदों में इसी को क्रमश: प्रेय एवं श्रेय मार्ग के रूप में उद्धृत किया गया है।[१]

वैदिक संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है जैसा कि भौतिक सुख-सुविधाओं को प्रेय की संज्ञा देते हुए अल्पकालिक शारीरिक सुख विषयक स्वीकारा गया है जब कि आध्यात्म को चिर स्थाई परमानन्द से। इस परमानन्द की प्राप्ति के लिए अनुभव ज्ञान चक्षु से दृश्य किन्तु भौतिक चक्षु से अदृश्य शक्ति रूपी कारण की कल्पना की गयी है, जिसका कार्य सम्पूर्ण चराचर जगत है।[२]

जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से निकाले गये तन्तुओं के द्वारा जाले की रचना करती है, पृथ्वी पर वनस्पतियां उत्पन्न होती है, जीवित मनुष्य के शरीर से केश और रोम उत्पन्न होतें हैं उसी प्रकार अविनाशी शक्ति से चराचर जगत की उत्पत्ति होती है।[३]

वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, मुहम्मदाबाद, गोहना-मऊ

यथोर्णनाभि: सृजते गृहणते च यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति।

यथा सत: पुरूषात्केश लोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीहि विश्वम्।।

अर्थात् वेदों में विविध प्राणियों, वनस्पतियों, समुद्रों, पहाड़ों, नदियों, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश तथा अग्नि आदि को उसी शक्ति का अंग स्वीकार किया गया है[४] एवं उसमें देवत्व का आधान करते हुए उसकी पूजा की गई है... एकं सदविप्रा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वान माहु:।

स्वाभाविक है कि अनादिकाल से चली आ रही सृष्टि प्रक्रिया में सभी तत्वों की व्यवस्थानुसार नियम बद्धता[५] तथा सामन्जस्य का अनुभव करके ही वैदिक ऋषियों ने उनमें अस्था प्रकट की होगी जिसका प्रत्यक्ष परिणाम समाज में परिलक्षित हो रहा है। आज पर्यावरण-प्रदूषण, नारी उत्पीड़न, आतंकवाद तथा अलगाववाद एक गम्भीर समस्या बनकर उभर रहे हैं। आध्यात्म से विमुखता एवं पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण ही इन समस्याओं की जननी है। वस्तुत: सृष्टि रूपी वृक्ष की मूल तो एक ही शक्ति है[६] जिसके शाखा, पत्ती, फूल तथा फल के रूप में समस्त जड़ चेतनात्मक जगत है[७] किन्तु खेद है कि काल परिवर्तन के साथ-साथ हम आपस में बिखरते जा रहे हैं। हम अपनी मूल को न तो पहचानना चाहते हैं और न ही ढूढना। कुछ पाश्चात्य संस्कृति के पोषक विद्वान एवं भारतीय वैज्ञानिक तो वेदोल्लिखित इस शक्ति को मानने में ही आपत्ति कर बैठते हैं। यहाँ तक कि वैदिक सूक्तों को अशिक्षित आदिम मानव (कृषक) के गीत की संज्ञा दे डाले हैं। उनकी सोच है कि प्रकृति के ताण्डव से भयभीत एवं असहाय मानव का यह अन्तर्नाद है।

ऐसे भौतिक विद्वानों से मैं जानना चाहता हूँ कि बिगड़ते हुए प्राकृतिक सन्तुलन से क्यों परेशान हैं? वेदों में यदि अरण्यानी (जंगल), पृथ्वी[८] तथा जल की पूजा की गयी है तो कृषकों का गीत है और जंगल काटकर, जल को प्रदूषण कर चिल्ला रहें हैं कि पर्यावरण बचाओ। ऋग्वेद के वाक् सूक्त में स्पष्ट उल्लेख है कि समस्त व्यापार वाक् से ही संचालित हो रहे हैं। वाक् (वाणी) वायु[९] का ही एक स्वरूप है। जैसा कि अन्दर से उठने वाली वायु ही कंठ, तालु तथा मूर्धा आदि अवयवों के साथ जीह्वा के संसर्ग से विभिन्न ध्वनियों के रूप में प्रकट होती है। अनुवर्ती युगीन वैयाकरण भी शब्द को ब्रह्म ही मानते हैं। वायु को परम शक्ति का एक रूप स्वीकार करके उसमें देवत्व की कल्पना की गयी है। इसी से समस्त क्रिया संम्पन्न होती है एवं इसके अस्तित्व को न समझने वालों का सर्वनाश हो जाता है।[१०]

यही कारण है कि यागादिरेवधर्म: की भावना से भावित यज्ञ द्वारा वायु मण्डल को शुद्ध करके अहिंसित जीवन प्राप्त करने की इच्छा तथा अप्रतिरूद्ध स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने की कामना की गयी है।[११] किन्तु आज विभिन्न गैसों के उत्सर्जिन से वायु मण्डल में जहर घोला जा रहा है। इतना ही नहीं जहां वेदों में सम्पूर्ण जगत को एक ही परमात्मशक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए परस्पर अभेद[१२] की भावना तथा अटूट प्रेम के सामन्जस्य की स्थापना की गयी है, वहीं आज भौतिकवादियों की सोच इस स्तर तक पहुंच गयी है कि दूसरे प्राणियों एवं पेड़ पौधों से भिन्न, मनुष्य का भी मनुष्य से सम्बन्ध विच्छिन्न होता जा रहा है। आत्मा वै जायते पुत्र:[१३] की भावना से पिता को पुत्र के जन्म के रूप में स्वीकार करके मातृ एवं पितृ ऋण की व्यवस्था के स्थान पर आज पिता की पहचान ही मुश्किल हो गयी है।[१४] "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते

रमन्ते तत्र देवता'' की भावना से युक्त वैदिक संस्कृति में नारियों का विशेष स्थान था। शिक्षा के क्षेत्र में भी बालकों की भांति इनका भी वेदारम्भ संस्कार किया जाता था। कुछ विदुषी स्त्रियों द्वारा रचित मंत्रों को वैदिक संहिताओं में भी अनुस्यूत किया गया है, जिसमें लोपा, मुद्रा, अपाला, घोषा, यमी[१५] अदिति के नाम विशेष उल्लेखनीय है। गार्गी तथा मैत्रेयी नामक स्त्रियों के दार्शनिक विचार उच्च कोटि के है। धार्मिक अनुष्ठान सपत्नीक ही सम्पन्न होतें थे। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर राम को सीता की स्वर्ण प्रतिमा बनवाकर अनुष्ठान करवाना पड़ा था किन्तु आज के भौतिकवादी समाज में दहेज उत्पीड़न तथा कन्या भ्रूण हत्या सामान्य घटना हो गयी है। नारियां भी स्वधर्म तथा कर्तव्य से विमुख होकर अनैतिक होती जा रहीं है। पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करने वाली कुछ भौतिकवादी पढ़ी लिखी महिलाएं यदि मां नहीं बनना चाहती तो कुछ स्तन पान कराने से कतरा रही हैं।

माता भूमि: पुत्रों अहं पृथिव्या:।[१६] सत्यं वद् धर्मचर[१७] न वित्तेन तर्पणीयों मनुष्य:[१८] कुर्वन नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।[१९] आदि वैदिक वाक्य परस्पर प्रेम, सत्य, अहिंसा, निर्लोभिता तथा कर्ममय जीवन का शाश्वत उपदेश देते हुए मानवीय मूल्यों का स्मरण कराते हैं किन्तु आध्यात्मिक निर्भयता से युक्त भौतिकवादी समाज- ''सर्वेगुणा: कांन्चनमाश्रयन्ति'' में विश्वास रखते हुए विविध कुकृत्यों से अर्थ तथा काम की पूर्ति में संलग्न है।

वस्तुत: वेदों में अध्यात्म की परिकल्पना मानव में अभेद की भावना लाने के लिए है[२०] जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष अनाचार के समय उसमें यह भाव उपस्थित हो कि यह तो मेरा ही अंग है।[२१] कानून केवल प्रत्यक्ष अपराध को रोक सकता है किन्तु कुछ ऐसे अपराध है जिन्हें केवल आत्मिक शक्ति ही रोक सकती है, जैसे- अबोध बालिका के साथ बलात्कार एवं कानून से बचने के लिए एकान्त में की गयी हत्या, क्षणिक जीह्वा स्वाद के लिए निरपराध प्राणियों की निर्मम हत्या आदि। इस प्रकार के असंख्य अनाचार समाज में व्याप्त है क्या भौतिकवादी कानून से इस परोक्ष अमानवीय अनाचार को रोका जा सकता है? ऐसे अपराधों को रोकने के लिए वेद को आधार मानकर धर्मशास्त्रों की रचना की गयी एवं उनके लिए सामाजिक नियम बनाते हुए आध्यात्मिक भय की स्थापना की गयी जिससे मानव ऐसे अनाचारों के प्रति स्वयं सोचे।

परिवर्तन संसार का नियम है। २००० वर्ष पूर्व की स्थिति आज से भिन्न थी। इस समय हमारे धर्मशास्त्रों के कुछ अंश समाज के लिए निरूपयोगी हो चुके हैं। संविधान एवं शिक्षित समाज द्वारा उस पर अंकुश भी लगा दिया गया है। मेरी अपनी मान्यता है कि ऐसे निरूपयोगी अंशों को मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्रों से भी हटा देना चाहिए क्योंकि सामाजिक नियमों व परम्पराओं को समयानुसार परिवर्तन न करने से धर्मान्धता एवं अज्ञानता के साथ-साथ प्रगति भी रूक जाती है।

सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में मैं मनुस्मृति का एक उदाहरण देना चाहता हूँ जहां वेदों को आधार मानकर समाज चलाने के लिए चार वर्णो की व्यवस्था की गयी है। जो प्रखर प्रज्ञावान हुए उन्हें ब्राह्मण, जो शक्तिशाली हुए उन्हें क्षत्रिय, उद्योग धन्धों में योग्यता रखने वालों को वैश्य तथा बौद्धिक एवं शारीरिक रूप से क्षीण लोगों को शूद्र की श्रेणी में रखा गया है।[२२] वास्तव में वेदों की रचना निरपेक्ष रूप से मानव कल्याण के लिए हुई है। वहां सृष्टि प्रक्रिया के सन्दर्भ में एक ही शक्ति को विविध रूपों में बाटा गया है जैसे-

चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षो: सूर्योऽजापत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत्।।[२३]

नाभ्याऽसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यो: समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिश: श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयत्।।[२४]

करते समय स्पष्ट नहीं किया गया कि यह विभाग गुणों एवं कर्मो के आधार पर है। जैसा कि गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है-"चातुवर्ण्य मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:"।[२५]

वास्तव में वहां अपेक्षा की गयी है कि जन्म से सभी शूद्र होते है। मानव अपने कर्मो के अनुसार ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है। सत्ज्ञान एवं सत्कर्म को लक्ष्य मानकर सद्भावना, सद्बुद्धि और सद्व्यवहार को ब्राह्मण का स्वरूप स्वीकार किया गया है। दुर्बुद्धि दुर्व्यसन एवं दुर्व्यवहार जैसे तुच्छ धर्मो से युक्त मानव में ब्राह्मणत्व का आधान करने के लिए उन पर विभिन्न प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्ध लगाये गये, जो तत्कालीन बिखरते हुए समाज के लिए आवश्यक था। मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था को जन्मना स्वीकार करके व्यवस्था में दोष उत्पन्न कर दिया गया जैसा कि मात्र १० या १२ दिन के अपरिपक्व बच्चे का बिना बुद्धि परीक्षण किये मात्र जन्म के आधार पर विविध प्रकार का प्रतिबन्ध एवं सामाजिक अनादर सर्वथा अनुचित है-

नामधेयं दशम्यां तु द्वादशम्यावास्यकारयेत्-[२६]

मांगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।

वैशस्य तु धन संयुक्तं शूद्रस्य तुजुगुप्सितम्।।[२७]

इतना ही नहीं मनुस्मृति में तीन वर्णो के लिए उपनयन संस्कार का विधान है किन्तु एक वर्ण के लिए उपनयन संस्कार का निषेध किया गया है[२८] एवं उपनयन संस्कार से वंचित वर्ण को व्रात्य की संज्ञा देते हुए उनके साथ अध्ययन-अध्यापन तथा विवाह आदि कार्यो का निषेध किया गया है। ऐसे अनेक उद्धरण है जिनका उल्लेख मैं नहीं करना चाहता क्योंकि मेरा उद्देश्य मनुस्मृति में वर्णित तत्य पर प्रकाश डालना नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति पर हुए कुठाराघात के कारण विभाजित होते समाज, खण्डित एकजुटता एवं हिन्दू धर्म से कुछ लोगों का पलायन इंगित करता है कि मनुस्मृति के ऐसे अंशों पर पुनर्विचार आवश्यक है जैसा कि इसके कुछ अध्याय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखे गये है। ऐसी व्यवस्था जिसमें समानता का अधिकार न हो किसी वर्ग विशेष की भावनाओं का अनादर हो लोकप्रिय नहीं हो सकती। ऐसे धर्म को ज्ञान के अमूल्य निधि वेद से जोड़ कर वेद की महिमा का ह्रास करना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता।

गीता[२९] एवं उपनिषदों[३०] में भी कर्म के अनुसार जन्म का उल्लेख है किन्तु इसका स्वरूप व्यापक एवं सार्वभौम है न कि मनुस्मृति की तरह सुकुचित। वहाँ अच्छे कर्म से मानव देव जैसी अच्छी योनि एवं बुरे कर्म से पाशविक तथा आसुरी जैसी खराब योनियों की चर्चा की गयी है। वस्तुत: हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के मूल उपदेशक गीता, रामायण एवं वेद हैं, जहाँ मानव-मानव में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्राणियों में भी अभेद की भावना स्थापित की गयी है।[३१]

"सर्वभूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।"[३२]

ऊपर वर्णित मनुस्मृति जैसे धर्म शास्त्रों के कुछ अंशों का प्रभाव हमारी आध्यात्मिक संस्कृति को ठोस पहुंचा रहा है जिससे वेदों को आधार मानकर निर्मित नि:श्रेयस पथ पर अग्रसर,

भौतिक तथा आध्यात्मिक पराकाष्ठा की द्योतक एवं लोकमंगल की भावना का विमल सन्देश देने वाली हमारी संस्कृति का स्वरूप परिवर्तित होता जा रहा है तथा पाश्चात्य संस्कृति प्रबल होती जा रही है।'' सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:'' के स्थान पर जातिवाद, क्षेत्रवाद तथा आतंकवाद के घुन राष्ट्र को खोखला कर रहें है ''ॐ सह: नवावतु सह नौभुनक्तु'' के स्थान पर ''यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् की भावना प्रबल होती जा रही है। जिस देश में ऋषियों के पवित्र अन्त: करण से वेद के ऋचाओं की गूंज हो तथा निराकार शक्ति भगवान राम एवं कृष्ण के रूप में रामायण एवं गीता के माध्यम से मानवता का संदेश दे गयी हो वहां आज मानवता का हनन हो रहा है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना से ओत-प्रोत संस्कृति में स्वार्थ का महाताण्डव हो रहा है। भौतिक संमृद्धि एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए सांस्कृतिक मूल्यों को ताक पर रख कर पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण हो रहा है।

मेरा आशय यह है कि संस्कृति के आधार भूत धर्मशास्त्रों के ऐसे विकृत अंशों का परिष्कार अच्छा है न कि संस्कृति का ध्वंस। विचारणीय विषय यह है कि अशिक्षित वर्ग की अपेक्षा शिक्षित वर्ग की रूझान पश्चात्य संस्कृति की ओर अधिक है। वैदिक संहिताओं के यथार्थ आशय को शिक्षित वर्ग ही जन मानस तक पहुंचा सकतें हैं क्योंकि साधारणजन तो वेदों को आधार मानकर रचित मनुस्मृति जैसे धर्म शास्त्रों को ही समझ पाते हैं जो समयानुसार परिवर्तनीय है। ऐसे पाश्चात्य संस्कृति के पोषक शिक्षित समुदाय से मैं कहना चाहता हूँ कि क्षणिक सुख-सुविधा प्रदान कर समाज से स्नेह छीन लेने वाली संस्कृति से बचें एवं भारतीय संस्कृति को अनुप्राणित करने में योगदान दें क्योंकि संस्कृति रूपी वृक्ष की सूखी डाल तो काटी जा सकती है किन्तु वृक्ष पर प्रहार करने पर पूरी सामाजिक व्यवस्था ही ध्वस्त हो जायेगी एवं मानवता विलुप्त हो जायेगी। ऐसी विषम स्थिति में आध्यात्मिक प्रेरणा एवं मानसिक बदलाव ही बिखरते समाज को बचाने में श्रेष्ठ साधन होगा क्योंकि यह ऐसी शक्ति है जो कुम्भ जैसे स्थलों पर लाखों निरपेक्ष श्रद्धालुओं की भीड़ पैदा कर देती है एवं बाल्मीकि जैसे लोगों की मन:स्थिति बदल कर लुटेरे से महा पुरूष बना देती है।

सन्दर्भ :

१. कठोपनिषद, अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतै प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरूषं सिनीत: - १-२-१.

२. मुण्डकोपनिषद, ब्रह्म एव इदं विश्वम् - २-२-११.

३. मुण्डकोपनिषद - १-१-७. ४. ऋग्वेद - १-१६४-४६.

५. ऋग्वेद, ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यज्यायत - १०-१९०-१०.

६. ऋग्वेद, पुरूष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् - १०-९०-२.

७. तैत्तिरीयोपनिषद, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते - ३-१.

८. अथर्ववेद, नाना वीर्या ओषधीर्या विभर्ति - १२-१-२.

९. ऋग्वेद, अमेव वात इव प्रवामि - १०-१२५-८.

१०. ऋग्वेद, य: प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम्। अमन्तव: मां त उप क्षियन्ति -१०-१९०-४.

११. ऋग्वेद, आनोभद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतो - १-८९-१.

१२. छान्दोग्य उप० - सर्व खलु इद्र ब्रह्म - ३-४-४.

१३. कौपीतकी उप० - २-१-१.

१४. भारतीय संस्कृति में जहां एक पत्नीत्व एवं पतिव्रता स्त्री की मान्यता है वहीं पाश्चात्य संस्कृति में पति एवं पत्नी स्वेच्छा से बदलते रहते हैं जिससे संतान का माता-पिता के प्रति एवं पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रगाढ़ नहीं हो पाता।

१५. ऋग्वेद - १०-१०. १६. ऋग्वेद - पृथ्वी - सूक्त - १२-१०.

१७. तैत्तिरीय उप० - १-१०. १८. मूण्डकोपनिषद - ३-१-१६.

१९. ईशावास्योपनिषद

२०. श्वेताश्वरोपनिषद, विश्वाधिपः सर्व भतेषु गूढ़ - ५-४-१५.

२१. श्वेताश्वरोपनिषद, य एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति योगात् वर्णाननने कान्निहितार्थो दधाति - ४-१.

२२. ऋग्वेद, ब्राह्मोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य कृतः

उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत् - १०-९०-१२.

२३. ऋग्वेद - १०-९०-१३. २४. वही.

२५. गीता - ४-१३. २६. मनुस्मृति - २-३०.

२७. वही - २-३१.

२८. मनुस्मृति, नैतेरपूर्तै विधि यदाद्यपि हि कर्हिचित

ब्राह्मान्यौनांश्च सम्वन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह - २-४०.

२९. गीता, कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः - ३-२०.

३०. ईशावास्योपनषिद्, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। - २

३१. छान्दोग्य उपनिषद - आत्मा एव इदं सर्वम् - ७-२५-२.

३२. गीता - ६-२९.

Rigveda, Morality & Indian Culture: Its Continuity and Paradoxes

Nairanjana Srivastava*

Indian culture and morality of some flawless superior attributes are a sort of synonyms to many. To many it's a self - confessed hide from their unbarred free desires, which are in most cases natural phenomenas of every human psyche. In such a case our society barely justifies right meaning and usage of notions like - ethics, values and morality and what we are left with is a lifeless superimposition of workless superiority.

But this has not always been so. If we once bother to seriously look inside our sacred texts to which we often boast of having the roots of our culture, we will be coming on a restful conclusion that what a society our progenitors lived was more than a normal one and those were the people with ordinary right as well as wrong habits as we, if confessing honestly, have today. M. Winternitz evaluated the habits of these people, who were Aryans of Rigveda, with ethnological idea and suggested that "we must not form too exalted an idea of the moral conditions in ancient India and not picture these to ourselves in such an idyllic manner ...... We hear in the hymns of the Rigveda of incest, seduction, conjugal, unfaithfulness, the procuring of abortion, as also of deception, theft and robbery. All this however proves nothing against the antiquity of the Rigveda. Modern ethnology knows nothing of "unspoiled children nature" any more than it regards all primitive peoples as rough savages or cannibal monsters. The ethnologist knows that a step - ladder of endless gradations of the most widely differing cultural conditions leads from the primitive peoples to the half - civilised people and right up to the civilized nations"

But his statement that "Rigveda is everything but a text book of morals", proves to be wrong in the light of the fact that Rigvedic concept of morality not stands with modern parameters. It is rather a psychological treatment given to a joyous and free society where when discontinuity occurs in human - friendly environment, a soft reminder is set to let the people not forget their duty for society as well as humanity on a larger scale.

**Research Scholar, Dept. of A.I.H.C. & Arch, B.H.U., Varanasi.*

In present paper I try to throw light on the social and personal morality of Rigvedic Aryans and their concept of values. Years back Winternitz and Zimmer (Altindisches Leben, Berlin, 1879) suggested in this regard that "We need not therefore imagine the people of the Rigveda either as an innocent shephered people or as a horde of rough savages, nor on the other hand as a people of ultra-refined culture. The picture of culture which is unfolded in these songs..... shows us the Aryan Indian as an active, joyful and warlike people..... as yet we do not find in the songs of the Rigveda that effeminate, ascetic and pessimistic trait of the Indian character with which we shall meet again and again in later Indian literature."

The society as reflected by Rigveda gives an impression of those courageous brave warriors who when even deceased hold the bows in their hands and the priest performing their funeral rites when takes them away, chants -

"the bow I take from the hand of the deceased,
for our power and glory and strength,
even there where you lie may we as good heroes,
repulse all the attacks of the foes."
(Rg. X.18.9)

This type of martial songs are various in Rigveda (VI. 75.1-3) and speak of an attitude which is developed when someone is in long confrontation with battles; battles with animate enemies, battels with nature. We know that the gods of early Aryans were nothing but the deification of natural phenomena's with which they sometimes tried to adjust and sometimes fought to adjust. Consequently the basic structure of the society came to regard man and cattle power as the supreme acquisitions which were duly necessary for the victorious saga, Aryans were creating in the leadership of Indra. One hymn of Rg. Ch. X.112 reflects beautifully what a man wished from his life-

"Diverse indeed are our aims,
different are the tasks of men....
diverse in means, but all wishing wealth'
equally we strive for cattle"

It is a good example to show the pulse of Rigvedic society, which was equal, enthusiastic, materialistic, wealth - loving yet kind and moral. The caste-system, which is a characteristic disadvantage of modern Indian society, was based on the simple division of work, which was aimed at improving a person's capability as well as society's discipline (A bard I

am, my father a leech and my mother is a grinder of corn. X. 112). It was not conceptualized to distinguish one person form other on fake basis of birth etc. Even the restrictions of inter-caste dining and marriages were absent then. The society was governed by the simple law of convenience and therefore was prevalent polygamy to fulfil the wish of a father of having more sons. But in practicing polygamy none of the involved sides were duly exploited. Women had full right to select their husbands and if not being able to get a right match they were equally free to stay at their father's house and continue in their studies (Rg. 11.17; 7)

In marriages, the first thing required was the consent of both the marrying parties in which the girl and boy had to be fully satisfied with each other. This is hard to find even in present urban Indian society which is thought to be modern though certainly not advanced. Those people had no hindrance in expressing their romance openly and sometimes the side of Venus forced high on Mars to accept her love proposal (X.10.7). But these instances don't indicate that family life was totally neglected in satisfying personal desires, because Rigveda shows that father was the head of the family and mother, the master of all the members (X.8S). Children had to follow their orders anyhow and there was no escape for them to disobey it. We also see that a family was not made of only the members of groom's people but there lived brides mother also who was well taken care of from her son in law and her remarks and objections were taken seriously by him. (x.34). Such an equal approach if could be obtained by present Indian society, the war between menism and feminism had vanished from its root.

These all we discuss not in direct relation with morality but as a background to this, recognizing and respecting personal freedom or the freedom of a soul prepares a concrete base for a right, mature and practical sense of morality. Rigvedic period by these instances confirm to a society which hardly needed an imposed code of conduct. Indeed Brahmans were the group who dominated in judicial and religious matters, but this doesn't imply that other castes were afraid of the curse thrown on them by a disobeyed Brahman. It only later became a rule when Dharma was diverted from its real meaning that is adaptibility but in the hymns of Rigveda, like-

"Loosen the bond of sin like a girdle, O Varun;"

"We shall fully confirm to the rule of equity

you have ordained"

"Avert terror from me, O Varuna,

be kind to me, as a righteous ruler," (II. 28) ...., we find that the consciousness of abiding with world - order, comes from within Varun, who is the establisher of Rit, is equal to all mortal and immortal beings and gods themselves follow his rules (Isn't it surprising that having the roots so old, why Indian governments debated the Lokpal bill so late. Perhaps after late we could be aware of the paradoxes cropped in the discontinuity from Rigvedic morality) But anyway, as a concept of morality Rigveda denies any such religion which deprives any particular side weaker or stronger from enjoying their part of happiness and justice. In ch. X. 117, these are very sentimental hymns where prayer is made to wealthier persons to be kind to those who are less efficient-

"Let the wealthier person be generous to the applicant." And with this application the threat of time is also attached "Let him take a longer view.

For life rolls on like the wheels of a chariot,

Wealth comes now to one now to other," - What can be a more simple outlook for life than this.

We find in Rigveda that morality is nowhere an abstract Idea which should be followed with the fear of **'Paap'** or cruelty of **'Narak'***, instead it is the awareness of Karman that, 'what I sow, I ripe'; It is the consciousness that I must not commit wrong; for according to the law of Karma, our wrong will ripe us wrong - "May I die today if I am a sorcerer or if I have tried to take a man's life by sorcery" (V11.1 04. 15)

But here consciousness in not one - sided. The hymn further says "But may he, too, who falsely called me a sorcerer, bewail the death of ten grown up sons."

This is the most wonderful element of Rigveda the vividness, the practicality ... when we start bearing the burden of values, we also start rejecting its implications and slowly we come in the habit of neglecting those rules. We don't know how apt doctors were Rigvedic Aryans but their psychological aptitude must had been fantastic as they recognized this tendency and never favoured motonous duty - oriented morality, devoid of a call for right .Similarly they also knew that a sufferer and not a non suffered preacher could be a better example before a society for prohibition of certain activities. Therefore it is a gambler, who after being fully destroyed in gambling, confesses that it is a bad habit and nobody should come in its prey. This is the adaptable and practical morality A person is shown with both the aspects, good and bad and then stayed free

to decide his mind of action. The distinction of right and wrong achieved in this way is long lasting and the percentage of confirmation of morality is higher than compared to that of the forced morality.

At the end, the moral sense of Rigvedic people lies in protecting food for those who are hungry (X.117) and not in pretending to be good by hiding the truth of gambling, decepting or women-going. Their great respect flows for the god of intoxication and they fight battles to win gold and cattle (IX. 16.6), but they do care for their friends (V. 85.7), they do respect women and they do believe in personal freedom.

In dealing with the ethical and spiritual thought of Rgvedic people, V.M. Apte in Vedic Age, writes -

"There is no trace of pessimism in the thoughts of the Rigvedic sages. Whether life was a reality, illusion, substance or shadow, they want to enjoy it to the full. They do not seem to subscribe to the doctrine that life is a misery which can only be ended by eradicating desire or Vasana."

These people were the best psychologists who lived openly & respected life in all the forms whatsoever. They respected desire and their supreme desire was to triumph over poverty and resistance. This was their only concept of morality: be kind, be disciplined, be human and be moral, because life after death doesn't go to any religious shelter, it is divided in Prakriti (X. 16). The basic difference between the concept of Rigvedic and later- period morality is that today the notion is greatly inspired by religious boundaries. We mean by morality certain rituals or certain duties which are fixed in the compartments of particular religion. The flavour of humanity is grossly missing and the disastrous thing in addition to this is, talking humanity, we put aside the psychology of human beings, whereas our ancestors were quite generous and liberal in accepting the weakness as of human mind and hardly ever suppressed those, thought to be anti - moral desires and deeds, so that it later doesn't become a devil in mind and pull us away from the path of right.

Reference:

1. Winternitz, M. - History of Indian literature, University of Calcutta, 1927, p. 67-68, (vol. 1)
2. Majumdar, Pusalkar - Vedic Age (vol. I) History & Culture of the Indian People, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, Year 1951, p. 383.
3. Rigveda, VI, 75, 1-3

1. Like a thunder - cloud becomes his face/When the mailed warrior plunges into the thick of battle

   Be victorious without being injured in body/ May the strength of the armour protect you

2. By the bow we'll win the cattle.....

   By the bow shall we conquer the regions

3. As if to whisper the string hear the ear.....

   This string, that helps on to victory.

4. Rigveda, **(II. 17.7)** हे इन्द्र, जैसे आमरण माता-पिता के साथ रहने वाली पुत्री अपने पितृकुल से ही अंश के लिए प्रार्थना करती है, वैसे ही मैं तुम्हारे पास धन की याचना करता हूँ।

5. Rigveda, **(X "10.7)** i, Yami, am possessed by love of Vama that i may rest on the same couch beside him.

   I as wife would the to my me to husband, like car wheels let us speed to meet each- other.

6. Rigveda, **(X. 85)** सूर्यासूक्त - Happy be thou and prosper with thy children here: be vigilant to rule thy household in this home (27)

7. Rigveda, **(X. 34)** I have driven away from home a wife devoted. Her mother hates me, she herself rejects me.

8. Rigveda, **(IX. 16.6)** "clarified by the sieve of sheep's wool.

   Some rises to his fullest splendour There he stands, as after battle Stands the here by the stolen cows.

9. Rigveda, **(X. 16)** Let the eye to the sun, let the breath go to the wind; to heaven or to earth according to their desert; or to waters go, if that is your lot, or set you up in the plants with your limbs.

- Rigveda (VII. 86.6 and 88.5,6) show that the consciousness of sin (अनृत, आगस, एनस) was recognized, but sin resulted from the violation of rita or "order" in the moral sphere (ie. of "truth" and "right")

❋

Dating of the Ṛgveda : A new analysis

Ajay Pratap Verma*

The Ṛgveda, as we have, a 'samhita' that is a compilation of hymns composed at different times in separate places by priest poets called Ṛishis. The process of the composition of the hymns was a gradual and prolonged one in which at least three stages may clearly be distinguished. The work of compilation of the Ṛgveda hymns which was completed by the beginning of the later Vedic period involved several families of priests collecting and arranging the hymns independently.

The inner chronology of Ṛgveda is very certain. However the six maṇḍals (the families' books) namely book 2 to 7 are supposed to be the earliest though some late hymns are ment with in these books too. These are assigned to the priestly families of Grtsmad, Visvamitra, Vāmadeva, Atri, Bhardvāja and Vasishṭh respectively. The next in sequence comes book 8 along with the first fifty hymns of the first book. These portions of the text belong to the priest of the Kāṇva family.The book 10 is entirely devoted to the deity Pavamāna Soma. It is obvious that they used to recite these hymns at prescribed occasions of the sacrifices.

The book 10 as also the remaining parts of the first book are supposed to be the latest portion of the text though as has rightly been pointed out by R.N. Nandi. The 10 book is a medley collection of very late and very early materials.[1]

The latest chronological limit for the composition of the Ṛgveda was calculated by Maxmular to be around 1000 B.C. in his History of Ancient Sanskrit Literature (1859)[2] He took the entire vedic literature to fall in to three successive period called the Mantra period, Sanhita and Brahaman periods in which the hymns were composed compiled and came in to axistance respectively the sanhita period in which the hymns were compiled and the Brahman period in which the subsequent Vedic prase literature came in to existence. Taking the sutra works the immediately followed the Vedic literature to belong to the duration 600 B.C. to 200 B.C. and presuming a span of 200 years uniformly for each one of preciding periods. He arrived at the conclusion

* *Research Scholar, A.I.H.C. & Archaeology, B.H.U., Varanasi*

that the hymns were composed roughly between 1200 B.C. and 1000 B.C. this dating is on the basis of a close relationship between the language and religion of the Veda & Avesta but as clearly demonstrated by Winternitz, they do not yield any positive results.[3] Even now though the starting period of the duration has been shifted back form 1200 B.C. to 1500 B.C. or 200 B.C. The end point of the period 1000 B.C. is generally taken for granted.

The archaeological evidence as we presently see presents a new perspective in which the chronological limits are found to some what vary from region to region. Let us elaborate this point with the help of the archaeological findings in one of the most important areas of the Ṛgveda time when the river Sarasvati flowed down only up to the place called Vinasana.[4]

We may now go into the details and juxtapose the textual archaeological pieces of evidence. In the Ṛgvedic age the river Sarasvati was a mightily river flowing from the mountain to the sea[5]. The abundance and tremendous forces of its waters,[6] flowing rapidly[7] moving faultlessly[8] passing unlimited strenth[9] roaring[10] and firerce[11] the river is said to be the most impetuous of all other streams with impetuous and mighty waves[12] she is the under miner of both of her banks, breaks down the precipices of a mountain like a digger in search of lotus stems.[13]

She is said to be the mother of steams[14] flowing along with her seven sister[15] and seven elements[16] perhaps she had several tributaries two of which, Dṛishdvati and Apāyā[17] are clearly named.

The river Sarasvati and its tributaries had brought property to the region in the Ṛgvedic days. It is distinctly referred to at various places in the text. One of the most repeated epithets is given of grain.[18] She is often praised for wealth.[19] She is credited with having increased the welfare of the five peoples.[20] She is called the dearest among the dear ones[21] and is said to have been praised like the God Indra.[22] Her sanctity is undoubtedly rooted in hear ability to foster material prosperity, and while all the rivers are deified, she is concidered to be the purest of rivers.[23] In fact, to the Rgvedic people the river Sarasvati is the best of mother (Ambitama) the best of rivers (Naditama) and the holiest of goddesses (Devitama)[24]

The scholars says that the Ṛgvedaic Savaswati river is not a myth. The river's unguent courses have been found from Ṇaituvar in the Himalays Bondarpunch Har-Ki-Dum glacier (including the earliest tributaries of Sutlaj, Tons, Giri and Yamuna) through Markanda river and Drishdwati River to the Arabian ocean in the Gulf of Khahambat (combay).[25]

Several western and Indian scholars identified the Sarasvati with the Harakhvati or the present day Helmond river of Afghanistan.[26] This

identification is untenable because the Sarasvati the Ṛgveda is described as originating in the mountains and debouching in to the oceon[27] where as the Helmond (Harkhwati) debouches in to a lake. Beside there are no rivers named as Yamuan, Chambal and Sutlej (Shatudri) in Afghanistan.[28]

A number of geographers, geologists and archaeologist have identified this rivers (Ṛgvedic Sarasvati) with the dry bed of large stream known as the Ghaggar in Punjab, Haryana and Rajasthan and as Hakar, Sothra, Sagara, Wahind, Raini, Minram and Nara (Narra) in Pakistan.[29]

After independence a number of archaeologist like A. Ghosh,[30] J.P. Joshi,[31] M.M. Deshpande,[32] R.S. Bisth,[33] G.C. Pande,[34] M.R. Mughal[35] the other scholars of A.S.I have discovered a very large number sites of the Indus civilization in India and Pakistan. Of these about two thirds are located along the banks of the sarasvati, Ghaggar and Hakara rivers.

Dr. S. Kalyanaraman says that "About 5000 years ago a geophysical event occurred. The Chambal (Yamuna) which was a tributary of Ganga captured the Sarasvati River to meet the Ganga river at Prayag near Allahabad hence the physical baits for Sangamam. About 4000 years ago another momentous geophysical event occurred. The Sutlej (Satudri) which was a tributary of the Saraswati River (Meeting of Shatrudi, Punjab) migrated westwards and joined the Indus river.[36]

These two major events in a span of a millennium led to the drying up the mighty Sarasvati river and the migrations of people away from the banks of the Saraswati river eastwards and southwards. away form the banks of the Sarswati river eastwards and southwards.

The mythical Sarasvati river is celebrated in the Rigyeda and also in the Mahabharata describing Balarmas pilgrimage making offerings to on (Pits) on the river form Dwarka to Mathura.

We find that the Mandals which were composed in the later Vedic period. Sindhu river has same place, that was provided to Sarasvati river in the early mandạls of Rgveda. Sindhu river has been addressed as : That floes by assimilating many rivers[37] that it has fast flow and splendid and gorgeous as far as natural resources are concerned. The same splendidness and water resources ness we find in Nandi-Sukta of Rgveda.[38] Where she has been described as the most supreme among other rivers, and supreme as far as water capacity is concerned.[39] She has been described in terms of greatness.[40] She has been addressed as: Shwashwas, surdhas, Hiranyayi, Vajinivati, Urnavati, and Madhurvidha[41] etc. It flows maximums in the mountainous region than field area.[42] And it advances assimilating other rivers in such ways as a king moves

with his soldiers. And other rivers run towards there in the same was a baby yearns for his mother and heifers to the mother cow.[43] The thunderbolt which comes form the flow of the river Sindhu[44] the whole sky echoesa. And it runs in the ways as any ox runs with hoot.[45] In this way, from above descriptions it seems that in the later Mandals the same respect is provided to Sindhu river which had been provided to Sarasvati river in Vanasha Mandal.

So we can accept that the Mandals which are composed in Sarsvati valley there time can be assumed (4000 to 3000) B.C. Because the scholars proved that before 3000 B.C. the river Sarasvati was flowing rapidly, and the mandal which are composed in Sindhu veley there time can be assumed 3000 B.C. to 2000 B.C.

In the conclusion we can accept that the Rgveda must be assigned to the duration roughly form 4500 b.c. 1500 b.c.

References :

1. Nandi, R.N, 1990, 'Archaeology and Rgveda', The Indian Historical rivew, Pg.81-88.
2. Maxmular, F. 1859,' A History of Ancient Samskrit Literature', London, Pg.68-91.
3. Winternitz, 1962, 'History of Indian Literature', Calcutta, Pg.51-86.
4. Lal, B.B. 2001, 'Saraswati flows on'. The Continuity of Indian culture , New Delhi, Pg.35-64.
5. Ṛgveda, 8.95.2
6. Mahoarnah Ṛgveda, (7.95.1) 1.12.1
7. Pra-Sarva , According to sayan Prabhavati Sighram, Ṛgveda, 7.95.1
8. Akavari, Ṛgveda, 5.96.3
9. Yasyah amah ananto, Ṛgveda, 6.61.8
10. Charati rorurat, Ṛgveda, 6.61.13
11. Ghora, Ṛgveda, 6.61.7
12. Apasam-apastama, Ṛgveda, 6.61.13
13. Ṛgveda, 6.61.2/
14. Sindhumata, Ṛgveda, 7.36.6
15. Saptaswasa, Ṛgveda, 6.61.10
16. Saptadhatuh, Ṛgveda, 6.61.12
17. Ṛgveda, 3.23.4
18. Vajinivati, Ṛgveda, 7.96.3
19. Ṛgveda, 2.42.16, 6.61.15
20. Panchajata vardhayanti, Ṛgveda, 6.61.12
21. Priya -Priyasu, Ṛgveda, 6.61.10

22. Ṛgveda, 6.61.5
23. Nandinam Suchiryati, Ṛgveda, 7.95.12
24. Ṛgveda, 2.42.6
25. Kelyanraman, S. 'Saraswati' Baba saheb Apte Smark Samit Banglor, pg. 45-75.
26. Sharm R.S. 'Advent of the Aryans in India', New Delhi Monar Publishers .
27. Giribhyah a Samudrat, Ṛgveda, 7.95.2
28. S.M. Ramaswami, 1999, New Tectonic Controls Migration of Sarasvati River of The Great Indian Desert, Geographical Society Of Baglor, Memayer,Pg.153-162.
29. Vishnu,S.V. 1985, 'Sarasvati Through The Ages Hindu Vishva Prayag, Vol.21 (3) Pg.4-5.
30. B.Ghosh, A.Car, Z. Hussain, 1979, The Last Courses of Sarasvati Rivers in the Great Indian Desert: New Evidence from Land set Imagery, Geographic General Vol. 145 Pg.446-451.
31. J.P.Joshi, R.A.Bisht, 1994, India and the Indus Civilization, National Museum Institute New DelhiPg.75-111.
32. Despande, M.M, 1995, Vedic-Aryans, Non-VedicAryans, and Non-Aryans: Judging the Linguistic Evidence of Veda, George Erdosy (Ed.) Pg. 67-84.
33. Bisht R.S. 'Harappan And The Rgveda': Points Of Converses: G.C. Pande (Ed.) The Don Of Indian Civilization Up To Circa 600 B.C. Pg.339-442, Delhi Centre For Studies And Civilization.
34. Pande, G.C. Vedic Samskriti, 2001, Lok Bharti 15-A, Mahatma Gandhi Marg Allahabad, Pg.33-42.
35. Mughal M.R. (1992a) 'Geographical Extent of the Indus Civilization during the Early Mature and Late Harappan Times': (Ed.), Possehl.123-143.
36. Ṛgveda, 8.26.18
37. Ibid, 10.26.18
38. Ibid, 10.75.9
39. Ibid, 10.75.9
40. Ibid, 10.75.9
41. Ibid, 10.75.9
42. Ibid, 10.75.9
43. Ibid, 10.75.9
44. Ibid, 10.75.4
45. Ibid, 10.75.3

✱